चिन्तामणिः

[पञ्चमो भागः]



ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज

का प्रसाद

टीकाकारः पं. भद्रनारायण पाठकः

महापुरुष का प्रसाद

G.4

॥ ॐ ॥

चिन्तामणिः

(मणिप्रभा टीका)

[पञ्चमो भागः]

संकलनकर्त्ता :-
ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

व्याख्याकारः
पं. भद्रनारायण पाठकः

प्रकाशक —
राकेश कुमार, विनोद कुमार
४९८/२८ साउथ सिविल लाइन,
मुजफ्फरनगर, उ.प्र. - २५१००१
फोन नं. : 09359984709



प्रथम संस्करण – ५०० प्रतियाँ



मूल्य – प्रेम-योग्यता च



मुद्रक—
श्रीजी प्रिन्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी।

अद्वितीय प्रतिभा के धनी हमारे महाराजश्री

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, स्वेष्टदेवस्वरूपिणे। यस्य वाक्सकलं हन्ति, विषं संसारसंज्ञकम्।।

आनादि काल से (पुण्यातिपुण्यमयी सकल ब्रह्माण्ड की संपोषिका) यह भारत भूमि अपनी तप:पूत सन्त सन्तति के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में अपनी गरिमा-महिमा को अक्षुण्ण रखने में समर्थ रही है। अपने सच्चारित्र्य आलोक से जगत् भर के अज्ञान तिमिर को ध्वस्त करने वाले महापुरुषों में अन्यतम हैं पूज्य श्री स्वामी लक्ष्येश्वराश्रमजी महाराज।

पूज्यश्री का पार्दुभाव हरदोई जनपद के मोहंदीपुर नामक गाँव में सम्वत् १९७३ कार्तिक कृष्ण एकादशी को अग्निहोत्र निरत कान्यकुब्जीय विप्र-प्रवर श्री भोलानाथ जी के पुत्र श्री नन्हा जी के घर पूर्वदिशारूपी इन्द्रायणी की पावनतम कोख से हुआ। इन बालदिवाकर का शैशव नाम था लालविहारी। इन भावी महामनीषी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही प्राइमरी पाठशाला में कक्षा तीन तक हुई और गाँव में ही प्राईवेट तौर पर आपने कक्षा पाँच पास किया। लेकिन इसी बीच जब आप की अवस्था छ वर्ष थी पिता श्री का शरीर शान्त हो गया। तदुपरान्त माँ आपको लेकर लखनऊ चली आई। वहीं पर कुछ साधुओं का संग हो गया और साधु भावना से ओत-प्रोत होकर साधु बनने का निश्चय हो गया। उसके बाद लखनऊ में ही योगेश्वर मठ में महन्त जी ने संस्कृत पढ़ने की व्यवस्था कर दी। वहीं से प्रथमा परीक्षा पास किया।

माँ को डर सताने लगी कि कहीं यह बालक साधु न बन जाए। माँ स्वामी जी को गाँव ले आयी, घर कच्चा होने से गिर चुका था, किन्तु उसी में गुजर वसर होने लगी। फिर ननीहाल में सीतापुर पढ़ने के लिये इन्हें भेजा। वहाँ आजीवका के लिये आयुर्वेद का अध्ययन करने लगे। पढ़ ही रहे थे कि पण्डित मधुसुदन दीक्षित ने अपनी रासायन साला में रख लिया। वहाँ कार्य चल ही रहा था कि माँ का शरीर शान्त हो गया। तब गाँव में अपने मामा जी के साथ आकर माँ का शास्त्रोक विधि से अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया। तदुपरान्त माँ के पास जो तीन गायें थी उनको लेकर मामा जी के साथ उनके गाँव आ गये और वहाँ पढ़ने लगे। उसके बाद वैद्य का रजिस्ट्रेशन कराकर वहीं मामा जी के गाँव में वैद्यक कर्म करने लगे। वहाँ से फिर गाँव के कुछ बचपन के मित्र गाँव ले आये। वहाँ भी वही आयुर्वेद का काम करने लगे और गाँव के मित्र मण्डली के संग आनन्द से रहने लगे। वहीं से अपने कुछ मित्रों के साथ धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज के यज्ञ के दर्शनार्थ कानपुर आ गये। वापसी में योगेश्वर मठ वाले गुरु जी के पास लखनऊ रूके। वहाँ गुरु जी ने प्रश्न किया कि तुम्हारा पहले वाला निश्चय साधु होने का है? या गृहस्थी? तो महाराज श्री ने कहा साधु होने का है। उसके बाद योगेश्वर मठ वाले गुरु जी ने कहा तुम्हारा घर में रहना ठीक नहीं, यहाँ आ जाओं। तब स्वामी जी लखनऊ आश्रम पर आ गये और ब्रह्मचारी के वेष में रहने लगे। वहाँ कई वर्ष रहकर सम्वत् २००१ माघ सुदी पंचमी अर्थात् वसंत पंचमी को सन्यास का संस्कार हो गया। संस्कार होने से पहले आप पण्डित लाल जी को बुला कर लाये, उन्होंने कहा सन्यास लेते हो तो महन्त नहीं बनना, बस यही गाँठ जीवन में लग गयी और आज तक उसी प्रण को निभा रहे है।

उसके उपरान्त नैमिषारण्य मेले में जब आप गये तो वहाँ स्वामी श्री शान्तबोध आश्रमजी से भेट हो गयी। स्वामी जी संस्कृत बोलते थे, तो आपने (स्वामी जी ने) निवेदन किया कि, आपके साथ रहना चाहता हूँ और उन्होंने आज्ञा दे दी तथा होली के दिन दण्ड ले लिया। फिर उनके साथ हरद्वार आ गये, वहाँ पर परमगुरु श्री आनन्दआश्रम जी मिले। उन्होंने कहा कि इनकी आयु कम है इसलिए इन्हें व्याकरण पढ़ने के लिए सिरसा भेज दो। स्वामी जी व्याकरण पढ़ने सिरसा चले आये। वहाँ दो साल में सिद्धान्त कौमदी पाठ तैयार किया। फिर एक साल नौहर में न्याय पढ़कर, उसके बाद ऋषिकेश आ गये। ऋषिकेश में स्वामी सोमेश्वर आश्रमजी से छान्दोग्य उपनिषद् पढ़ा और उसके बाद हरिद्वार आ गये। तब तक गुरुजी ने छोटा सा आश्रम बना लिया था। उसके बाद गुरुदेव के साथ उसी आश्रम में रहने लगे। उनके साथ रहकर ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, भागवत, गीता आदि ग्रन्थ श्रवण किया। उसके बाद गुरु जी ने आपको पढ़ने काशी भेज दिया। अध्ययन काल के छः वर्ष बाद गुरु जी का शरीर शान्त हो गया। फिर हरिद्वार आ गये एवं तीर्थयात्रा वगैरह किया। भ्रमण काल में भी आपने द्रव्य (रुपया-पैसा) नहीं छुआ और कोई भी यात्रा विना टिकट नहीं किया।

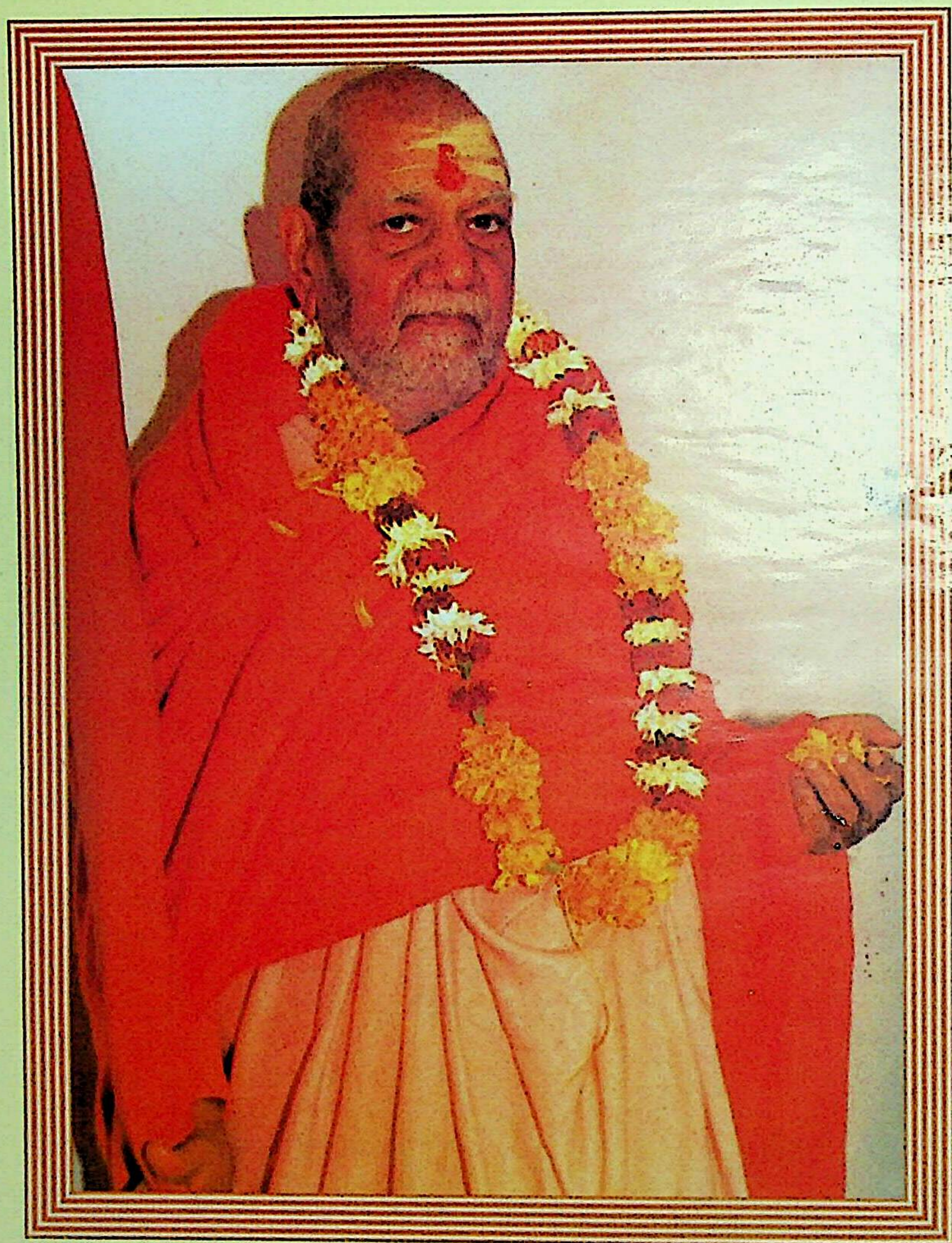
हरिद्वार में जब भूमा निकेतन बन गया तब स्वामी भूमानन्द जी के साथ रहने लगे। स्वामी जी को कुरालसी के लूहसाना में सर्वप्रथम श्री लहना सिंह जी व पूर्ण भगत जी ले कर आये। कुरालसी में श्री विश्वम्भर सहाय वैश्य ने कहा कि—हम छोटा सा मन्दिर बनाना चाहते हैं। महाराज श्री ने मंदिर बनाने की आज्ञा दे दी। मन्दिर बनना शुरू हो गया गाँव वाले उसके बाद मन्दिर बनाने के लिए स्वांग ले आये जो महाराज श्री को अच्छा नहीं लगा। वहाँ से रात को तीन बजे उठकर पैदल मोहम्मदपुर रायसिंह आ गये और वहाँ पर आकर पता लगा गाँव गढ़ी में कोई अच्छे ब्रह्मचारी रहते हैं, बस वहाँ से उन्हें देखने गढ़ी चले गये। वहाँ से घूमने कुटी तक जाया करते थे जो उजड़ चुकी थी। हुसैनपुर में आपको लाला चमनलाल जी व पद्मसेन भगत जी लेकर आये। इस प्रकार आपका उमरपुर, शाहपुर, बुढ़ाना आदि में भ्रमण होने लगा।

अब ये चिन्तामणि भाग-५ का अनुवाद पं. भद्रनारायण पाठक, अस्सी-वाराणसी के द्वारा सम्पन्न हुआ है। आप व्याकरण एवं अद्वैत वेदान्त के आचार्य हैं और बहुत ही सरल रहनी और करनी के व्यक्ति हैं। इस टीका का नाम भी उनके महत्त्व के अनुसार मणिप्रभा रखा गया है।

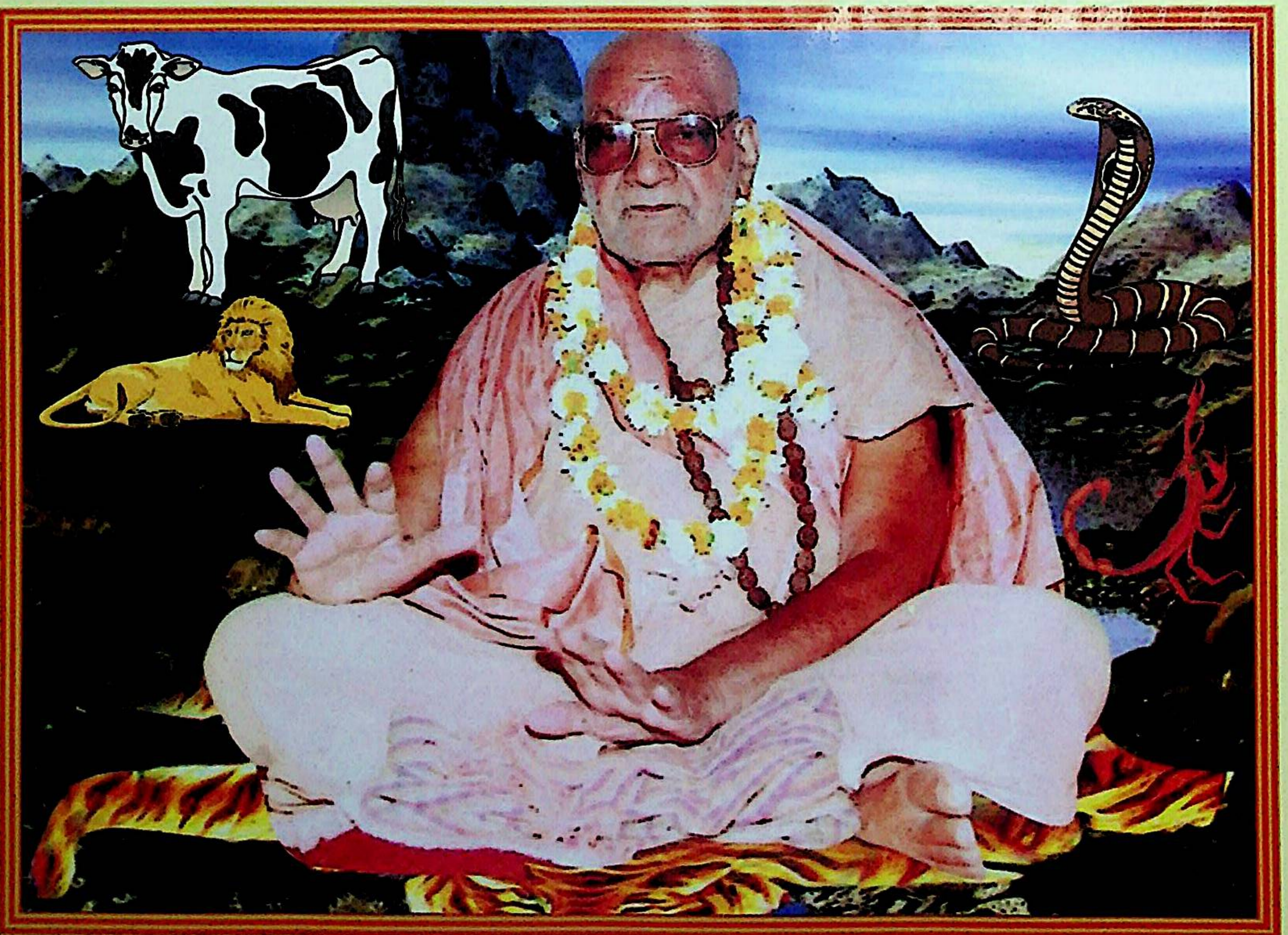
इस पुस्तक के प्रकाशन में भी श्री राधेश्याम खेमका (सम्पादक, कल्याण) एवं डॉ. श्री प्रेमप्रकाश जी लक्कड़ (पूर्वचीफ कमिश्नर, आयकर) सहसम्पादक, (कल्याण) एवं श्रीकृष्णकुमार जी खेमका का विशेष योगदान है। इस कार्य बहुत से अदृश्य हाथ भी लगे हैं। जिनके तपबल से यह पावन कार्य हो रहा है ऐसे महाराज श्री एवं उनके भक्तों एवं शुभचिन्तकों की विशेष कृपा से यह शुभ कार्य सम्पन्न हो रहा है। शेष शुभ!

गुरुकृपाधनसम्पन्नः
पवन कुमारः

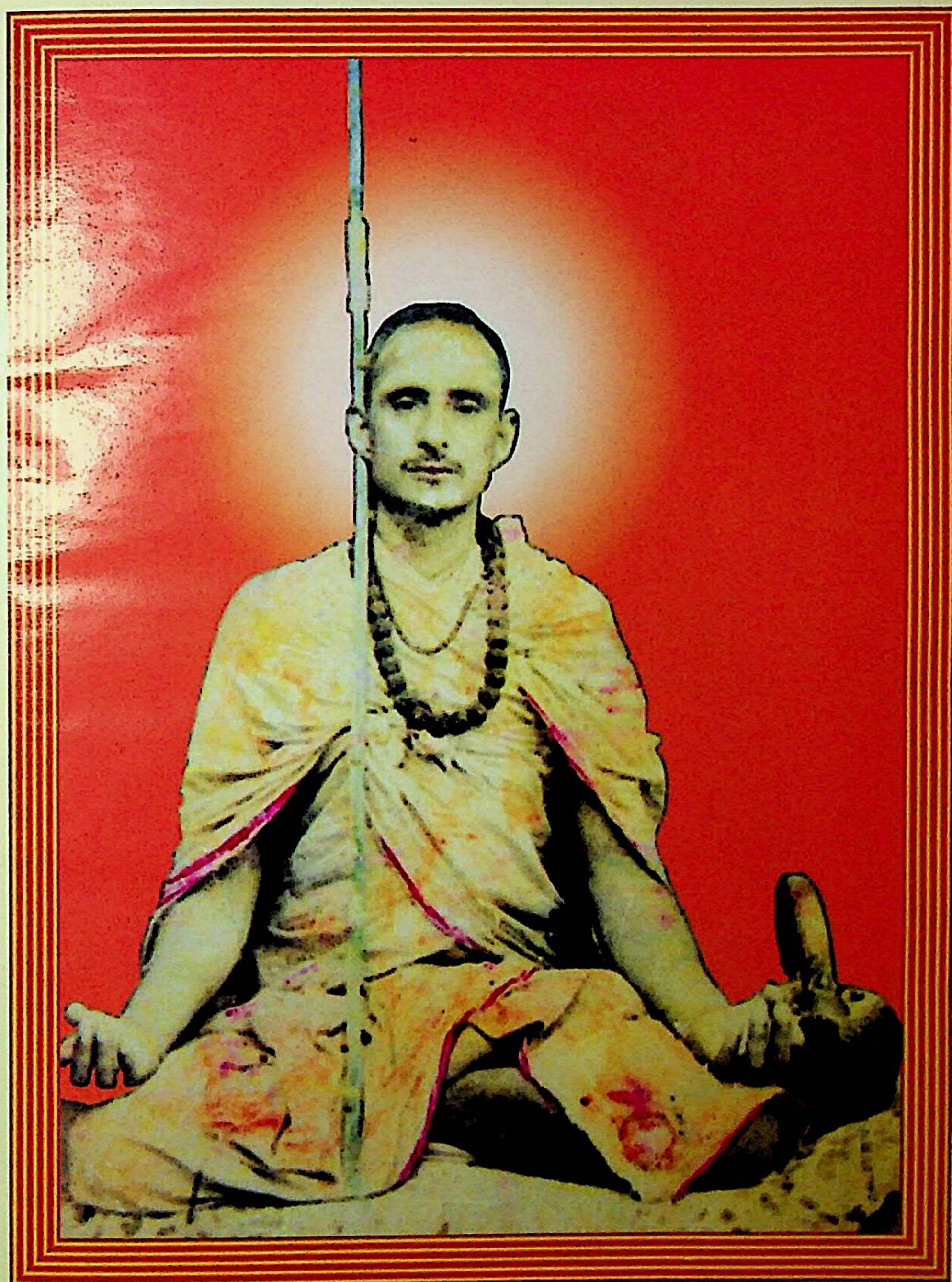
चित्रावली



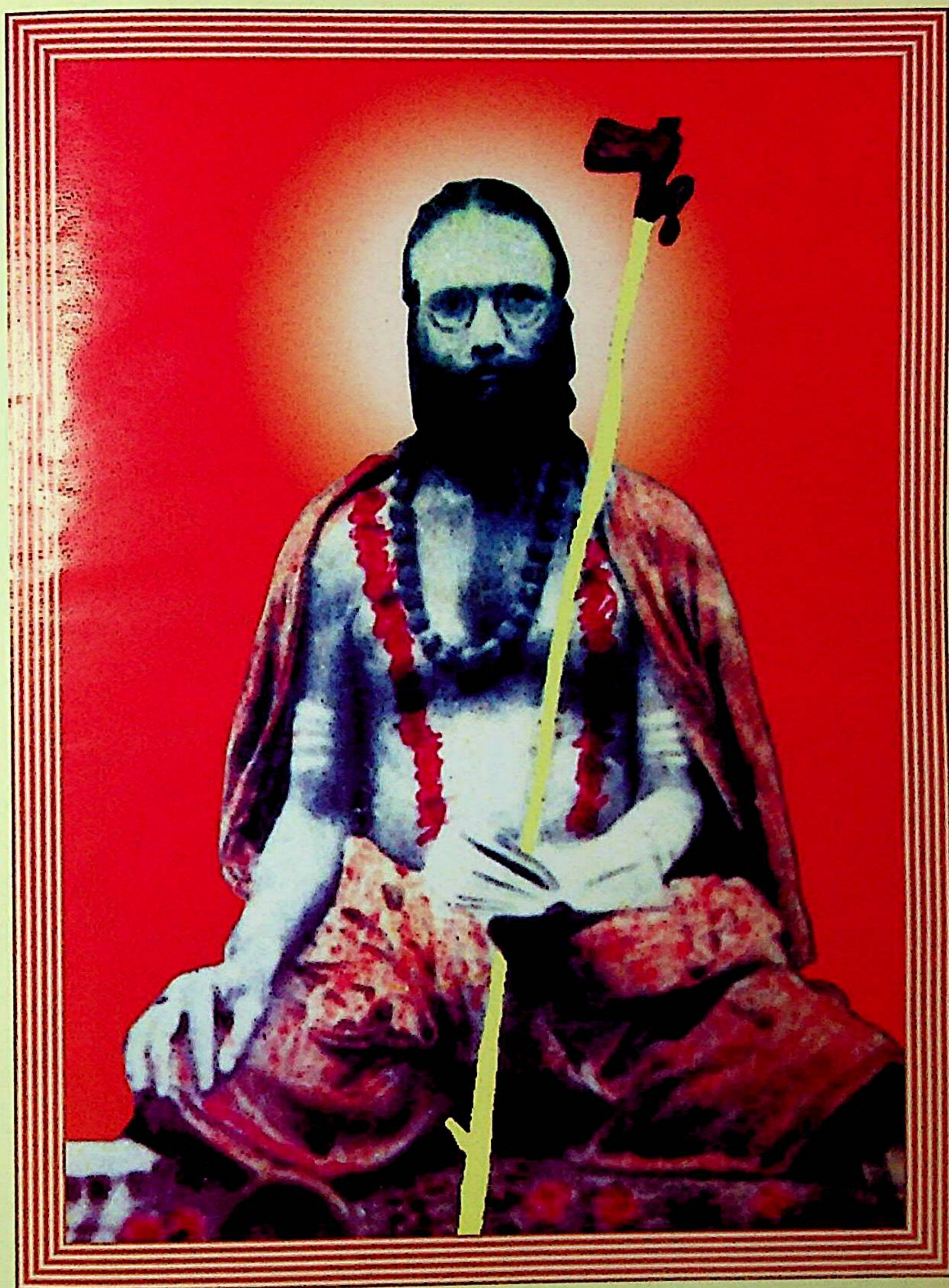
ब्रह्मलीन दण्डी स्वामी श्रीभूमानन्दतीर्थ जी महाराज जिनके साथ
पूज्य सद्गुरुदेव जी ने ३३ वसन्त यापित किया।



अखिल-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परात्पर परब्रह्म सद्गुरुदेव ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज



ब्रह्मलीन परम सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्रीशान्तबोध आश्रमजी महाराज



ब्रह्मलीन परात्पर सद्‌गुरु ब्रह्मर्षि श्रीआनन्द आश्रमजी महाराज

ॐ

पुत्रत्व की सफलता के लिए ही सारस्वत यज्ञ द्वारा मातृ-पितृतर्पणम्

महाराजश्री जी की कृपामृत सु[illegible]
से ही परिपोषित-पल्लवित-पुष्पित-[illegible]
यह वंशवल्लरी—

१. पवन कुमार-कुसुमलता,

२. राजेश कुमार-पूनमरानी,

३. राकेश कुमार-ऊषारानी,

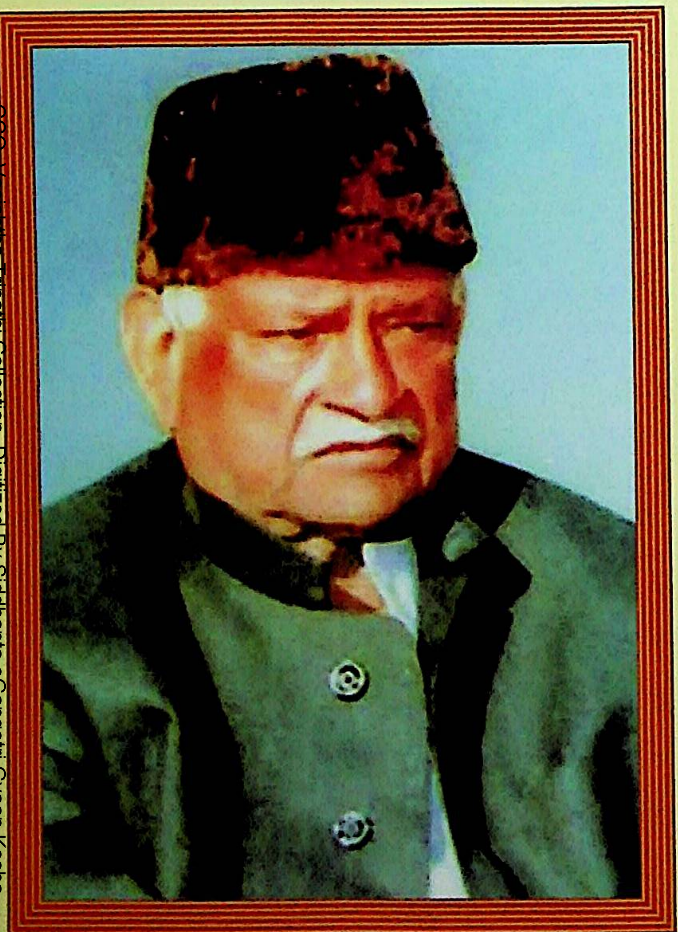
४. प्रदीप कुमार-मंजूरानी,

५. विनोद कुमार-सुधारानी,

६. शिवहरि-संगीतारानी,

७. दिनेश कुमार-कवितारानी

महत्पादरजोभिषिक्त सौभाग्यशाली सुजन



ब्रह्मलीन पिताश्री श्री लाला आनन्द प्रकाश जी



ब्रह्मलीन माताश्री श्रीमति शकुन्तलता देवी

श्रीहरि

परमपूज्य सद्गुरुदेव ही सर्वस्व

परमेश्वर का साक्षात्कार मात्र श्रीगुरु की कृपा से सम्भव होता है। श्री गुरु ज्ञान से प्रकाशित परमब्रह्म की ही परम्परा यह जगत् है। ऐसे गुरु की महत्कृपा प्राप्त करनी चाहिए। जब तक श्री गुरु की कृपा से अन्तर्ज्योति नहीं प्रकाशती, अन्दर का दिव्य ज्ञान नेत्र नहीं खुलता, तब तक हमारी जीवदशा नहीं मिटती। जीवदशा के रहते हुए ब्रह्मदशा की दिव्यानुभूति में रमण नहीं हो सकता। जैसे—स्वप्न (निद्रा) में राजा भिखारी बनता है और समझता है कि मैं भिखारी हूँ, वैसे ही अज्ञान निद्रा में यह आत्मा जीव बनकर उस कंगाल अवस्था को प्राप्त कर अपने को कर्ता, भोक्ता, अल्प और साधारण समझकर दुःख का अनुभव करता रहता है। अतः अन्तः विकास के लिए, दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए, परशिवपद को पाने के लिए, हमें मार्ग दर्शक की यानी पूर्ण सत्य के ज्ञाता एवं ज्ञानशक्ति सम्पन्न सद्गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे प्राण के विना जीना सम्भव नहीं होता उसी तरह गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता, अन्धकार का नाश नहीं होता और तीसरे नेत्र का उदय भी नहीं होता। अतः गुरु की जरूरत मित्र, पुत्र, बन्धु और पत्नी से भी अधिक है। गुरु की जरूरत द्रव्य, कल-कारखानों, कला से अधिक है। गुरु की आवश्यकता आरोग्य और प्राण से भी ज्यादा है। गुरु की महिमा रहस्य तो अति दिव्य है। वे मानव को नया जन्म देते हैं, ज्ञान की प्रतीति कराते हैं और यह सौभाग्य है कि ऐसे ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में हमें श्रीगुरु प्राप्त हैं।

गुरु की व्याख्या यह है कि जो शिष्य की अन्तःशक्ति को जगाकर उसे आत्मानन्द में रमण कराता है, ज्ञान की मस्ती देता है, जीते जी मोक्ष देता है। ऐसे परमगुरु शिव से अभिन्न रूप होते हैं। पूज्यनीय परमगुरु आदि से लेकर अन्त तक शिष्य के देह में ज्ञान ज्योति को प्रज्ज्वलित करते हुए अनुग्रहरूप से कृपा करते है और स्वयं लीलाराम होकर रहते है। गुरु के प्रसाद से नर-नारायण होकर आनन्द में मग्न रहता है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज के रूप में प्राप्त है।

गुरु जी संसार के व्यवहार को भलीभाँति समझते हैं। वे परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण परचित होते हैं। परमार्थ में पूर्णकुशल और व्यवहार में भी कुशल होते हैं। ऐसे सद्गुरु के आश्रय में रहकर शिष्य महान् संकट को भी सहज में पचा जाता है। उनकी महिमा अनोखी हैं और वे कृपा मात्र से ज्ञान दृष्टि करा देते हैं। वे प्रपंच में ही ब्रह्म दिखाते हैं। वे हमेशा अमनस्क स्थिति में रहते है, मानो उनका मन ही चैतन्य हो गया है। तत्त्वतः आप गुरुजी इस जगत में अन्दर और बाहर से पूर्ण व्यापक है। क्योंकि जो महापुरुष सर्वात्मा में लीन रहते हैं, वे सर्वव्यापी होते है। साधारणतया गुरुजनों का परिचय पाना उन्हें समझना महाकठिन हैं। गुरु सत्य है, गुरु पूर्ण है, वह शिष्यों के हित चिन्तक है, वें शिष्य का धन नहीं, वरन शिष्य का अज्ञान, अविद्या लूट लेते है, चिन्ता और पाप को हर लेते

है। गुरु जी की यही महिमा है कि वे कठिन तपस्या के विना ही शिष्य को परमात्मा का दर्शन करा देते है। घर में ही गुफा की शान्ति और एकान्त का अनुभव करा देते हैं और प्रपंच में सी परमार्थ दिखाते है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

श्री गुरु जी एक महान् चमत्कारिक दैवत है। साक्षात्कारी गुरु को साधारण समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। गुरु की महानता तब समझ में आती है, जब अपने पर गुरुदेव की पूर्ण कृपा होती है। गुरु जी अपने शिष्य को एक ऊँचे स्तर पर ले जाकर सत्यस्वरूप बताकर शिव में शिव को मिलाकर शिव ही बना देते हैं। गुरु जी में एक ऐसी अनोखी शक्ति है जिससे वे मानव को पूर्णरूप से बदल देते है। जरा-जन्म से रहित, दुःख रहित नया जीवन प्रदान करते हैं। जैसे दिन के सारे व्यवहार उल्लू अपने से नहीं देख पाता, रात्रि में जगत् को कौवा नहीं देख पाता, वैसे ही गुरु प्रसाद पाये विना मानव संसार को सर्वमय नहीं देख पाता। वह दुःख में या शोक में ही जगत् देखता है। जो पूज्यनीय परमगुरु आत्मरूप से शिष्य में प्रविष्ट रहते है उन गुरु से हम कैसा व्यवहार करें, कैसे प्रेम करें, उनके उपकार को कैसे चुकावें? हे गुरुदेव आप हमारे मलमय अशुचि, विकारी, भौतिक शरीर में भी भेदाभेद नहीं देखते, शुद्धाशुद्ध नहीं देखते, रोगारोग नहीं देखते, आप कृपामय होकरके उसमें प्रवेश करके, हमारे पापों को, हमारी अशुचि को धो डालते हैं। नाड़ी-नाड़ी में रक्त के कण-कण में शक्तिरूप से प्रविष्ट होकर उन्हें क्रियाशील बनाते है। आपका कितना उपकार है, कितना अनुग्रह है, कितनी दया है, ऐसे कौन मित्र हो सकते हैं जो शरीर के अंग-अंग में अच्छे-बुरे स्थानों में व्याप्त होकर दोषों को धोबी के समान साफ करते हैं। ऐसे गुरु समान कौन मित्र, कौन प्रेमी और कौन देवता है। ऐसे गुरु का हम क्या दासत्व कर सकते हैं? जिन गुरुदेव ने हमारे कुल, जाति, कर्माकर्म गुणदोष देखे विना ही मुझमें प्रविष्ट होकर अपना लिया। उन गुरुदेव की महिमा को कौन नकार सकता है। सौभाग्य है हमें ऐसे सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

'ॐ नमः शिवाय' आप का दिया हुआ मन्त्र है, गुरुदेव! यही आपकी पूर्ण स्मृति रूप है। आप ही शिव है।

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो, यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उपयोरन्तरं नास्ति, गुरोरपि शिवस्य च।।

आपके द्वारा दिये हुए इस मन्त्र में ज्ञान की सातों भूमिकायें अर्थात् शुभेच्छा से लेकर तुर्यातीत तक निहित है। आपने मुझे अपना बनाया है इसके लिए हे गुरुदेव! आपका सम्मान कैसे करू? आपकी पूजा कैसे करूँ? इतना अवश्य रटता रहूँगा जय गुरुदेव! जय गुरुदेव! जय गुरुदेव!

ऐसे गुरुदेव को गुरु मानकर उनसे मन्त्र पाना क्या परम सौभाग्य नहीं? उनके लिये शब्द ही चैतन्य मन्त्र है। वे परमगुरु मन्त्र द्वारा, स्पर्श द्वारा या दृष्टि द्वारा शिष्य में प्रवेश

करते है, इसलिए गुरु का साहित्य, गुरु का सम्बन्ध, गुरु का चरणस्पर्श, गुरु के चरण तीर्थपान, गुरुप्रसाद, गुरुसेवा, गुरुगुणगान, शिष्य को पूर्ण पद प्राप्त करा देने में समर्थ है। मेरे गुरुदेव ऐसे ही एक महान् सिद्ध सन्त है। उनकी जिस पर दृष्टि पड़ती वह जाग उठता है। उनकी महिमा महान् है इसलिए कहा है—

दुर्लभो विषयत्यागः, दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था, सद्गुरो करूणां विना।।

यह सहजा अवस्था जो इतनी दुर्लभ है, सद्गुरु की करुणा के विना नहीं मिलती। गुरु तत्त्वतः साक्षात् परब्रह्मस्वरूप हैं। गुरु गीता में जो गुरु का वर्णन है, और ज्ञानेश्वर जी ने जो गुरु महिमा गायी है, उसमें अणुमात्र भी अतिरेक नहीं है। जो गुरुपादोदक का सेवन करता है उसके लिये अमृतत्व एक साधारण वस्तु है। गुरु पूजा ही सार्वभौम महापूजा है, ऐसा गुरु गीता कहता है।

गुरुरेव जगत्सर्वं, ब्रह्माविष्णुशिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति, तस्मात्संपूजयेद् गुरूम्।।

आध्यात्म मार्ग में गुरु कृपा ही केवलं और गुरोराज्ञा ही केवलं है।

पावन सत्य कहता है कि सब विद्याओं में, मोक्ष धर्म में, और स्वस्वरूप विमर्श में गुरु कृपा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—तुम्हारा परमार्थ, तुम्हारा जप, तप, योग, साधन सब के सब तभी फलीभूत होगा जब गुरु कृपा से लब्धिकाल का उदय होगा।

अपने गुरु को जितना महान्, श्रेष्ठ, पूर्ण, सिद्ध, सामर्थ्यवान् समझते है, श्रीगुरु उतनी ही सामर्थ्य लेकर तुम्हारे साथ खड़े रहते हैं। वस्तुतः तुम में प्रत्यक्ष ईश्वर की तरह गुरु के प्रति जितना प्रवल और जितना तीव्र भाव होगा, उतना शीघ्र तुम सब कुछ पा लोगे, उसमें देर नहीं लगेगी। लेकिन फिर भी धैर्य ही कसौटी है। श्रीगुरु के चरणों में भावपूर्ण विश्वास रखने से सहज में विना कष्ट उठाये अपने आप तत्त्व का बोध हो जाता है। इसलिए गुरु को भजो। इतना ही नहीं अपने ध्यान में लाओ, क्योंकि ईश्वर गुरु के पास रहता है। इतना याद रखना कि गुरु चरणों में महान् आदर्शरूप, पूर्ण विश्वास, अनन्यभाव रखना आवश्यक है। गुरु ध्यान सर्वध्यान प्रक्रियाओं का मूल है, गुरु गीता में कहा है—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्र मूलं गुरो वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

मुझे महामन्त्र मिल गया, इसको अत्यन्त प्रेम से अपनाया। तुकाराम महाराज सत्य कहते हैं कि—गुरु में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम पूर्णभाव हो जाने पर परमात्मा सहज मिल जाता है। इसलिए गुरु की पूजा करो, गुरु का महाध्यान करो। सौभाग्य है कि हमें श्रीगुरु के रूप में ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज प्राप्त है।

श्रीगुरुदेव के सन्तोष मात्र से ही एक क्षण में सिद्धि ही नहीं, बल्कि शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है। आप कितना भी जप करें, तप करें, ध्यान करे, यज्ञ करें, गंगा सागर नहायें, लेकिन गुरु की कृपा के विना पूर्णता प्राप्त नहीं होती। गुरु भवसागर में डूबते हुए को उससे निकालकर अपने जैसा निर्द्वन्द्व कर देता है। सब संशय मिटाने के लिये शिष्य के अन्दर प्रवेश करके उसके हृदय के अन्दर पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश को उद्घाटित करके दिव्य आत्मतेज को प्रकट कर देता है। उसको अपने जैसा ही आत्मरति देता है। ऐसे गुरु के प्रति तुमको कैसे चलना चाहिए? यह खुद ही सोचने का विषय है। वस्तुतः श्रीगुरु इस जगत् को शिष्य के लिए ब्रह्ममय बना देने की सामर्थ्य रखता है। मानव इस विस्तृत जगत् क्रीड़ा को देखते हुए चाहे जो करे, परमशान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा। यह समझ में नहीं आता कि कैसे एक नयी बात पैदा हो गयी कि जगत् एक है, जीव दूसरा है, माया तीसरी है? क्योंकि आत्मा के विना अन्य और किसी का ऐसा सामर्थ्य है? जो जगत् रूप हो सके। परम स्वतन्त्रता से, परम स्वच्छन्दता से, प्रकाशमान होने वाले उस आत्मा को कौन मलिन कर सकता है? प्रज्ज्वलित अग्नि के साथ कौन रह सकता है? पावन मात्र जगत् ही आत्मा का विलास है। इस आत्मविलास को समझने के लिए श्रीगुरु के कृपा की आवश्यकता है। गुरु कब सन्तुष्ट होता है? यह मत समझिये कि गुरु के सामने वाह गुरु, वाह गुरु करने से या मुख स्तुति करने से गुरु सन्तुष्ट होगा? ऐसा कदापि नहीं होगा।

गुरु तब सन्तुष्ट होता है जब शिष्य पूर्णत्व प्राप्त करता है। जैसे कोई कलाकार अपने विद्यार्थी की कला पूर्ण होने पर वाह-वाह करके आशीर्वाद देता है। पण्डित का शिष्य पण्डित बन जाने पर आशीर्वाद पाता है। वैसे ही श्रीगुरु से शक्ति प्राप्त किये हुए शिष्य की पूर्णत्व प्राप्ति से गुरु को सन्तोष प्राप्त होता है। वस्त्र दिया, खिलाया, मुख स्तुति की इसमें गुरु को क्या सन्तोष होगा?

गुरु प्रज्ञा प्रसादेन, मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्येत् तत्वं, विरक्तो भव सागरात्।।

श्रीगुरु तभी सन्तुष्ट होते है जब शिष्य उनमें मिलकर गुरु ही बन जाता है। इसलिए पवन कहता है—श्री गुरुं शरणं गच्छामि। सततं गुरुं स्मरामि। मम मति श्रीगुरु, मम गति श्री गुरु, मम रति श्री गुरु इति सत्यं सत्यं वदामि।

ईश्वरो गुरु आत्मेति, मूर्तिभेद विभागतः।
व्योमवत् व्याप्तदेहाय, तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

यस्य देवो पराभक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था, प्रकाशन्ते महात्मनः।।

गुरुदेव में इष्ट के समान जब निष्ठा होती है तभी सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व का हृदय में प्रकाशित होता है, यह गुरुदेव की ही कृपा है।

गुरुकृपाधनसम्पन्नः
पवन कुमारः

भूमिका

या माया शिव-ब्रह्म-विष्णुजनिका ब्रह्माण्डभाण्डाश्रया,
या विद्यावपुधारिणी त्रिजगतामैश्वर्यसंवगशिनी।
या तत्त्वार्थप्रकाशमानतनुभिः विभ्राजमाना शुभा,
या तारा संसारक्लेशशमनी श्री उग्रतारा पाहि माम्।।१।।

या नगरी स्वर्गादपि अधिका स्वमहिम्ना च ज्योतिषा।
सा विमला निजकर्म-धर्मनिरतैर्विद्वद्जनैर्भूषिता।।२।।

धर्ममूँलापश्चिमतटे या मण्डनभारतीजन्मभूः।
विलसन्ति यत्र पुनर्बहुशो न्यायमीमांसका जनाः।।३।।

सा नगरी माहिष्मंतीति नाम्नैव या पुराणविदिता।
तत्राभुतां पुण्यप्रवरौ सगुणौ हि द्विजधर्मान्वितौ।।४।।

इन्द्रमुखीयोगधरौ देवपुरादागतौ च सुन्दरौ।
भक्त्या तौ प्रणमामि माता-पितरौ तु शिवा-शिवरूपिणौ।।५।।

याभ्यां पालिता वयं शिक्षिता ताभ्यामेव ज्ञानभूषिताः।
ताभ्यामेव जनविजनकौ मणिप्रभा नामिका इयम्।।६।।

समर्पिताः तया दृष्यतां अनया टीकया तौ मामकौ।
पूर्वं निजनामलेखकरणं नत्वा लक्ष्येश्वरं गुरुम्।।७।।

आत्मना भद्रनारायश्च विद्वच्चरणचञ्चरीकः।
कृता मणिप्रभाटीका काश्यां देवद्यसी सङ्गमे।।८।।

नत्वा शंकरविश्वेशं, श्रीलक्ष्येश्वररूपिणम्।
तुष्यन्तु तया भगवा, न्मणिप्रभया टीकया।।९।।

इस संसार में जीवात्मा मानव सुख की खोज में सतत् लगा हुआ रहता है परन्तु वे दुःख से निवृत्त नहीं हो पाता। उनके वे निरन्तर प्रयत्न निरर्थक होते देखे जाते हैं। इसका मुख्य कारण मरूमरीचिका में जल के अन्वेषण हेतु किये गये प्रयत्न के समान ही है। अतः प्रथमतः जीवात्मा की भक्ति निवृत्ति हेतु अविद्या के आवरण का ध्वंस परमावश्यक

१. नदी, २. महिषी नाम्नाधुना ख्याता।

है। अविद्या निवृत्ति के अनन्तर जो सत्प्रयत्न होते हैं वही सुख के जनक होते हैं। इसी को उद्देश्य करके इस ग्रन्थ का प्रकाशन आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

यह सौभाग्य का विषय है कि मणिप्रभा व्याख्या के साथ इस चिन्तामणि ग्रन्थ का प्रकाशन होने जा रहा है। इस चिन्तामणि ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय भाग की व्याख्या श्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्य जी ने लिखी थी और इसका तृतीय एवं चतुर्थ भाग की व्याख्या लिखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था तथा पञ्च भाग की व्याख्या जो हमने लिखी है उसके प्रकाशन का सौभाग्य पुनः मुझे होने जा रहा है। इसके प्रकाशन में माता-पिता, ऋषिकल्प, गुरूजनों, सन्त-महात्माओं, साधकों-भक्तों, विद्वद्वरेण्य, तपोनिष्ठ विप्रों और ब्राह्मणों के आशीर्वाद एवं कृपा ही मूल कारण है।

यह प्रसिद्ध जनोक्ति (कहावत) है कि 'गुदड़ी में लाल छिपे होते हैं'। उक्त जनोक्ति को चरितार्थ करने वाली कोई और नहीं परम पूज्य श्री लक्ष्येश्वर महाराज की हस्तपुस्तिका ही है। यह हस्तपुस्तिका (डायरी) उन्होंने अपने अध्ययन-अध्यापन काल में स्मृति की आगामी सातत्य रक्षण-स्मरण के लिये लिख रखे थे जिसे श्री पवन कुमार सिंहल जी ने खोज कर लोकहित में प्रकाशन का संकल्प लेकर महान् सत्कार्य का अनुकरणीय कार्य का श्रीगणेश किया। यह हस्तपुस्तिका भारतीय आर्य संस्कृति में निहित ज्ञान-विज्ञान सतत् प्रवहमान विद्याधारा का संचय है। इसमें उपनिषद्, योग, योगतन्त्र, पुराण, स्मृति, न्याय-मीमांसा-वेदान्तदर्शन, औषधि विज्ञान, गोसूक्त तथा अन्य विभिन्न प्रकार के गूढ़ार्थपरक भजन-कीर्तन से सम्बन्धित छन्दों का समावेश है, जिससे व्यवहार दशा और साधनादशा में स्थित गृहस्थों तथा साधकों के लिये मार्गदर्शक गुरू के अभाव का अनुभव नहीं होने देगा।

यहाँ दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि जिस पुण्यभूमि भारत की आर्य संस्कृति जन्य ज्ञान-विज्ञान के विमल तरूवर ने पल्लवित-पुष्पित-सुगन्धित अपने वास (सुगन्ध) से लोक को परिपुष्ट कर अपने त्रैलोक्य गुरूत्व का स्थान प्राप्त किया था आज उस लोक रक्षक-संवर्धक-उद्धारक विमल तरूवर में फलित परमपथ्य कारक ब्रह्म विज्ञान से हम स्वयं वंचित रहकर उसकी उपेक्षा भी करते आ रहे हैं।

जिस ब्रह्म विद्या को हमारे पूर्वजों ने अपने कठोतम तप के प्रयत्न से साक्षात्कार किया और हजारों वर्ष तक जिससे लोक रक्षण सिद्ध हुआ, उस शिक्षा-दीक्षा पद्धति को त्याग कर एक अन्यशिक्षा को गले लगाया। जिसने इस देश को मात्र भ्रष्टाचार-अनाचार, लूट-खसोट, अपहरण-बेइमानी, चारित्रिक पतन मात्र दिया। इसलिए पुनः मुझे उसी गुरूकुल प्रणाली की शिक्षा-दीक्षा की ओर लौट जाना चाहिये जो पूर्व में श्रेयस्कर हितकर सिद्ध हो चुके हैं।

आज प्रजातान्त्रिक इस देश को पुनः उपनिषद्-योग, भक्तिसाधना द्वारा उपदिष्ट वैराग्य-त्याग-तपस्या-सत्य-अहिंसा की ओर उन्मुख होना परमावश्यक है और इसके लिए इस चिन्तामणि ग्रन्थ की उपादेयता सार्थक और हित सम्मित है।

इस ग्रन्थ में जो आध्यात्मिक तत्त्वों-तथ्यों के जो संचयन हैं वे हमारे आर्ष गुरूकुल परम्परा की ही देन है। आर्ष चिन्तन परम्परा से प्राप्त विधा आत्म संयम-रक्षण में हेतु और वैज्ञानिक-विविध विधि विज्ञान के आयामों से परिचय कराकर उसके आचरण की प्रेरणा भी प्रदान करते हैं। इसी को ध्यान में रखकर इस चिन्तामणि ग्रन्थ की 'मणिप्रभा' टीका का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस चिन्तामणि ग्रन्थ और मणिप्रभा व्याख्या में मानवीय स्वाभाविक त्रुटि सम्भव है। अतः पाठक श्रद्धओं से आग्रह है कि वे यथा स्थान उसे सुधार कर पढ़ और समझ लेंगे तथा उसके सुधार के लिए मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे।

अन्त में मैं श्री गुरूचरण स्वामी श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी को सप्रेम नमन करते हुए श्री पवन कुमार सिंहल जी को शुभाषीर्वाद और धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ। जो इस लोकोपकारी सद्ग्रन्थ के प्रकाशन में तन-मन-धन अर्पण कर लोकहित को महत्त्व प्रदान किया है। मैं श्री चित्तनारायण पाठक, प्रधानाचार्य, श्री निर्मल संस्कृत विद्यालय-लाहोरी टोला, सरस्वती फाटक, वाराणसी, श्री महीनारायण पाठक, विभागाध्यक्ष (व्याकरण) श्री टीकमणि संस्कृत महाविद्यालय, सकरकन्द गली-वाराणसी, को सुभाशीर्वचन और धन्यवाद देता हूँ जो इस महत्कार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान किये हैं। सबसे अन्त में मैं श्रीमती लता देवी (धर्मपत्नी) को विशेष धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने लेखन कार्य काल में आत्मा छाया की भाँति सतत उपस्थित रहकर अपनी कर्त्तव्य सेवा से समर्पित सहयोग प्रदान कर ग्रन्थ सम्पदान को निरन्तर गति दी है। मैं श्रीजी प्रिण्टर्स के मालिक श्री अनूल कुमार नागर जी एवं उनके कर्मचारियों को कैसे भूल सकता हूँ जिनकी कुशल कार्य क्षमता ने इस महत्कार्य को परिणाम तक पहुँचाने में अपनी उचित भूमिका का निर्वाह किये हैं।

पं. भद्रनारायण पाठक
श्री महावीर पाठक संस्कृत महाविद्यालय
असवारी-राजातालाब, वाराणसी।
निवास संकेत : म.नं. बी. १/१४८-६ एम.
रामानुज नगर-अस्सी, वाराणसी।
मो. : ९४१५९९७२८१

विषय-अनुक्रमणिका



ॐ

चिन्तामणिः

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद् भवति भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे।। (अ.व.गी. १८/१)

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्य; मिच्छानिच्छा विवर्जन।। (४/५)

तं मन्महे महेशानं महेशानप्रियार्भकम्।
गणेशानं करिगणे-शानन मनामयम्।।

जिस आनन्द स्वरूप स्वयं प्रकाश परब्रह्म के बोधरूपी सूर्य के उदय होने पर मोहरूपी प्रपञ्चात्मक जगत् जो भ्रम से भास रहा है वह स्वप्न की तरह मिथ्या सिद्ध हो जाता है ऐसे आनन्द घन शान्त तेज:स्वरूप परात्मा को हम प्रणाम करते है।

(अ.व.गी. १८/१)

ब्रह्म से लेकर स्तम्भ पर्यन्तं स्थावर जंगम-उद्भिज स्वेदज चार प्रकार के प्राणियों से पूर्ण जो यह जगत् इच्छा अनिच्छा से जब प्राप्त होता है तथा अपने आकर्षण से आकर्षित कर मोह में डालना चाहता है उस समय विद्वान् ही उसको त्याग करने में समर्थ हो सकता है।

हम उस महान् नियामक गणेश जी की स्तुति करते हैं जो महेशान भगवान् शिव की प्रिया के प्रिय पुत्र हैं तथा जो गणों के ईशान स्वामी हैं और जिनका करिवर जैसा मुख है। जो सदा सभी भव रोगों से मुक्त है अर्थात् जहाँ तापत्रय की लेशतोपि सत्ता नहीं है।

टिप्पणी—यहाँ पर ईशान शब्द का गणेश जी के लिए प्रयोग ऐसे ही हुआ है जैसे—'कल्हारकैरवमुखेष्वपि पंकजेषु' इस पद्य में केवल योग अर्थ में पंकज शब्द का पंकजानि मात्र हुआ है। अर्थात् ईशान शब्द यद्यपि भगवान् शिव में रूढ़ है, किन्तु योग से उसका अर्थ नियामक-शासक आदि भी होता है।

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रा-, महं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तै, र्गुरोर्महावाक्यपदैर्प्रबुद्धः।।
(महावा.र. ७)

महाचिदेकैवेहास्ति, महासत्तेति चोच्यते।
सा ब्रह्म परमात्मेति, निर्विकल्पानिरास्पदा।। (महावा.र. १३)

यत्र ब्रह्मरसास्वादः, स्वयमेवानुभूयते।
वाग्गुम्भे तादृशे ह्यार्षे, साधूनां रमतां मनः।। (पाद्म संहिता)

साधक का कथन है कि—परमपूज्य मेरे गुरु के द्वारा उपदिष्ट (उपदेश किये गये) महावाक्य के पदों 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' आदि से उत्थित बोध से परमात्मास्वरूप भगवान् भास्कर (सूर्य) जो सर्वप्रकाशक हैं उनका अन्तःकरण में स्फुट (व्यक्त) रूप से उदय हो चुका है। अतः अहं और मम अर्थात् अहंता और ममता का मिथ्या व्यावहारिक (सांसारिक) बोध मिट चुका है। मुझे अब समष्टि (सम्पूर्ण) प्रपञ्च में परमात्मा मात्र का ही दर्शन हो रहा है। अतः मैं परमपूज्य गुरु की कृपा से कृत्य-कृत्य हो चुका हूँ। पूर्णकाम हो चुका हूँ। अतः अब कुछ भी मेरे लिये प्राप्तव्य नहीं रह गया है। क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न सांसारिक स्वप्न पूर्णतः मिट चुका और यथार्थ सत्य का दर्शन होने लगा है। (महावा.र. ७)

इस जगत् विषयक प्रसंग में महाचित् अर्थात् परमात्मा ही एक मात्र महासत्ता है और वही परमात्म सत्ता ही परमात्मा तथा निर्विकल्प निरापद स्थान ही मेरा प्राप्तव्य है। सभी उच्चावच जागतिक वस्तु उससे उत्पन्न होकर उसी में स्थित होते हैं और अन्त में लय को प्राप्त करते हैं। उस महाचेतन से ही जगत् उत्पन्न होते हैं इसलिए वह महासत्ता है। उस महासत्तास्वरूप महाचेतन में यह जगत् प्रपञ्च स्थित होते हैं इसलिए वह (महाचेतन) ब्रह्म है और उस महाचेतन ब्रह्म में लय को प्राप्त करते हैं अतः वह (महाचेतन) निर्विकल्पास्पद सत्ता है। श्रुति भी कहती है कि—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै.उ. ३/१) इसका अर्थ है—जिस परमात्मा से ये भूत (प्रपञ्च) उत्पन्न होते हैं उसी से जीते हैं और जिसमें लय को प्राप्त करते हैं वे ब्रह्म जिज्ञास्य (जानने योग्य) हैं। (महावा.र. १३)

जिस साधुजनों के संग से (सत्संग से) ब्रह्म रसास्वादन की स्वयं ही अनुभूति प्राप्त होने लगती है, उस साधु सन्तों के आर्ष वाक्यों में हमारा मन रमण करता रहे। क्योंकि उस साधुओं के सत्संग में परमात्मा का बोध प्राप्त होता है और जीवात्मा संसार का तरण

ॐ महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत्, कुचैलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो व्याघ्रे हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पे यक्षे राक्षसे गन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न विभेति कुतश्चन।।

हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य, खेलतो भोगलीलया।
न हि संसार वाहीकैः, मूढैः सह समानता।। (अ.व.गी. ४/१)

नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्र परोस्म्यहम्।। (म.वा. ९)

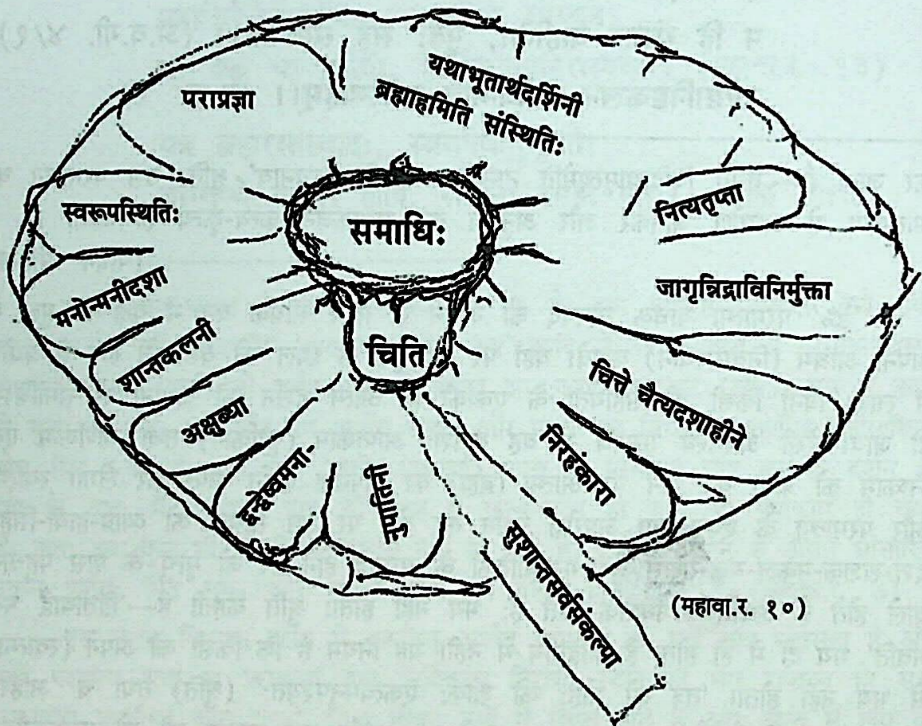
कर जाता है—'तमेव विदित्वामृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' श्रुति। उस परमात्मा को आत्मरूप से अपरोक्ष जानकर और अनुभव कर साधकजन कृत्य-कृत्य हो जाता है। (पादम संहिता)

'ॐ' परमात्मा वाचक महत्पद को जानने के लिये साधक वन में वृक्ष के मूल में अपना आश्रम (निवासस्थान) बनावे। वहाँ पर वह वृक्ष के छाल को वस्त्र के रूप में प्रयोग में लावें। बिना किसी की सहायता के एकांकी हो आत्म दर्शन की कामना से समाधिस्थ हो जाय। ऐसी आत्मस्थ समाधि से वह क्रमशः आप्तकाम (पूर्णकाम) तथा जीर्णकाम एवं निष्काम को प्राप्त कर लेने पर आत्मा (ब्रह्म) का अपरोक्ष दर्शन प्राप्त कर लेगा। स्वात्मा और परमात्मा के ऐक्य रूप अपरोक्ष दर्शन कर लेने पर उस साधक को व्याघ्र-हाथी-सिंह-दंश-शशक-नकुल-यक्ष-राक्षस एवं गन्धर्वादिकों के सम्मुख होने पर जो मृत्यु के पास पहुचाने वाले होते हैं अर्थात् प्राणघातक होते हैं; भय नहीं होता। श्रुति कहती है—'द्वितीयाद्वै भयं भवति' भय दो में ही होता है अद्वितीय में नहीं। यह नियम है कि किसी को अपने (स्वात्मा) से भय नहीं होता। 'तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुपश्यतः' (श्रुति) तथा च 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरस्त्यागः' (पातञ्जल यो.सू.) अर्थात् उस साधक को जो परमात्म्यैक्य दर्शन प्राप्त कर लिया है उसे किसी से भय-शोक-मोह-लोभ आदि प्राप्त नहीं होता है।

उस पूर्वोक्त आत्मज्ञ धीरपुरुषों के लिए यह संसारिक भोग लीला (क्रीड़ा) मात्र होता है। वह भोग में लिप्त नहीं होता अपितु वह बालक के समान उन-उन वस्तुओं (भोग सामग्रियों) से क्रीड़ा (खेल) मात्र करता है। परन्तु जो संसार को ढ़ोने वाले कामी अर्थात् आसक्त जीवात्मा है उन्हें उन सांसारिक भोगों में राग होने के कारण उसकी प्राप्ति पर हर्ष और अप्राप्ति पर क्रोध होता है। इसलिए आत्मज्ञ और संसार में आसक्त प्राणी के व्यवहार प्रयोग में मौलिक रूप से बौद्धिक अन्तर होता है। उसमें समानता कथमपि सम्भव नहीं होता। (अष्टा.गी. ४/१)

इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट त्याग के संकल्प से परे मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही हूँ।

लक्ष्याऽलक्ष्यविहीनोस्मि बोधानन्दस्वरूपवान्।
सर्वत्र पूर्णरूपोहं ज्ञानानन्दघनोऽस्म्यहम्।।



मैं बोध रूपी आनन्द स्वरूप ही हूँ, मैं लक्ष्य तथा अलक्ष्य से शून्य हूँ क्योंकि ये मायिक है। मैं देशकाल वस्तु के परिच्छेद से शून्य हूँ और सर्वदा परिपूर्ण हूँ अर्थात् सजातीय विजातीय स्वगत भेद से शून्य हूँ तथा मैं ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ।

पकृत प्रतीक चक्र के माध्यम से समाधि दशा में साधक की स्थिति विशेष के सम्बन्ध में कहा जा रहां है कि—समाधिस्थ होने का अर्थ है कि वह चिति अर्थात् चेतन आत्मा में स्वरूप से स्थित हो चुका है और वह उस दशा में स्वात्मा को यथाभूतार्थ स्वरूप से दर्शन करता हुआ 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं अपरोक्ष ब्रह्म ही हूँ इस प्रकार के बोध स्थिति को

आयुर्मृगोर्मृगयुना कृतलक्ष्यो हि मृत्युना। (का.ख. २५)

काशी

भूमिष्ठापि न यत्र भूस्त्रिदिवतोप्युच्चैरधः स्थापि या,
या वद्धा भुवि मुक्तिदा स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तवः।
या नित्यं त्रिजगत्पवित्र-तटिनी तीरे सुरैः सेव्यते,
सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादपायाज्जगत्।।
(स्क.पु.का.ख. १/२)

ये वसन्ति सदा काश्या, मापञ्चत्वविनिश्चयाः।
जीवन्मुक्तास्तु ते ज्ञेया, वन्द्याः पूज्यास्त एव हि।।
(स्क.पु.का.ख. १/२)

प्राप्त कर नित्यतृप्त-जागरण-निद्रा आदि शारीरिक धर्म से मुक्त हो जाता है। वह चित्त (अन्तःकरण) में निरन्तर उद्भूत अहंत्वेन जीवात्मभाव से छुटकारा पा जाता है तथा वह अहंकार रहित हो जाता है। प्रत्येक द्वन्द्व (सुख-दुःख) के साथ होने वाले पूर्व के हर्ष-विषाद से सर्वथा मुक्त हो जाता है। वह अक्षुब्ध, शान्त कलनी, मनोन्मनी, स्वरूपस्थिति और पराप्रज्ञा सम्पन्न दशा को प्राप्त कर लेता है। (महा.वा.र. १०)

आयुरूपी मृग को मृत्यु रूपी शिकारी ने लक्ष्य बना रखा है। (का.ख. २५)

जो काशी भूमि स्थित (स्थिति को प्राप्त) होने पर भी भूमि नहीं है अर्थात् सर्वथा भूमि के धर्मों से रहित है। वह स्वर्ग से भी उच्च है यद्यपि वह अधः नीचे स्थापिता है जो स्वर्ग को अविक्रान्त करने वाली है तथा वह परकोटा से तथा गंगा जी से भी घिरी हुयी है एवं अपने निश्चित स्थान में बसी हुयी है इसलिए वद्ध है। किन्तु वद्ध होने पर भी मुक्तिप्रदा है तथा जिसमें मृत जन्तु अमृत हो जाते हैं।

तीनों लोकों को पवित्र करने वाली भगवती भागीरथी के तट पर स्थित नित्य सुरगणों से सुशोभित ऐसी काशी जो भगवान् शंकर की राजधानी है वह इस जगत् की सम्पूर्ण अनिष्टों से रक्षा करें। (स्क.पु.का.ख. १/२)

जो मनुष्य मरण पर्यन्त का निश्चय करके इस काशी में बसते है। उन्हें जीवन मुक्त समझना चाहिए वे वन्दनीय तथा पूज्य ही है। (स्क.पु.का.ख. १/२)

न स्वः पुरी सात्वनया पुरासमं समञ्जसापि प्रतिसाम्यमावहेत्।
प्रबन्धभेदाद् व्यतिरिक्त पुस्तकः प्रतिर्यथा सल्लिपि भेदभंगतः।।
स्वःपुरी ब्रह्मणा प्रतिदिनं रच्यते।। (स्क.का.ख. ७/७५)
काशीपुरी-सकृदेव स्वयमीश्वरेण। (प्रवन्धो-रचना)

जिस लिङ्ग को ब्रह्मा ने नीचे की ओर और विष्णु ने ऊपर की ओर देखा था वही लिङ्ग लोक तथा वेद में काशी कहा गया। (पद्म पु.)

जिस काशी में साक्षात् त्रिपुरारि महादेव निवास करते हैं और जिसके दर्शन से इस जगत् में मनुष्यों का पुनर्जन्म नहीं होता वही काशी विमुक्त नामक महाक्षेत्र है, वह भगवान् शिव के त्रिशूल पर बसी है जिसे प्रलय में भी भगवान् शिव ने नहीं छोड़ा, 'न मुच्यते भगवता पुलयेऽपि इति अविमुक्तं' इसलिये यह अविमुक्त महाक्षेत्र है, यह पाँचकोश में बसी है, इसमें सर्वहितैषी ज्योतिर्लिङ्ग जो क्षेत्र है वह श्री विश्वेश्वर स्वरूप है। श्री शैल पर्वत चौरासी योजन विस्तृत है और वह सर्वलिङ्गमय अर्थात् सर्वात्ममय (समष्टि प्रकाशपुञ्जभूत) है। (का.ख. ६/१२)

स्वर्गपुरी इस काशीपुरी से किसी प्रकार भी समान नहीं है, क्योंकि स्वर्गपुरी का निर्माण ब्रह्मा जी प्रत्येक दिन में करते है और पुनः दैनन्दिन प्रलय हो जाता है। किन्तु काशीपुरी का निर्माण एक बार ही भगवान् शिव के द्वारा हुआ है। यह प्रलय में भी नित्य रूप से स्थित रहती है।

सा च क्षुद्ररत्ननिचयखचिता-अल्पोत्सेधा।

इयं च-अनर्घ्यरत्ननिचयनिर्मिता गगनीसेधा च।।

अथवा-प्रबन्धयोः भेदात्–स्वःपुर्य्यां स्थितानां प्रकृष्टो बन्धः। काश्यां स्थितानां प्रगतो बन्धः। अत्र बन्धः-बन्धनम्।

अथवा-स्वर्गे बन्धवाहुल्यात्प्रबन्धः। काश्यां च तस्य भेदः–विदारणं भवति।

यथा ब्रह्मव्यतिरिक्त पुस्तकं प्रति सद्ब्रह्मप्रतिपादकमात्मशास्त्रं भेदभंगतः साम्यं नावहेत्।।

न वर्ण्यते कैः किल काशिकेयं,
जन्तोः स्थितस्यात्र यतोऽन्तकाले।
पचेलिमैः प्राकृतपुण्यभारैः,
ओंकारमोंकारपतीन्दुमौलिः।। (स्क. का.ख.)

जरायुजोऽण्डजोभिज्जाः स्वेदजाश्चात्रवासिनः।
न समा मोक्षभाजस्ते, त्रिदशैर्मुक्ति दुर्दपैः।। (काशी.ख. ७/८१)

स्वर्गपुरी क्षूद्र रत्न के समुदाय से जड़ी हुयी है और स्वल्प ऊँचाई की ही है किन्तु काशीपुरी बहुमूल्य रत्नों के समूह से रचिता तथा गगन समान ऊँची है। अथवा प्रबन्ध का अर्थ भेद है। काशी में रहने वाले बन्ध (भेद रहित हो जाते हैं अतः काशी प्रगतबन्ध क्षेत्र है।

स्वर्गपुरी में स्थित प्राणियों को प्रकृष्ट बन्धन रहता है अर्थात् शुभकर्म के बन्धन में बँधे रहते है। किन्तु काशी में बन्धन नष्ट होता है, अर्थात् समाप्त हो जाता है। अथवा बन्ध का अर्थ बन्धन है। स्वर्ग में बन्धवाहुल्यात्प्रबन्ध है, प्रकृष्ट बन्ध है किन्तु काशी में उंसका भेद (अनेक भाव का) विदारण हो जाता है।

उदाहरण जैसे—सद्ब्रह्मप्रतिपादकशास्त्र नानात्त्वरूपी भेद को भंग करने से अन्य शास्त्रों से (पुस्तकों) से विलक्षण है।

यह काशी किनके द्वारा वर्णना योग्य नहीं है अर्थात् सभी करते हैं। जिसमें स्थित जन्तुओं के शुभाशुभ कर्मों के परिपाक होने पर अन्त समय में चन्द्रमौलि भगवान् शिव स्वयं तारक मन्त्र ॐ ब्रह्म मन्त्र का उपदेश देकर उन्हें मुक्त कर देते हैं। (स्क.पु.का.ख.)

काशीवासी का जरायुज-मनुष्य पश्वादि, अण्डज-पक्षि सर्पादि, उद्भिज=वृक्ष, कक्षादिः= स्वेदज यूकालिक्षादि चारों प्रकार के प्राणी हैं तथा मुक्ति से वञ्चित तीन दशा=अवस्था वाले देवतागण बराबरी नहीं कर सकते है।

१०. नैर्ऋती
९. आग्नेयी
८. ऐन्द्रीपुरी
७. सौरलोकः
६. अप्सरसां पुरी
५. यमस्य संयमनीपुरी
४. विद्याधरलोकः
३. गन्धर्वलोकः
२. गुह्यकलोकः
१. पिशाचलोकः

११. वारुणी
१२. वायवी-गन्धवती
१३. कौवेरी-अलकापुरी
१४. ऐशानी
१५. चन्द्रलोकः
१५. नक्षत्रलोकः
१६. बुधलोकः
१७. शुक्रलोकः
१८. मंगलस्य लोकः
१८. वृहस्पतिलोकः
१९. शनिलोकः
२०. मरीच्यादिसप्तर्षिलोकः
२१. ध्रुवलोकः-ज्योतिश्चक्रस्याधारः।
सूर्याधारः ध्रुवैधिमोः।। (का.ख. २१)
२२. महर्लोकः, कल्पायुषो वसन्त्यत्र।
२३. जनलोकः-मानसा ब्रह्मणः सुताः।
२४. तपोलोकः-वैराजा देवाः।
२५. सत्यलोकः-ब्रह्मलोकः।

---

१. पिशाचादि लोक, २. यक्षादि लोक, ३. स्वर्ग के गायकों के लोक, ४. देवताविशेषो के विद्याधर लोक, ५. यमराज की यातना पुरी, ६. स्वर्ग की सुन्दरियों के अप्सरा लोक, ७. सूर्यलोक, ८. इन्द्र की पुरी, ९. अग्नि का पुर, १०. निर्ऋत देवताओं का पुर, ११. वरुण सम्बन्धि पुरी, १२. वायु लोक, १३. कुबेरपुरी, १४. ईशान देवता की पुरी, १५. चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, १६. बुधलोक, १७. शुक्रलोक, १८. मंगललोक, बृहस्पतिलोक, १९. शनिलोक, २०. सप्तर्षिलोक, २१. ज्योतिश्चक्र (नक्षत्र मण्डल) का आधार तथा सूर्य का आधार ध्रुवलोक, २२. एक कल्प आयु वालों के वासस्थल महर्लोक, २३. ब्रह्मा के मानस पुत्रों के निवासस्थल जनलोक, २४. वैराज देवताओं के निवास तपोलोक और सत्यलोक जिसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं। ब्रह्माण्ड सम्पादन में जो सामग्रियाँ उन-उन स्थानों पर व्यवस्थित हैं वे सभी काशी में भी स्थित हैं।

ब्रह्मोवाच—

सत्त्वरं गत्त्वरं सर्वं यच्चेतद्भवतेक्षितम्।
दैनदिनप्रलयतः सृजामि च पुनः पुनः।।
तत्रापि कृतपापानां नियन्ता कालभैरवः।
(काश्याम्) दारुणा रुद्रयातनाः।
अहोरुद्रपिशाचत्वं नरकेभ्योपि दुःसहम्।।
परापवादशीलेन परदाराभिलाषिणा।। (का.ख. २२)
अभिलष्यन्ति ये नित्यं धनं चात्र प्रतिग्रहैः।
परस्वं कपटै र्वापि काशी सेव्या न तै र्नरैः।।
को राज्यश्रियमाप्य नान्ध्यपदवीं यातोपि सल्लोचनः। (का.ख. १५)

ब्रह्मा ने कहा—अत्यन्त गतिशील जो यह लोक विस्तार आपने देखा इन सबको दैनिक प्रलय क्रम से मैं बार-बार बनाता हूँ।

काशी में किये हुए पापों की यातना कालभैरव देते हैं।

भगवान् रूद्र की यातना बहुत भयंकर है। दारुण है। कहा भी है कि—'अहो रूद्रपिशाचत्त्वं नरकेभ्योऽपि दुःसहम्' देखो यह रूद्र की यातना बड़े-बड़े नरकों से भी कठिन है, इसे सहना कठिन है। किसके लिए इसके उत्तर में कहते है—जो दूसरों की निन्दरत है तथा परस्त्री सेवनरत है उनके लिए यह यातना निर्धारित है। (का.ख. २२)

जो दान लेकर धन चाहते हैं तथा छल कपट से परधन को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं उन्हें काशी का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि पापियों को यहाँ दारुण दण्ड मिलता है। इससे तो वे दूर रहकर अन्य नरकों के दण्ड को भोगे इसमें सुविधा है।

कौन ऐसा व्यक्ति है जो राज्यश्री (राज्य सम्पदा) को प्राप्त कर अन्ध्यपदवी (मदान्धता) को प्राप्त नहीं हो जाता अर्थात् सब होता है। तुलसीदास ने भी कहा है—

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर, को जग लागि न जाहि।।

श्रीमद वक्र किसे नहीं किया? प्रभुता पाकर बहरा कौन नहीं हुआ? सुन्दरी मृगलोचनी के तीक्ष्ण नयन बाण से कौन बच पाया? कोई नहीं।जो लोग बचे हैं वे परमात्म परायण-योगी-सन्त-महात्मा-भक्त-ज्ञानी विरले ही रहे हैं। ऐसे साधक सन्त जन के प्रताप से ही पृथ्वी टिकी होती है। (का.ख. १५)

संजीवनीविद्यां जानन्ति–मृत्युञ्जयः, स्कन्दः, पार्वती, गणेशः, शुक्रः।
(का.ख. १६)

सप्तर्षयः	–	प्रजास्त्रष्टुं विनियुक्ताः
ऋषि	–	पत्न्याः
मरीचि	–	सम्भूतिः
अत्रि	–	अनसूया
पुलह	–	क्षमा
पुलस्त्यः	–	प्रीतिः
क्रतुः	–	सन्नतिः
अङ्गिराः	–	स्मृतिः
वशिष्ठ	–	ऊर्जा

सञ्जीवनी विद्या के मर्मज्ञ (ज्ञाता) मृत्युञ्जय भगवान् श्री शिव, भगवान् स्कन्द (कार्तिकेय), जगन्माता पार्वती, विघ्नेश श्री गणेश जी एवं भृगु पुत्र असुरगणों के आचार्य (गुरु) शुक्र जी हैं।

ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में मैथुनी सृष्टि के द्वारा प्रजाओं के सृजन करने के लिए जिन सात ऋषियों तथा उनकी पत्नियों को सृजित किये थे वे सप्तर्षि कहलाये। वे ऋषि और उन-उन की पत्नियाँ निम्नलिखित हैं—ऋषि मरीचि की पत्नी सम्भूति, अत्रि की अनसूया, पुलह की क्षमा, पुलस्त्य की प्रीति, क्रतु की सन्नति, अङ्गिरा की स्मृति और वसिष्ठ की ऊर्जा नामक पत्नी हुई। यहाँ आध्यात्मिक सूक्ष्म पक्ष भी चिन्तन करना चाहिये कि जिन मानव की शक्ति जिस दिशा में परिपक्व है अर्थात् जिस गुण में परिपक्वता है वे उस ऋषि के गुणों को धारण करने वाले हैं, यथा—अगर किसी व्यक्ति की क्षमा गुणवृत्ति परिपक्व है वह पुलह ऋषिकल्प हैं अगर किसी की प्रीति नामक गुणवृत्ति परिपक्व है तो वह पुलस्त्य ऋषिकल्प व्यक्ति है। पाँच भौतिक सृष्टि और गुणात्मक सृष्टि को अलग-अलग चिन्तन करने पर यह तात्त्विक स्थिति बन सकती है। ऐसा चिन्तन तत्त्व चिन्तक लोग करें और तात्त्विक तथ्य से अवगत होवें तो उत्तम होगा। (का.ख. १६)







उपर्युक्त रीति से नक्षत्रों के स्थान तथा विभिन्न लोकों के स्थान और दूरी को दर्शाया गया है। यह पौराणिक रीति अत्यन्त प्रामाणिक है। हमारे सूक्ष्म द्रष्टा सिद्ध ऋषियों ने अपने तपोबल से प्राप्त सामर्थ्यों से चौदहों भुवनों में स्थित वस्तुओं को करामलकवत् (हथेली पर रखे हुए आँवला के फल के समान) देखा-समझा और उनका स्थूल एवं सूक्ष्म अनुभव किया है। भगवान् पतञ्जल ने अपने पातञ्जल योग सूत्र में कहा है कि—

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥३६॥

अर्थात् साधक के सत्यप्रतिष्ठित हो जाने पर साधक वाक्य क्रिया फल के आश्रयत्व गुणों से सम्पन्न हो जाता है। वे जो भी कहते हैं उसके अनुकूल सारी प्रकृतियाँ काम करती

प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुचम्
धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुवा।
सुषुम्ना वर्त्मना नित्यं अक्षवृत्तीर्जुहोम्यम्।।

हैं। इस तरह सारी प्रकृति पर उनके अधिकार प्राप्त होते हैं। सत्य की प्रतिष्ठा में परम शक्ति सन्निहित है इसलिये आश्चर्य-अविश्वास का यहाँ स्थान नहीं है। इसी तरह—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सिन्निधौ वैरस्त्यागः।।३५।।

साधक के अहिंसा (अहिंसावृत्ति परिपक्व होने पर) में प्रतिष्ठित हो जाने पर उन साधकों के सानिध्य में रहने वाले प्राणी भी परस्पर अपने में वैर भाव रहित होते हैं। जैसे व्याघ्र और मृग, सर्प और मूषिका, नेवला और साँप, कुत्ता और बिल्ली—ये परस्पर वैर भाव रखने वाले प्राणी अपने स्वाभाविक वैरभाव को भूलकर एक साथ प्रेमभाव का प्रदर्शन करते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं। यह अहिंसा में प्रतिष्ठा का प्रभाव है और यहाँ भी अविश्वास और आश्चर्य का स्थान नहीं है। क्योंकि—

दाने तपसि शौर्ये वा, विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो नहि कर्त्तव्यो, बहुरत्ना वसुन्धरा।। (चाणक्यनीति ४/७)

दान में, तपस्या में, शौर्य में, विज्ञान में, विनय में और नीति में विस्मय नहीं करना चाहिये, क्योंकि पृथ्वी बहुरत्ना है। इस पृथ्वी पर सब कुछ सम्भव है।

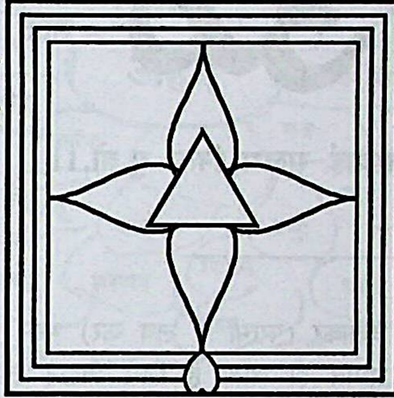
ऊपर कहा जा रहा था कि हमारे सिद्ध साधक ऋषियों ने जिस प्रकार लोकों-नक्षत्रों को देखा और उसे समझ कर अनुभूत किया उसे यहाँ कहा जा रहा है—भू लोक जो समुद्रों-द्वीपों-वनों और पर्वतों से घिरी है वह पाद गम्य है अर्थात् पचीस हजार लाख योजन है अथवा पाद अर्थात् पैर गम्य है। भूलोक से सत्यलोक आठ कोटि योजन है। तपोलोक चार कोटि योजन है। जनलोक दो कोटि, महर्लोक एक कोटि योजन है। वैकुण्ठधाम सोलह कोटि योजन है और उससे सोलह गुणे अधिक दूरी पर कैलाश है जहाँ पर सम्पूर्ण लोकों के शासक विश्वेश भगवान् शिव विराजते हैं। भूमि से दस लाख योजन पर भानु (सूर्य), उससे एक लाख पर चन्द्रमा, उससे एक लाख पर नक्षत्र मण्डल, उससे दो लाख योजन पर बुध, बुध से दो लाख शुक्र, शुक्र से दो लाख भौम, भौम से बीस लाख पर गुरु, गुरु से दो लाख शनि, शनि से एक लाख योजन पर ध्रुवलोक है। आदित्य लोक से ध्रुव लोक तक स्वर्ग लोक है (स्क.पु.का.ख. २३)

प्रकाश तथा आकाश रूपी हाथों से उन्मनी दशारूपी स्रुच का आश्रय लेकर धर्म अधर्म रूपी हवि से प्रदीप्त आत्मा रूपी अग्नि में मन रूपी स्रुव के द्वारा सुषुम्ना मार्ग से मैं नित्य अक्षवृत्ति अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार को हवन करता हूँ।

चिच्छक्तिः कुण्डलिनी वह्निः

ॐ
अहन्तां
जुहोमि स्वाहा
आत्मा

ॐ कामं जुहोमि स्वाहा
ॐ क्रोधं जुहोमि स्वाहा
ॐ लोभं जुहोमि स्वाहा
ॐ मदं जुहोमि स्वाहा



ॐ असत्यं जुहोमि स्वाहा
ॐ पैशून्यं जुहोमि स्वाहा
ॐ मोहं जुहोमि स्वाहा
ॐ मात्सर्यं जुहोमि स्वाहा

अन्तरात्मा

ज्ञानात्मा

सुषुम्ना परामात्मा मनः स्रुवा
स्रुक् (श्रीविद्यार्णवः २०)

वे इन्द्रियों के कौन-कौन से व्यापार है? तो उसे कहते हैं—मैं काम का हवन करता हूँ, मैं क्रोध का हवन करता हूँ। इसी तरह मद-असत्य-पैशुन्य-मोह-मात्सर्यादि का हवन करता हूँ। यहाँ ज्ञान यज्ञ को सफल करने के लिए रूपक दिये गये हैं। रूपक इसलिए दिये जाते हैं ताकि उसे समझने और क्रियान्वित करने में सुलभता हो। जब साधक को आत्म विज्ञान का उदय हो जाता है तो उत्थित परमात्म विज्ञान की अग्नि में सम्पूर्ण अज्ञान जन्य कामनाओं को वह भस्म कर देता है।

> यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
> ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। (गी. ४/३७)
>
> यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्पवर्जिताः।
> ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। (गी. ४/१९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्ज्वलित समृद्ध अग्नि में सारे ईंधन जल कर भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान (परमात्म विषयक) रूपी अग्नि सम्पूर्ण

यदक्षरं ब्रह्मविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। (श्रीमद्भग. ८)

सर्वद्वाराणि संयम्य

अनन्यचेताः



मनोहृदि निरुध्य च।

एकाक्षरं ब्रह्म

सततं यो मां स्मृरति

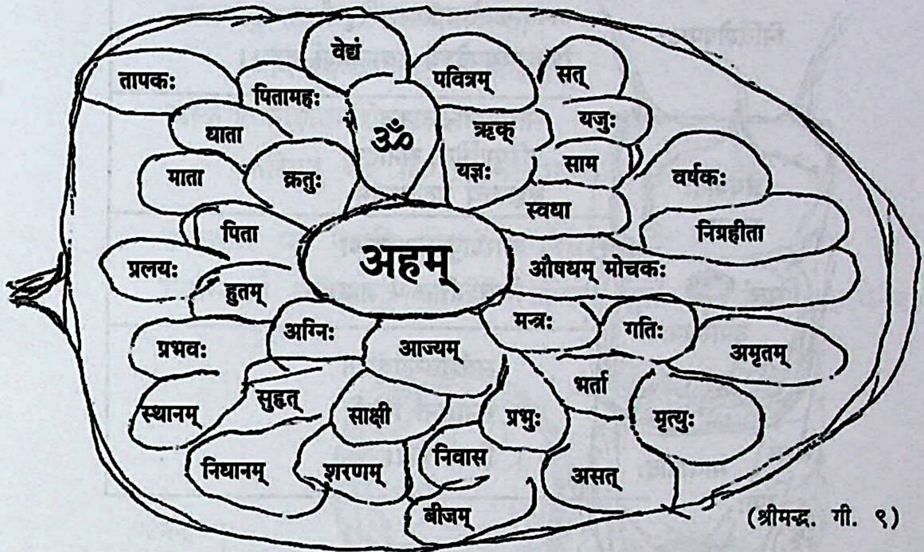
तस्याहं सुलभ नित्य यु.यो.।।

कर्त्तत्व-भोक्तृत्वरूपी कर्म को जलाकर (परत्मा में लय कर) भस्म कर देता है। इस प्रकार वह साधक परमात्म विज्ञान सम्पन्न हो जाता है जिसे विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं। (गी. ४/३७)

वे पण्डित कौन हैं? जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म हो और वह कर्म कामना रहित हो तथा संकल्प रहित हो एवं जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हों ऐसे महापुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं। (गी. ४/१९)

अतः मानव जन्म का परम लक्ष्य परमात्म बोध प्राप्त करना ही है, जिसे परमपुरुषार्थ मोक्ष शब्द से कहा जाता है। जो मानव उस परमात्म विज्ञान (मोक्ष) को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता वह हाथ में आये हुए मणि (मानव योनि) को त्याग कर काँच (मिथ्या संसार) को ही ग्रहण करता है। वह दुर्भाग्यशाली अज्ञानी (मूर्ख) है। (श्रीविद्यार्णवः २०)

उपर्युक्त प्रसंग का ही अनुसरण कर यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन वेदविद् (श्रुति तात्पर्य को जानने वाले) जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपद को अविनाशी कहते हैं उस अविनाशी परमपद में आसक्ति रहित यत्नशील यति (संन्यासी) जन प्रवेश करते हैं। कैसे प्रवेश करते हैं? सभी इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर और मन को हृदय देश में स्थिर करके तथा उस जीते (वशीकृत) हुए मन के द्वारा प्राणों को मस्तक में स्थापित करके एवं अनन्य भाव से योगस्थ होकर 'ॐ' इस एक अक्षर रूप मुझ परमात्मा ब्रह्म को स्मरण करते हुए शरीर को त्यागता है। वही पण्डित परम पद मोक्ष पद में प्रविष्ट (प्राप्त) करता है। (श्रीमद्भग. ८)



(श्रीमद्भ. गी. ९)

उपर्युक्त प्रतीक चित्राङ्कन के माध्यम से श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय नौ के 'राजाविद्याराजगुह्ययोग' नामक ब्रह्मविद्या को कहा जा रहा है। इस विद्या के प्रवक्ता भगवान् श्रीकृष्ण श्री अर्जुन से कहते हैं कि—हे अर्जुन! कुछ अन्य ज्ञानीजन मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्ञान यज्ञ के द्वारा अभिन्नभावापन्न होकर उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहु प्रकार स्थित मेरे विराट् स्वरूप परमेश्वर की पृथक् भाव से उपासना करते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये, यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। (गी. ९/१५)

जो लोग मुझ परमात्मा से अभिन्न भावापन्न हो उपासना करते हैं उनका आत्म बोध मुझ परमेश्वर से पृथक् नहीं होता।वे अपने आत्मा में वेद्य, पवित्र, सत्, ऋक्, यजुः, साम, यज्ञ, स्वधा, वर्षक, निगृहीता, औषध, मोचक, मन्त्र, गति, अमृत, मृत्यु, भर्ता, असत्, आज्य, प्रभु, निवास, बीज, साक्षी, शरण, निधान, स्थान, सुहृत्, अग्नि, हुत्, प्रलय, माता, पिता, धाता, क्रतु, पितामह और तापक ॐकार स्वरूप मुझ परमात्मा ब्रह्म को अपने अन्तः करण में एकत्व भाव से अनुभव करते हुए उपासना करते हैं। यथा—

अहं क्रतुरहं यज्ञः, स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्य, महमग्निरहं हुतम्।। (गी. ९/१६)

पिताहमस्य जगतो, माताधाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार, ऋकसाम यजुरेव च।। (गी. ९/१७)

इस तरह वह साधक परमात्मा के समष्टि ऊर्जा सम्पन्न स्वरूप को अभेद बुद्धि से उपासना करते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है—

'मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः। (गी. ९/३४)

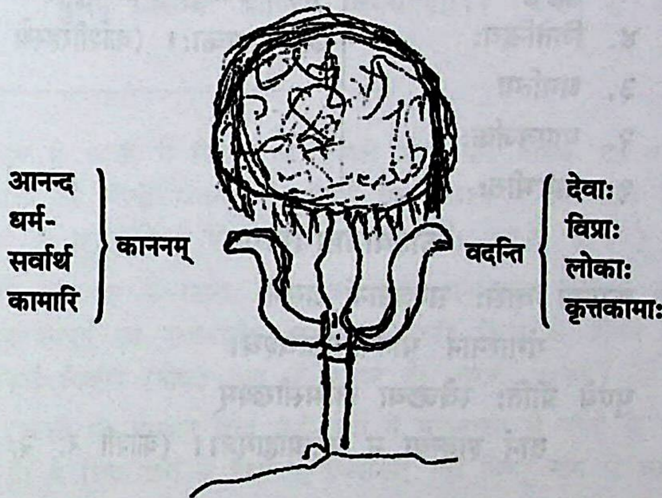
परब्रह्म स्वयं प्रकाश तथा अनन्त आदि मध्य और अवसानशून्य है अप्रेय है अर्थात् इदमित्थं रूप से निरूपण के योग्य नहीं है तथा अखण्ड है उसमें खण्डन नहीं है। परिच्छेद त्रय शून्य है, परिपूर्ण है, सर्व को व्याप्त करके विद्यमान है, अव्यपदेश्य अर्थात् व्यवहारयोग्य नहीं हैं, शिव है, कल्याणस्वरूप ब्रह्म है, जानने के योग्य ज्ञेयपाद है।

सत्य ज्ञानरूप आनन्द स्वरूप सर्वतो परिपूर्ण सनातन केवल एक रूप ब्रह्म तत् त्वं पद का भाग त्याग लक्षणा के द्वारा लक्ष्य है और यह उपास्य है, इसका अभ्यास किया जाता है। अतः यह उपास्य पाद है।

सर्वशक्तियों से उत्पत्ति पालन संहारादि शक्ति से विशिष्ट अनादि, अनन्त, नित्य, शिवस्वरूप ब्रह्म मायापाद है। जिससे यह प्रपञ्च पल्लवित हो रहा है।

संशान्तदुःखमजडात्मकमेकसुप्त,
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमोयत्।
आकाशकोशतनवोऽतनवोमहान्तः
तस्मिन् पदे विगतचित्तलवाभवन्ति।। (म.वा.र. २)

छत्राकारं परं ज्योति र्दृश्यते गगनेचरम्।
निमग्नायां धरित्र्यान्तु काशीति प्रथिता श्रुतौ।। (काशी रहस्ये-२)



जिनमें निखिल दुःख शान्त हो, ऐसे ज्ञानात्मा अद्वितीय गूढ़ मन्थर आनन्द तथा राजोगुण और तमो गुणों से रहित, आकाश कोश शरीर वाला अर्थात् व्यापक परन्तु अशरीरी महान् (अनन्त) जिस पद में प्रविष्ट होने पर चित्त का बन्धन कट जाते हैं उस परमात्मा को स्मरण एवं ध्यानादि द्वारा प्रयत्लपूर्वक प्राप्त करना चाहिए। (म.वा.र. २)

छत्र के आकार में जो मध्यवर्ति (आकाश में) ज्योति दृष्टि गोचर हुई वह ज्योति ही भूमि में प्रवेश कर काशी नाम से प्रसिद्ध हुयी।

इस काशी को आनन्द कानन, धर्म कानन तथा सवार्थ साधक तथा भगवान् कामजित (शिव) का कानन मनुष्य देवता तथा विप्रलोग कृत्यकृत्य होकर कहते हैं। अथवा यहाँ के विप्र ही देवता है तथा मनुष्य कृतकृत्य है।

मया स्मृतो लोकमुक्त्यै
लिङ्गरूपधरः शम्भुर्हृदयाद्बहिरागतः।
महतीं वृद्धिमासाद्य, पञ्चक्रोशात्मकोऽभवत्।।
ब्रह्मकाननमिदं परात्परम्। (काशी रहस्ये-३)

७. समदृक् शान्तमनाः
६. परमसाधनयुक्तः
५. मुमुक्षुः
४. जितेन्द्रियः
३. धर्मात्मा
२. पापवर्जकः
१. पापभीरुः

नहि पापागुरुभक्तिं कुर्वन्ति।
आत्मवञ्चकाः। (काशीरहस्ये ३)

काश्यामष्टांगयोगः

काश्यां वासः सज्जनानां प्रसंगः
गंगास्नानं पापकर्मारुचिश्च।
पुण्ये प्रीतिः स्वेच्छया लाभसौख्यम्
दानं शक्त्या न प्रतिग्राह्यमत्र।। (काशी र. २/३४)

भगवान् विष्णु कहते हैं—मैंने मनुष्यों की मुक्ति के लिए लिङ्गरूपधारी शम्भु का स्मरण हृदय से किया और वही तेजः हृदय से बाहर आकर वृद्धि को प्राप्त हुआ तथा पांचकोश के आकार में परिणत हुआ। वह वही पंचक्रोशात्मक काशी ब्रह्म कानन है और वही परात्पर है। (काशी रहस्य-३)

जो पाप से भयभीत तथा पाप से रहित होते हैं पुनः धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, मुमुक्षु और सम्यक् साधनों से सम्पन्न, समदर्शी, शान्तात्मा है वही यहाँ निवास कर सकते हैं, क्योंकि पापीजन गुरु भक्ति तथा ईश्वर भक्ति को नहीं कर पाते हैं। (का.र. ३)

काशी में अष्टांग योग इस प्रकार है—१. काशी में निवास, २. सज्जनों का संग, ३. गङ्गा स्नान, ४. पापकर्मों से घृणा, ५. पुण्यकर्मों में प्रीति, ६. स्वेच्छया प्राप्त वस्तुओं में सुख, ७. यथा शक्ति दानं, तथा ८. दान लेने से वचना। (काशी ख. २/३४)

कृत्वा वहूनि पापानि, काश्यामेव कलौ यदि।
मृयते यातनान्ते हि, शुद्धो मोक्षमवाप्नुयात्।। (काशी र. ४/१५)

जितेन्द्रियत्वं धीरत्व; मन्तःकरणनिग्रहः।
तपो जपः स्वधर्मश्च, दानं योगादिकाः क्रियाः।।
निर्वाण सुखस्य साधनानि।। (काशी र. ४/२६)

कालस्तु भगवान्विष्णुः, समः सत्यादि नामसु।
युगेषु विसमाः प्राणिनो विषयग्रहाः।। (काशी र. ४/३५)

कलियुग में काशी में निवास करने वाले प्राणी यदि अनेक पाप करने के पश्चात् भी यदि काशी की भैरवी यातना को भोगता हुआ काशी में ही मरता है तो वह उस भैरवी यातना से शुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। (का.र. ४/१५)

इन्द्रियों को वश में रखना, धैर्यपूर्वक रहना, अन्तःकरण चतुष्टय का निग्रह करना तथा तप-जप स्वधर्म का पालनपूर्वक दान तथा यज्ञादि क्रिया से जीवन यापन करना— ये सब क्रियाएँ निर्वाण (मोक्ष) सुख के साधन है। (का.र. ४/२६)

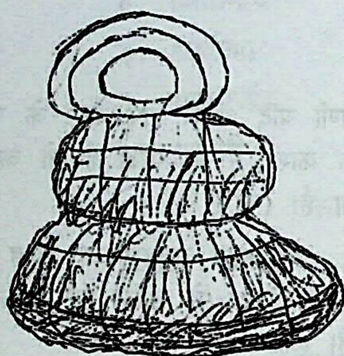
यहाँ (काशी में) भगवान् शिव सभी युगों में समानभाव से जीवों के कर्मानुसार भैरवी यातना देते हैं। वे शिव सबों में विशनात् प्रवेशनात् यहाँ विष्णु नाम से कहे गये हैं। कहा है—

यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्।।

यहाँ विष्णु इसलिए कहा कि वे सभी जीवों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर उनके कृताकृत कर्म को जानकर कालभैरव रूप से भैरवी दण्ड से यातना देकर उसे शुद्धात्मा बना कर शिवरूप से मोक्ष प्रदान करते हैं। जैसे स्वर्णकार सोने को तपा कर पीट-पाट कर (ताडन कर) शुद्ध बना कर आभूषण योग्य बनाते हैं, उसी प्रकार भगवान् शिव विष्णु रूप से कृताकृत कर्म को जानते हैं और भैरवरूप से ताडन (यातना) कर मोक्ष के योग्य शुद्ध बना देते हैं। ऐसा जानना चाहिये। इस कर्म में कभी भी कोई पक्षपात नहीं करते हैं इसलिए 'समः सत्यादि नामसु' कहा है। (काशी रहस्य ४/३५)

द्वापरं कलिरब्रवीत्

मयि जीवति लोकेषु वर्णाश्रमनिबन्धनाः।
सेतवो भीतिमागत्य, पलायन्ते दिशो दश।।
मच्छन्दानुगतो लोकः, सुखमास्ते विचारकः।
निरंकुशोऽतिगहनः, सर्ववस्तुषु संश्रितः।।
वर्णाश्रमेषु लोकेषु, पुरुषार्थनिरोधकः। (काशी ख. ५)
भवत्यवश्यं सुकृतैर्विहीनो मृतःचेत्काशिकायां पिशाचः।
(काशी ख. ६)



अन्यक्षेत्रे कृतं पापं,
पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं,
वाराणस्यां विनश्यति।
वाराणस्यां कृतं पापं,
अन्तर्गेहे विनश्यति
अन्तर्गेहे कृतं पापं,
वज्रलेपो भविष्यति।।
केवलं यातनागृहम्।। (काशी ख. ११)

कलियुग ने द्वापरयुग से कहा—'द्वाभ्यामपरः द्वापरः' कलयुग त्रेता से जो अवर है वह द्वापर है। वह द्वापर से कलियुग कहता है कि—मेरे लोक नायक के रहते हुए पूर्व से चले आये जो वर्णाश्रम धर्म के हेतुभूत सेतु (मर्यादायें) हैं वे मुझसे भयभीत होकर दशों दिशाओं में भाग जाते हैं तथा मेरे अनुयायी जन जो कलि के धर्मों का अनुसरण करते है वे सुख पूर्वक रहते हैं।

कलि कहता है कि मुझ पर किसी का अङ्कुश नहीं मैं अव्यन्त दुरुह हूँ इसलिए सभी वस्तुओं में बसा हुआ हूँ। मैं वर्णाश्रमानुयायि जनों के पुरुषार्थो का अवरोधक हूँ। (का.ख. ५)

पुण्यपुञ्ज से रहित जन काशी में मरकर पिशाच बनता है और अन्यक्षेत्र में किये गये पाप पुण्य क्षेत्र में समाप्त हो जाते हैं। (का.ख. ६)

अन्य पुण्यक्षेत्र में किये पाप वाराणसी में समाप्त हो जाते है। वाराणसी में किये गये पाप अन्तर्गह में समाप्त होते हैं तथा अन्तर्गृह में किये गये पाप वज्रलेप हो जाता है अर्थात् वह क्षय नहीं होता। अतः पापीजन तो केवल यातना गृह के ही अधिकारी होते हैं। (का.ख. ११)

पश्यन्त्युमा वल्लभमादिपुरुषं पतिव्रतावन्नियतैकमानसाः।

(काशीर. १२/१४१)

सर्वतीर्थानि देवाश्च, वसन्त्यत्राविमुक्तके। (काशी. १३/१३)

काश्यां सप्तपुर्यः।

१. व्यापिकाकाशिका।
२. शङ्खोद्धारप्रदेशे द्वारका।
३. विन्दुमाधवपश्र्वस्था विष्णुकाञ्ची।
४. उत्तरार्कादुत्तरा मधुरा वरणावधिः।
५. अयोध्या वायुकोणे सोमेश्वरसमीपतः। यत्र रामेश्वरं लिङ्गम्।
६. असिसम्भेदकोणे गंगाद्वारं प्रकीर्तितम्।
७. वृद्धकालात्परेभागे कृत्तिवासेश्वरावधि कालकालपुरीज्ञेया अवन्ती।

पतिव्रता उमा (पार्वती) के समान नियतचित्तवृत्तिजन ही आदिपुरुष भगवान् को देख पाते है। सभी तीर्थ तथा सभी देश विमुक्तिप्रद काशी में रहते है। काशी में सात पुरियाँ इस प्रकार हैं—१. काशिका जिसका अर्थ है व्यापक प्रकाश, २. शंखोद्धार प्रदेश में द्वारकापुरी है, ३. बिन्दुमाधव के पास विष्णु काञ्ची है, ४. काशी में उत्तरार्क के उत्तर में मधुरा अर्थात् मथुरापुरी है, ५. काशी के वायु कोण में सोमेश्वर के समीप में अयोध्यापुरी है जहाँ पर रामेश्वर लिङ्ग है, ६. असि नदी का जहाँ से भेद (संगम) है वहाँ गङ्गाद्वार अर्थात् मायापुरी हरिद्वार है, ७. वृद्ध काल से लेकर कृत्तिवासेश्वर लिङ्ग पर्यन्त महाकालपुरी अर्थात् उज्जैनी-अवन्ती नाम की पुरी है।

इस प्रकार अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका, पुरी द्वारावती यह सात मोक्षदायिनी पुरी काशी में स्थित है।

गङ्गाद्वारे मृतानान्तु निर्वाणं निर्विकल्पकम्। (काशी र. १३.५०)

महत्तत्त्वमये पात्रे ब्रह्मशुद्धं सनातनम्।

मायाप्रवेशरहितं अविमुक्तं तदुच्यते।। (काशी र. १४/३६)

आत्मा काशी तथाहं त्वं, तथा देवो जनार्दनः।

अनावृत्तं ज्ञानमेत; दावृत्तं त्वन्यदुच्यते।। (काशी र. १६/३२)

विद्या { विद्योदयान्ता हि / जेतुं परं पदम् } न विवादाय केवलम्।

श्री वेदव्यासः कृष्णद्वैपायनः।

|

वैशम्पायनः।

|

वाजसनेरपत्यं-याज्ञवल्क्यः-वाजसनेयः।

|

कण्व माध्यन्दिन शापेय स्वापायनीय कापाल पौण्ड्र वत्सावटिक परमावटिक पाराशर्य वैधेय वैनेय औध्रेय गालव वैजव कात्यानियाः पञ्चदश। (वेदार्थपारिजातमाः)

काशीस्थ हरिद्वार क्षेत्र में मरने वालों को लिए निश्चित निर्विकल्प निर्वाणपद (मोक्ष) प्राप्त होता है। (का.र. १३/५०)

महत्तत्त्व का ही नाम बुद्धितत्त्व है और ऐसे बुद्धिरूपी पात्र में स्थित जो शुद्ध ब्रह्म है उसमें माया का प्रवेश नहीं (त्रिपुटीशून्य) है जिसे अविमुक्त (काशी) कहते हैं। (का.र. १४/३६)

आत्मा ही काशी 'आत्मात्वं गिरिजामतिः इत्यादिवत्' है तथा 'अहं' एवं 'त्वं' पदवाच्य ही जनार्दन है अर्थात् अपने में ही सबकुछ है। आत्मारूपी नदी सभी पुण्य तीर्थों में शुद्ध क्षेत्र है। आवरण रहित (अनवच्छिन्न) ज्ञान ही शुद्ध काशी क्षेत्र है; इससे इतर (भिन्न) ज्ञान आवृत्त होने के कारण अविशुद्ध है। (का.र. १६/३२)

विद्या का प्रयोजन ज्ञानोदय पर्यन्त है विवाद के लिए नहीं। विद्या परम पद को प्राप्त करने के लिए ही है। श्रीकृष्ण द्वैपायन ही वेदव्यास हैं। उनके पन्द्रह शिष्य ऋषि हुए जो उनसे विद्या ग्रहण किये थे। वे ऋषिगण हैं—१. वैशम्पायन, २. वाजसनेय के अपत्य (पुत्र) वाजसनेय याज्ञववल्क्य, ३. कण्व माध्यन्दिन शाखी, ४. शापेय के पुत्र स्वापायनीय, ५. कापाल, ६. पौण्ड्र, ७. वत्सावटिक, ८. परमावटिक, ९. पाराशर्य, १०. वैधेय, ११. वैनेय, १२. औध्रेय, १३. गालव, १४. बैजव और १५. कात्यायन। (वेदार्थपरिजातभा.)

गङ्गाविश्वेश्वरः काशी।

अर्धछात्रीफलोन्माना मृदः शौचे प्रकीर्तिताः।
सर्वाश्चाहुतयोऽप्येवं ग्रासांश्चान्द्रायणेपि च।। (स्क. काशी.पू. ३५)

आचमनम्

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिर्हृद्गाभिरत्वरः।
ब्राह्मणो ब्राह्मतीर्थेन, दृष्टिपूताभिराचमेत्।।

प्रमदा

मृगीदृशां जलौकानां विचारान्महदन्तरम्।
जलौका केवलं रक्त; माददाना तपस्विनी।।
प्रमदासर्वमादत्ते, चित्तं वित्तं बलं सुखम्। (स्क.पु.काशी.पू. ३५)

श्रीः

दक्षा प्रजावती साध्वी, प्रियवाक्च वशंवदा।
गुणैरमीभिः संयुक्ता, सा श्रीः स्त्रीरूपधारिणी।।
गृहाश्रमः सुखार्थाय, भार्यामूलं च तत्सुखम्।

जहाँ गंगा और भगवान् विशेश्वर (शिव) विराजते हैं वही काशी है।

शौच में हाथ मार्जन में आधे आवले के बराबर मिट्टी लेनी चाहिए तथा हवन की आहुतियों में और चान्द्रायण व्रत में भी इतनी ही मात्रा ग्रास ग्रहण करना चाहिए। (स्क.पु.का.ख.पू. ३५)

आचमन में ब्राह्मण ऊष्ण जल और फेन वाला जल न ले। इतना ले कि हृदय तक पहुँचे 'हृद्गाभिपूर्यते विप्रः' इत्यादि के अनुसार तथा शीघ्रता न करे देखकर के ब्रह्मतीर्थ से आचमन करे तब पवित्र होता है। (स्क.पु.का.ख.पू. ३५)

प्रमदा स्त्री में और जोक में विचार करो तो बहुतभेद है तपस्विनी जोक तो केवल रक्त ही पीती है, किन्तु प्रमदा चित्त को, वित्त को, बल को और सुख को भी हर लेती है। (स्क.पु.का.ख. ३५)

जो स्त्री कुशल, पुत्रवती, साध्वी, प्रियवादिनी, वश्य, आज्ञापालन करे, ऐसी स्त्री इन गुणों से युक्त होने के कारण साक्षात् श्री (लक्ष्मी) है।

गृहस्थाश्रम में सुखपूर्वक जीवनयापन के लिए एक विशेष जीवन पद्धति को कहते

आनुकूल्यं कलत्रं चेत्, त्रिदिवेनापि किं ततः।
प्रातिकूल्यं कलत्रं चेत्, नरकरेणापि किं ततः।। (स्क.पु.का.पू. ३७)
षष्ठिबड्डुत्तरायोषि; दङ्गलक्षणवत्खनिः। ('' '' '' '')

हैं। गृहस्थाश्रम सुख को प्रदान करता है परन्तु उस सुख का मूल भार्या (पत्नी) होती है। यदि भार्या लक्ष्मी है, सुशीला है, प्रियवादिनी है तो गृह (गृहस्थाश्रम) ही स्वर्ग है अन्यथा गृहस्थाश्रम यातना गृह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। क्योंकि उस भार्या से स्नेह नहीं हो पाता। यथा—

कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननी समा।
विपतौ बुद्धिदातृ च सा नारी प्राणवल्लभा।। (नीतिशास्त्र)

अर्थ—घर के कार्य सम्पादन में दासी के रूप में, पति से संभोग सम्पादन में वेश्या के रूप में, भोजन के समय में माता के रूप में, विपत्ति (दुर्दिन) काल में मित्र के रूप में जो स्त्री पति की हितकारिणी होती है वही प्राणवल्लभा (प्राणप्रिया) कहलाती है। यदि कलत्र (स्त्री) अनुकूल हो तो पति को स्वर्ग की क्या जरूरत? कुछ भी नहीं। यदि कलत्र (पत्नी) प्रतिकूल हो तो पति को नरक का वास ही है। उसके घर में ही नरक लोक स्थापित होता है।

सत्यं जना वच्मि न पाताल्लोकेषु सप्तस्वपि तथ्यमेतत्।
नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखैकहेतु र्न कश्चिदन्यः।। (शृ.श. ४०)

इसका अर्थ है कि—हे लोगों! मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ कि इन सातों लोकों (भुवनों) में यही एक मात्र तथ्य है कि नितम्बिनी अर्थात् सुन्दरी स्त्री से उत्तम मनोहारी (हृदय को सुख देने वाली) वस्तु अन्य नहीं है और समस्त दुःखों के कारण भी स्त्री से इतर (अन्य) कोई वस्तु नहीं है। ऐसी स्त्री के स्वरूप को और जगह कहा है कि—

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
सेवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी।। (शृंगारशतकम् ४४)

इस जगत् में स्त्री से अन्य न तो अमृत है और न ही विष ही है। स्त्री यदि अनुकूला-अनुरक्ता प्राप्त होती है तो अमृत (आनन्द) को प्रदान करने वाली होती है और यदि वह विरक्ता अर्थात् दुष्टा-दुःशीला-क्रोधमुखी प्राप्त हुई तो विषलता (जिससे विष उत्पन्न हो) ही सिद्ध होती है।

स्त्री साठ वर्ष की हो जाने पर बन्शी (बडिश) की खान के समान हो जाती है। अर्थात् वह अधिक बन्धकारी होती है। (स्क.पु.का.पू. ३७)

वाणिज्यं नृपते सेवा, वेदानध्ययनं तथा।
कुविवाहः क्रियालोपः, कुले पतनहेतवः।। (स्क.पु.का.पू. ३८)

वाणिज्य (व्यापार) करना, राजसेवा में नियुक्त होना (राजकीय नौकरी) वेद का अध्ययन अवरुद्ध हो जाना अर्थात् वेद के अध्ययन से दूर हो जाना, निन्दित विवाह करना, क्रिया-कर्म (शास्त्र विहित) का लोप होना, ये सब वंश के पतन के कारण होते हैं। वेद को लोग एक धार्मिक ग्रन्थ मात्र समझते हैं और उसे आज लोग उपेक्षित कर रखे हैं।इस उपेक्षा के कारण ही परज्ञान-विज्ञान से वंचित होकर इस सम्बन्ध में परराष्ट्राश्रित हैं। हम वेद को उपेक्षित कर अपूरणीय बौद्धिक ह्रास को प्राप्त हो चुके हैं। बौद्धिक पतन के कारण ही भारत-आर्यावत-हिन्दुस्तान (हिन्दुस्थान) जैसा धर्म-कर्म-क्रिया-ज्ञान-विज्ञान से समुन्नत देश में आकण्ठ भ्रष्टाचार-चारित्रिक पतन, असुरवृत्ति को प्राप्त होकर मानव कहलाने लायक भी प्रतीत नहीं हो रहे हैं। पाश्चात्य रहन-सहन का अन्धानुकरण और राग इस देश की बौद्धिक तथा क्रिया-कर्मों के पवित्र आचार को मिटाकर पाशविक आचार ही फैलाया है। यदि वेदमार्ग का अनुसरण हुआ होता तो राष्ट्रीय स्तर पर अरबों-खरबों के घोटाले-खून-खराबा-महिलाओं के साथ दुराचरण-अपहरण-धन के लोभ में गोपनीय तथ्यों का विक्रय तथा भूखी जनता को भूख से तड़पता हुआ देखकर विदेशी स्विस् बैंक में अरबों-खरबों डालर जमा नहीं होते। वेदज्ञान के प्रभावी होने पर इस पर स्वाभाविक रोक लग जाता। वेद का तो स्वरूप—'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायो यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'। (वेदभाष्ये सायणाचार्यः) अर्थ है—इष्ट (अनुकूल-हितकर-इच्छित) प्राप्तव्य फल को प्रदान कर और अनिष्ट अर्थात् प्रतिकूल-अहितकर अनिच्छित फल का परिहार करने वाला जो अलौकिक (लोकोत्तर-दिव्य) उपाय उस उपाय को बताने वाला वेद है। वेद को ही श्रुति कहते हैं—'श्रूयते सा श्रुतिः' जो सुनकर जाना जाय वह श्रुति है। ऋषियों ने कहा—'श्रुतं मे गोपाय' सुनी गयी श्रुति (वेदध्वनि) हमारी रक्षा करे। इसी प्रकार 'शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्तं च यत्प्रमाणं तज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुख-जनकोच्चारणकत्त्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो यो प्रमाणशब्दस्तत्त्वं वेदत्त्वम्'। (वेदार्थ परिजात, पृ. २० करपात्रस्वामी)

जो लौकिक शब्द से अन्य परन्तु उस शब्द के उपकारक तत्त्व से भिन्न जो प्रमाण उससे जन्य उत्पन्न जो प्रमा का विषय उससे अभिन्न अर्थ वाला जो-जो हो उससे भिन्न होते हुए पारलौकिक उच्चारण वाले होकर उससे उत्पन्न जो ज्ञान उस ज्ञान का जनक जो प्रमाण स्वरूप शब्द—वह वेद है। इत्यादि।

क्रतवः पञ्चनिर्दिष्टा गृहिश्रेयोऽभिवर्धनाः—

पाठनं ब्रह्म यज्ञः स्यात्, तर्पणं च पितृ क्रतुः।
होमोदैवोबलिर्भौतो, ऽतिथ्यर्चा नृक्रतुः क्रमात्।।

गृहस्थः परपाकादी, प्रेत्य तत्पशुतां व्रजेत्।
श्रेयः परान्नपुष्टस्य, गृहणीयादन्नदो यतः।। (स्क.पु.का. ३८)

गृहस्थों के लिए नित्य कर्त्तव्य पञ्चयज्ञ का शास्त्र ने प्रावधान किया है। इन पञ्चवलियज्ञों से गृहस्थों के श्रेय का अभ्युदय (अभिवर्धन) होता हैं। यहाँ स्कन्द पुराणोक्त पञ्चयज्ञ को कहा जा रहा है। यद्यपि पञ्चयज्ञों का उल्लेख प्रायः सभी पुराणों और स्मृतियों तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में उल्लिखित है एवं उन सभी जगहों पर गृहस्थों के लिए कर्त्तव्य बताये गये हैं। वे हैं—

१. ब्रह्मयज्ञ—वेद का नित्य अध्ययन-अध्यापन ब्रह्मयज्ञ कहा गया है।

२. पितृयज्ञ—पितरों को गृह में पके हुए अन्न और जल से नित्य तृप्त करना पितृयज्ञ है।

३. देवयज्ञ—गृह में पके हुए सिद्धान्न तथा धृतादि से ब्रह्मा-प्रजापति-गृहाभ्यादि कश्यप और अनुमति आदि को हवन देना/करना देवयज्ञ कहा जाता है।

४. नृयज्ञ—घर पर पधारे हुए अतिथि को दैनिक पाकान्न से भोजन कराना नृयज्ञ है। नृ का अर्थ नर (पुरुष) होता है और उसके निमित्त दिये जाने वाले पाकान्न भाग को यहाँ यज्ञ कहा गया है।

५. भूतयज्ञ—दैनिक पाकान्न से पञ्चभूतों को तृप्त करना भूतयज्ञ है। इन पञ्चयज्ञ को अवश्यकर्त्तव्यता सम्पादित करने के लिए ही यहाँ कहा है कि गृहस्थ यदि दूसरों के पाकान्न से निर्वाह करता है तो वह मर कर उनके यहाँ पशुता को प्राप्त कर जाता है। क्योंकि अन्नदाता उनकी श्रेय की पुष्टि का भागी होता है। अर्थात् यदि कोई गृहस्थ मानव अपने यहाँ पाक नहीं बनाता है और परान्न से पञ्चभूत यज्ञ का निर्वहन करता है तो उस यज्ञ से उत्पन्न श्रेय का भागी अन्नदाता हो जाता है। नित्य पाक नहीं बनाने वाले गृहस्थों को इसलिए दोष का भी शास्त्रों में उल्लेख है। यदि घर में पाक नहीं बन पाता तो उसे—

शाकं वा यदि वा पत्रं मूलं वा यदि वा फलम्।
संकल्पयेत् यदाहारं तेनैव जुहुयाद्धविः।। (देवीभा. ११/२२/१२)

शाक-पत्र-मूल-फल जो भी आहार योग्य उपलब्ध वस्तु है उसी से यज्ञ करे। यदि ये भी न हो तो जल से ही यज्ञ करे—'तत्र च सिद्धस्य हविष्यस्य मुख्यत्वात् तदर्थं पाकः कर्त्तव्यः। तत्रासामर्थ्ये तु अपक्वेनापि वैश्वदेवः कर्त्तव्यः। हविष्याभावे अहविष्येनापि। 'न

अधर्मादेधतेपूर्वं, विद्वेषट्टनपि संजयेत्।
सर्वतोभद्रमाप्यापि, ततो नश्येच्च सान्वयः।। (स्क.पु.का. ३८)

देवताः-अनन्तशक्ति परमेश्वरस्यांशाः। महाभाग्याः परमैश्वर्य वन्तो दिव्याश्च भवन्ति।। (शु.य.मा. १/१ करपात्र भा.)

चेदुत्पद्यतेऽन्नं अभिरेतान् समापयेत् (वीरमित्रोदय आ.प्र.) 'अहरहः पञ्चयज्ञान् निर्वपेत-आपत्रशाकोदकेभ्यः। (शंखलिखित)

इन धर्मशास्त्रों के वाक्यों से गृहस्थों को नित्य पाक बनाना आवश्यक कहा है। यदि कभी ऐसा हो कि पाक (भोजन पकाना कर्म) न बन सके तो मूलादि से पञ्चयज्ञ करें। इसके अभाव में जल से ही करें। परन्तु पञ्चयज्ञ की नित्य कर्त्तव्यता बनी रहे। गृहस्थों को खेत जोतने, चूल्हा जलाने, चक्की में पीसने तथा जल स्थान में जीवों की हत्या के दोष प्राप्त होते हैं। उक्त दोषों के निवारणार्थ (प्रायश्चित्तभूत) कर्म पञ्चयज्ञ अत्यावश्यक है। इसके पूर्व हमने वेद के सम्बन्ध में कहा है कि वेदज्ञान से सम्पूर्ण समस्या का समाधान सम्भव है। पञ्चयज्ञ वेद विहित कर्म है। इस यज्ञ में मानव-गाय-विपिलिका-कीट आदि सभी जीवों को भोजन-जल देने का प्रावधान शास्त्र (वेद) ने किया है। अगर वेद प्रतिपादित कर्म को सम्पादित किया जाय तो सरकारी स्तर से लूट-खसोट वाली बहुत सी योजनाओं की आवश्यकता नहीं होगी और गृहस्थों के द्वारा वैदिक कर्म से ही बहुत सी समस्याएँ हल हो जायगी। वैदिक कर्म में भावना है, प्रेम है, कर्त्तव्यता है। परन्तु सरकारी कर्म में वैसा कुछ नहीं है। दुर्भाग्यवश कतिपय भ्रमित अज्ञजन वेद की सर्वदिक् वैज्ञानिकता को नहीं जानते अथवा जानबूझ कर लोगों को भ्रमित कर-सब्जबाग दिखा कर वोटलोलुप ये राजनैतिक लोग देश को अपने अधार्मिक क्रूर कर्म से ग्रस्त और त्रस्त करते आ रहे नहीं होते, इस पर ज्ञानियों-बुद्धिजीवियों-पण्डितों-विद्वानों-साधु-सन्तों को ध्यान देने की परम आवश्यकता है ताकि देश-राष्ट्र-समाज-दुर्बलों-सबलों में सामञ्जस्य-सौहार्द और आत्मीयता का बोध जागृत हो सके। (स्क.पु.का. ३८)

अधर्मी (शास्त्र विहित कर्मों के विपरीत आचरण करने वाला) अपने अधर्म कर्म से सर्वप्रथम वृद्धि को प्राप्त करता है और अपने शत्रुओं को भी दमित कर अधीन कर लेता है। इसके बाद अधर्म से प्राप्त संसाधनों का उपभोग करके तृप्ति प्राप्त करने का युक्तियुक्त प्रयास करता है, परन्तु वह अन्त में वंश सहित नाश को प्राप्त होता है। क्योंकि 'भोगे रोगभयम्' भोग में ही रोग है। उसे भोग से रोग उत्पन्न हो जाता है और वह 'समूलं विनश्यति' मूल के साथ नष्ट हो जाता है। (स्क.पु.का. ३८)

देवता अनन्तशक्ति परमेश्वर के अंश होते ही है, वे महाभाग्य वाले परम ऐश्वर्यशाली तथा दिव्यगुणों से युक्त होते है। (शु.य.मा. १/१ करपात्र भा.)

विभागाशी शीलसंयुक्तो, दयावाँश्च क्षमायुतः।
देवतातिथिभक्तश्च, गृहस्थो धार्मिकः स्मृतः।। (स्क.का.पू. ४०)
शर्वरीमध्ययामौ द्वौ, हुतशेषं च यद्धविः।
तत्र स्वपँस्तदश्नँश्च, ब्राह्मणो नावसीदति।। (स्क.का.पू. ४०)



पैशून्यपरदाराश्च, द्रोहः क्रोधानृताप्रियम्।
द्वेषो दम्भश्च माया च, स्वर्ग मार्गार्गलानि च।। (स्क.पु.का.पू. ४०)
काशीवीथिषु संञ्चारो, मुद्रा भवति खेचरी। (स्क.पु.का.पू. ४१)
नैरपेक्ष्यं परं प्राहु, र्निःश्रेयसमनल्पकम्। (श्रीमद्भा. २१/२०)

प्राप्त भोज्य को बाँट कर खाने वाला शील सम्पन्न, दयावान्, क्षमावान् तथा देवता आतिथ्यों का भक्त धार्मिक गृहस्थ कहलाता है। (स्क.पु.का.पू. ४०)

रात्रि के मध्य में दो पहर (९ बजे से ३ बजे तक) सोने (शयन) वाला तथा यज्ञशेष को मात्र भोजन करने वाला ब्राह्मण कभी दुःखी नहीं होता है। (स्क.पु.का.पू. ४०)

चुगुलखोरी, परस्त्रीगमन, द्रोह, क्रोध, झूठ, अप्रिय वचन, द्वेष, दम्भ, छल एवं कपट ये स्वर्ग के मार्ग को अवरुद्ध करने वाले हैं। (स्क.पु.का.पू. ४०)

जो जीवात्मा काशी की पवित्र गलियों में भ्रमन करता है उसका वह भ्रमन खेचरी मुद्रा कहलाता है। (स्क.पु.का.पू. ४१)

हे उद्धव जी सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक महत्त्वशाली परम कल्याण तो नैरपेक्ष्य अर्थात् निरपेक्षता ही है। इसलिए जिसे कोई सांसारिक अपेक्षा नहीं है और जो निष्काम है निराशीश है उसे ही मेरी भक्ति रूपी निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। (श्रीमद्भाग. २१/२०)

अहंकारकृतं वन्धं, आत्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान्निर्विद्यसांसार, चिन्तां तुर्येस्थितस्त्यजेत्।।

यथायथात्मा परिमृज्यतेऽसौ,
मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तुसूक्ष्मं,
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्।। (श्रीमद्भा. १३)

यावन्नानार्थधीः पुंसां, न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः, स्वप्ने जागरणं यथा।।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां, भावानां तत्कृताभिदा।
गतयो हेतवश्चास्या, मृषा स्वप्नदृशो यथा।। (श्रीमद्भा. ११/१३)

यह संसृतिरूप बन्धन अहंकार द्वारा निर्मित है जिसने आत्मा के यथार्थरूप अर्थात् परिपूर्ण सत्य-अखण्ड-आनन्दादि को ढक लिया है जो कुछ का कुछ दिखा रहा है। इस बात को जानकर साधक 'ब्राह्मणोनिर्वेद आयात्' इत्यादि वचनानुसार सबसे विरक्त होता हुआ तीनों अवस्थाओं में ममानुगत् तुरीय स्वरूप में स्थित होकर संसार की चिन्ता को छोड़ दे। यहाँ संसार नाम अबुद्धिका है उस अभिमान तथा अभिमान रचित भोग चिन्तां को छोड़ दे।

हे उद्धव मेरी पुण्यमयी लीला कथा के श्रवण कीर्तन आदि से ज्यों-ज्यों चित्त के राग द्वेषादि मल एवं क्लेश समाप्त होते है त्यों-त्यों ही उसे सूक्ष्म वस्तु के वास्तविक तत्त्व के दर्शन होने लगते है। जैसे—नेत्रों में अञ्जन द्वारा धूल मिट्टी आदि मल दूर होने से स्पष्ट वस्तु देखने की शक्ति आ जाती है। (श्रीमद्भाग. १३)

जब तक इस जीव की भिन्न-भिन्न पदार्थों में सत्यत्त्व बुद्धि तथा वाक्य जनित युक्तियों से निवृत्ति नहीं हो जाती है तब तक वह अज्ञानी जागता हुआ सो रहा है। जैसे—स्वप्न में अपने जागता देखकर दुःखी सुखी होता है।

नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि वेद वाक्यानुसार आत्मा से भिन्न देहादि नामरूपात्मक प्रपञ्च की कालत्रय में भी सत्ता नहीं है। इसलिए इनको निमित्त बनाकर वर्णाश्रम भेदवस्तु भेद तथा स्वर्गादि फल एवं उनके उत्पादक यज्ञादि, ये सब आत्मा में स्वप्न दृश्यों के समान मिथ्या ही है। (श्रीमद्भाग. ११/१३)

उद्धव प्रश्नः—

विदन्ति मर्त्याप्रायेण, विषयान्पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण? तत्कथं श्व खराजवत्।।

श्रीभगवानुवाच—

अहमित्यन्यथाबुद्धिः, प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं, ततो वैकारिकं मनः।।
रजो युक्तस्य मनसः, संकल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्याना, दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः।।
करोति कामवशगः, कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन्, रजोवेगविमोहितः।।

(श्रीमद्भा. ११/१३/९)

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च, गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणोजीवः, साक्षित्त्वेन विनिश्चितः।।

(श्रीमद्भा. ११/१३)

उद्धवजी ने पूछा कि भगवन्! सभी मनुष्य इस बात को जानते हैं कि विषयभोग आपत्तियों के कारण है। फिर वे उस विषय भोग को कुत्ते, गधे तथा बकरे की तरह क्यों सेवन करते रहते है?

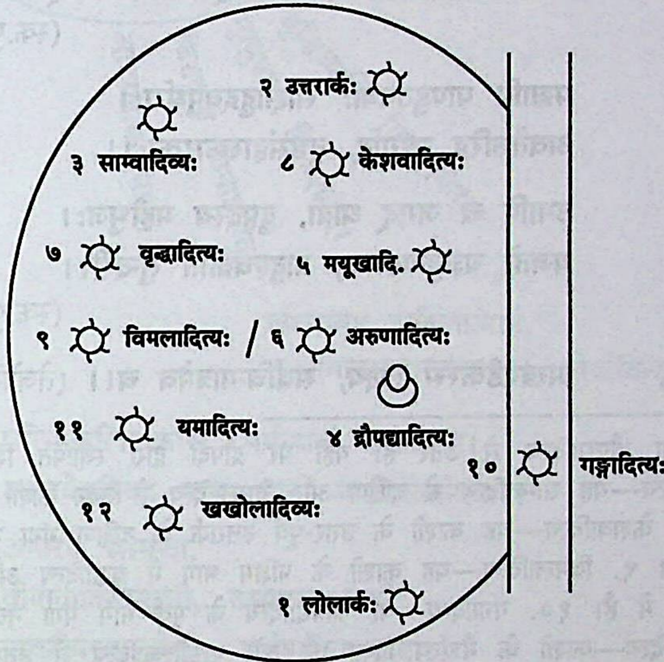
श्रीभगवान् बोले—प्रिय उद्धव! जब जीव अज्ञानवश स्वरूप को भूलकर स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में तादात्म्याध्यास करके सर्वथा मिथ्या बुद्धि कर लेता है तब वह मन के द्वारा सत्त्व गुण से फिसलकर घोर रजोगुण से व्याप्त हो जाता है।

बस जहाँ मन में रजोगुण की प्रधानता हुयी कि उसमें संकल्प विकल्पों का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। तब वह विषयों का चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्गति के कारणभूत कामनाओं के जाल में फँस कर विवश हो जाता है। फिर उनसे छूटना कठिन हो जाता है। वह अज्ञानी कामवश नानाप्रकार के कर्म करने लगता है। उन कर्मों का फल दुःख है इस प्रकार जानता हुआ भी इन्द्रियों के वश में होकर उन्हें ही करता है। उस समय वह रजोगुण के तीव्र वेग से अव्यक्त रूप से विमोहित हो जाता है।

(श्रीमद्भाग. ११/१३/९)

जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों आवस्थाएँ क्रमशः सत्त्व-रज और तमो गुणों के

मयि तुर्ये स्थितो जह्या; त्त्यागस्तद्गुणचेतसाम्।।



वेगानुसार होती है। ये तीनों बुद्धि की वृत्तियाँ है और बुद्धि ही इनके रूप में परिणत होती है। ये सच्चिदानन्द का स्वभाव नहीं है इन वृत्तियों का साक्षी होने के कारण जीव इनमें विलक्षण है। यह सभी शास्त्रों का निश्चय है।

तीनों आवस्थाओं में अनुस्यूत एवं विलक्षण मुझ तुरीय तत्त्व में स्थित होकर इस बुद्धि के बन्धन का परित्याग कर दें तब विषय और चित्त दोनों का एक साथ परित्याग हो जाता है। (श्रीमद्भा. ११/१३)

काशी में बारहों आदित्य (सूर्य) हैं और शुभ लक्षण (स्वरूप) वाले भी हैं तथा शुभद है। वे हैं—१. लोलार्क—जिसे लोलार्क कुण्ड भी कहते हैं। यह काशी के दक्षिण पूर्व गंगा और असि नदी के संगम के पास में है। २. उत्तरार्क—यह काशी के उत्तर पूर्व गंगा तट के पास ही है। ३. साम्वादित्य—यह काशी के उत्तर पश्चिम दिशा में है। ४. द्रौपद्यादित्य—यह लोलार्क के उत्तर भाग में स्थित है। ५. मयूखादित्य—यह काशी के मध्यभाग में केशवादित्य से दक्षिण और अरूणादित्य से उत्तर है। ६. अरुणादित्य—यह मयूखादित्य से

पुराण संहिता तात?, ब्रूते त्रैकालिकीं कथाम्।
सन्देहो नात्र कर्तव्यो, यतस्तद्गोचरोऽखिलम्।।
(स्क.पु.का. ४९/२)

पञ्चापि पाण्डुतनयाः साक्षाद्रुद्रवपुर्धराः।
अवतेरुरिह स्वर्गाद्, दुष्टसंहारकारकाः।।

उमापि च जगद् धात्री, द्रुपदस्य महीभुजः।
यजतो यज्ञकुण्डाच्च, प्रादुश्चक्रेति सुन्दरी।।
(स्क.पु.का. ४९/२)

अखण्डैकरसं लक्ष्यं, सर्वचिन्मात्रमेव च।। (तेजोविन्दूप. २)

दक्षिण तथा द्रौपद्यादित्य से उत्तर है। यहीं पर द्रौपदी द्वारा स्थापित शिवलिंग भी है। ७. वृद्धादित्य—यह साम्बादित्य से दक्षिण और विमलादित्य से उत्तर काशी के पश्चिम भाग में है। ८. केशवादित्य—यह काशी के उत्तर-पूर्व उत्तरार्क के दक्षिण गंगा नदी के तट के नजदीक है। ९. विमलादित्य—यह काशी के पश्चिम भाग में वृद्धादित्य और यमादित्य के मध्य भाग में है। १०. गंगादित्य—यह द्रौपद्यादित्य के पूर्व भाग गंगा नदी में स्थित है। ११. यमादित्य—काशी के नैर्ऋत्य दिशा की ओर खखोल्कादित्य से उत्तर की दिशा में है। १२. खखोल्कादित्य—यह काशी की दक्षिण पश्चिम दिशा में यमादित्य से दक्षिण में है। (स्क.पु.का. ४९)

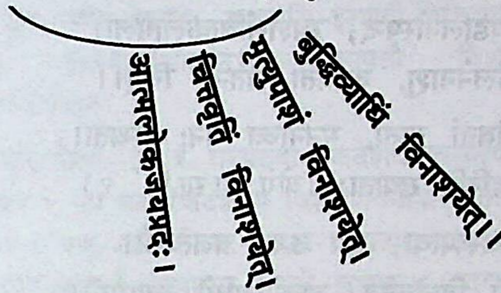
हे तात! जिन्होंने नाना पुराणों संहिताओं को तथा उनमें भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों की कथा कही वे व्यास त्रिकाल वेत्ता हैं इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए।
(स्क.पु.का. ४९/२)

पाण्डु के पाँचों पुत्र साक्षाद् रूद्र के रूप को धारण करके दुष्टों का संहार करने के लिए स्वर्ग से अवतरित हुए। (स्क.पु.का. ४९/२)

जगद् धात्री उमा भी यज्ञ करते हुए द्रुपद राजा के यज्ञ कुण्ड से द्रौपदी के रूप में प्रकट हुयी। (स्क.पु.का. ४९/२)

भाग त्याग लक्षणा के द्वारा लक्ष्य आत्मा अखण्ड है ऐसा जानना चाहिये। जिसमें सजातीय विजातीय स्वगत भेद नहीं है अथवा यह परिच्छेदत्रयशून्य है अर्थात् देश से काल से तथा वस्तु से परिच्छिन्न नहीं है। यह एकरस है और परिणामी नहीं है तथा चिन्मात्र है। (तेजोवि.उ. २)

अहं ब्रह्मेति मन्त्रोऽयं, दृश्यपापं विनाशयेत्।।



लक्ष्यात्मा ललितात्माहं,
तूष्णीमात्मस्वभाववान्।। (तेजोविन्दूप. ४)

परिमण्डलिताकारा, मर्मस्थानं समाश्रिता।
आन्त्रवेष्टनिका नाम, नाडी नाडीशतान्विता।।
अनारतं सस्पन्दा,
वीणाग्रावर्तसदृशी, तस्यास्त्वभ्यन्तरे,
पावनीपरमाशक्तिः, सर्वशक्तिवलप्रदा।

यह महावाक्यात्मक मन्त्र दृश्यप्रपञ्च के पाप को नष्ट कर देता है। यही मन्त्र बुद्धि व्याधि को अन्यथा ग्रहणरूपी अज्ञान से निवृत्त करता है। यही मन्त्र जन्म-मरण को समाप्त कर देता है। यही मन्त्र चित्त की विषयाकाराकारित वृत्ति को नष्ट कर आत्माकाराकारित कर देता है। यही मन्त्र आत्मलोक को प्रकाशित कर देता है। (तेजोविन्दूप. २)

मैं लक्षीभूत शुद्ध चेतन्य रूप ललितात्मा हूँ। शान्तात्मा और आत्मा के स्वभाव वाला हूँ। (तेजोविन्दूप.४)

हे राघव! मण्डलाकार (गोल कुण्डलाकार) से युक्त मर्म स्थान (नाभि) स्थान में समाश्रित सौ नाड़ियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नाम की नाड़ी है। गुदा से लेकर भौंह के बीच तक सब छिद्रों का स्पर्श करती हुयी वह सुषुम्ना नाड़ी मन की वृत्तियों से भीतर चञ्चल और बाहर प्राणादि से स्पन्द युक्त होकर सदा स्थित रहती है। वीणा के अग्र आवर्त के समान, उसके भीतर प्राणियों की अति पवित्र परम शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि

अस्यां समस्ताः सम्वद्धा, नाड्यो हृदयकोशगाः।।

सातः कुण्डलिनीस्पन्द-, स्पर्शसंवित्कलामला।

कलोक्ताकलनेनाशु, कथिता चेतनेन चित्।।

जीवनाज्जीवतां याता, मननाच्च मनः स्थिता।

बोधाद्बुद्धिरिति ख्याता। (योग वा.सा.नि. ९)

प्राणापानस्वरूपत्वा-, दध ऊर्ध्वं व्रजत्यसौ।

सर्वथात्मनि तिष्ठेच्चेत्, त्यक्तोर्ध्वाधो गमागमौ।

तज्जन्तो र्हीयते व्याधिः, अन्तर्मारुतरोधतः।।

देहदुःखं विदु र्व्याधिं, आध्याख्यं वासनामयम्।

मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्, तत्त्वज्ञानपरिक्षये।।

ब्रह्मामृतरसास्वादो, ब्रह्मामृतरसायनः।

ब्रह्मामृतरसारक्तो, ब्रह्मामृतरसः स्वयम्।। (तेजोवि.उ. ४)

आदि सभी शक्तियों की स्फूर्ति सत्ता का निर्वाहक होने से सबको बल, वेग प्रदान करने वाली है। इस कुण्डलिनी में हृदय कोश की समस्त नाड़ियाँ सम्मित है। यह कोमल स्पर्श वाली कुण्डलिनी कमल में भ्रमर की तरह देह में जैसे-जैसे स्फुरित होती है वैसे-वैसे ही अन्तःकरण में ज्ञान उत्पन्न होता है। यह कलनात्मक होने से कला तथा चेतनादान से चित् जीवनदान से जीव एवं मनन करने से मनःरूप में स्थित है। स्फुरण द्वारा बुद्धि में बोधदायिनी होने से इसे 'बुद्धि' कहते हैं, अर्थात् यह सकलज्ञान का कारण भूता है।

(यो.वा.सा.नि. ९)

यह सुषुम्ना अपने मुख से प्राण वायु को ऊपर फेंकती है और अपान वायु को नीचे से खींचती है। जब यह ऊपर नीचे का व्यापार बन्द कर आत्मा में ही स्थिर हो जाती है तब प्राणापान की गति का रोध हो जाता है और अन्तर्वायुनिरोध से साधकों की व्याधि नष्ट हो जाती है।

देह के ज्वरादि दुःखों को व्याधि कहा गया है और मानसिक वासनात्मक विकारों को आधि कहा जाता है। तत्त्वज्ञान के क्षय होने पर उन दोनों को मूर्खता का मूल कहते हैं।

ब्रह्मामृत रस का स्वाद ब्रह्मामृत रसायन है, शनैः शनैः लाभ देने वाला है। जो व्यक्ति ब्रह्मामृत रस में आसक्त है वह स्वयं ब्रह्मामृत रस स्वरूप है (रसो वै सः) इत्यादि।

(तेजोवि.उ. ४)

तत्त्वमसि

वयं तु ब्रूमः-सोयं देवदत्तः, तत्त्वमसि–इत्यादौ विशिष्टवाचकपदानां एकदेशपरत्वेपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपतस्थियोः एवाभेदान्वयाऽविरोधात्।

यथा–घटोऽनित्यः-इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः। यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वातन्त्रेणोपस्थितये लक्षणाभ्युपगमः। यथा–घटो नित्यः-इत्यत्र-घटपदाद् घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा। (आगम प्र.वे.प.)

एवमेव तत्त्वमसीत्यादि वाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वं पदार्थयोरभेदान्वये वाधकाभावात्। अन्यथा–गेहे घटो, घटे रूपम्, घटमानय, इत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्।

तत्त्वमसि

सर्वज्ञपादाचार्यादि भागत्याग लक्षणा को लेकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप में तत् एवं त्वं पद की लक्षणा मानते है, किन्तु ग्रन्थकार इससे यह सहमत नहीं है। अतः 'वयन्तु ब्रूमः' इस प्रकार निर्देश किया।

'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है तथा 'तत्त्वमसि' वह (ब्रह्म) तू है, इत्यादि वाक्यों में सः एवं-तत् और त्वं ये विशिष्ट वाचक पद यद्यपि विशेष्य के एक देश के बोधक है तथापि उस बोध के लिए उन पदों की विशेष्यांश में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि शक्ति वृत्ति से ज्ञात हुए तत्काल तथा एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त के अभेदान्वयरूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने पर भी शक्ति वृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का आभेदान्वय करने से किसी प्रकार का विरोध नहीं। जैसे 'घट अनित्य है' इस वाक्य में घट पद के घटत्त्व जाति विशिष्ट घट रूप वाच्यार्थ का एक देश (विशेषणांश) यद्यपि अनित्यत्त्व के साथ अन्वित होने के योग्य नहीं है। क्योंकि वह नित्य है तथापि अन्वययोग्य घट व्यक्ति रूप विशेष्यांश के साथ उसका अन्वय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि हम घट व्यक्ति को ही अनित्य समझते हैं, घटत्व जाति को नहीं। यह ज्ञान शक्ति से ही गृहीत होता है। अतः लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है। (आगम प्र.वे.प.)

जिस वाक्य में पदार्थ के रूपदेश की विशेषण रूप से उपस्थिति हो वहीं पर उसकी (केवल विशेषण) की स्वतन्त्रतया उपस्थिति होने के लिए लक्षणा को स्वीकार करना पड़ता

तस्मात् तत्त्वमसीत्यादि वाक्येषु आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेनबोध्या।। (वादिवलपरीक्षणार्थं अनिष्टस्वीकारोऽभ्युपगमवादः।) (टी.)

(लक्षणावीजं–तात्पर्यानुपपत्तिः।।)

मन्त्रमात्रस्याङ्गानि १४।।

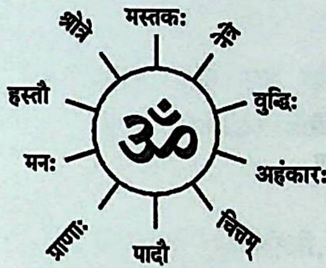
१. कवचं, २. पञ्जरं, ३. हृदयं, ४. अष्टोत्तरशतनाम, ५. अङ्गस्तुतिः ६. मन्त्रं, ७. पुरश्चरणं, ८. अङ्गन्यासं, ९. करन्यासं, १०. माहात्म्यं, ११. सहस्रनाम, १२. स्तवराजः, १३. मालामन्त्रः, १४. अनुस्मृतिः। (प्रणव कल्पे)

है। यथा 'घटो नित्यः' घट नित्य है। इस वाक्य में घट पद से शक्ति वृत्ति के द्वारा केवल घटत्व की स्वतन्त्रतया उपस्थिति (ज्ञान) नहीं होती इसलिए घटपद से घटत्व की उपस्थिति के लिए घट पद की घटत्त्व में लक्षणा की जाती है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी लक्षणा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब शक्ति के द्वारा स्वतन्त्रतया (सर्वज्ञत्त्वादि विशेषणों की अपेक्षा न करते हुए केवल विशेष्य रूप से) चैतन्यरूप से उपस्थित होने वाले तत् और त्वं पदार्थों का अभेदान्वय होने में कोई भी बाधक नहीं है, तथापि घर में घट है, घट में रूप है, घट लाओं आदि वाक्यों में भी घटत्व गेहत्व आदि धर्मो ने गृहार्थ पदार्थ रूप अंशों में अभिमत अन्वयबोध करा देने की योग्यता न होने से वहाँ पर भी घटादि पदों का केवल विशेष्यपरत्त्व लक्षणा से हीं बोध होने लगेगा इसलिए पूर्वाचार्यों ने तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों से भाग त्याग लक्षणा को अभ्युपगमवाद से स्वीकार किया है। वादी के बल को क्षीण करने के लिए अनिष्टस्वीकृति को अभ्युपगमवाद कहते हैं। लक्षणाबीज को तात्पर्यानुपपत्ति कहते हैं अर्थात् तात्पर्य सिद्ध न होने पर लक्षणा होती है। (टी.)

मन्त्र मात्र के चौदह अङ्ग

प्रणव कल्प के अनुसार मन्त्र के चौदह अङ्ग कहे गये हैं। चौदहों अङ्गों के द्वारा अनुष्ठीयमान मन्त्र फल को देने में कल्पवृक्ष के समान समर्थ होता है। अतः साधक को इन निम्नलिखित चौदहों अङ्गों को उपासना में ग्रहण करना चाहिये। ये अङ्ग हैं— १. कवच का पाठ, २. पञ्जर स्तोत्र का पाठ, ३. मन्त्र के हृदय स्तोत्र का पाठ, ४. अष्टोत्तरशतनाम स्तोत्र का पाठ, ५. आराध्य की अङ्गस्तुति करना, ६. मन्त्र का जप, ७. मन्त्र का पुरश्चरण करना, ८. अङ्गन्यास करना, ९. करन्यास करना, १०. माहात्म्य का पारायण, ११. सहस्रनाम स्तोत्र पारायण, १२. स्तवराज का पाठ, १३. माला मन्त्र का जप और १४. अनुस्मृति (तत्त्वचर्चा कर परस्पर में सत्संङ्ग करना। (प्रणवकल्प)



ब्रह्मास्त्रविद्या-श्रीविद्यार्णवतन्त्रे २३, पृ. २०१

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य, पित्रो नौं प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगोऽपि, मत्संदेशै र्विमोचय।।

ता मन्मनस्का मत्प्राणा, मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठ, मात्मानं मनसा गताः।।

साधक को 'ॐ'पद वाच्य या प्रणवाक्षर वाच्य ब्रह्म की उपासना को इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये कि प्रणवक्षर 'ॐ' ब्रह्म व्यापक है और वह मस्तक श्रोत्र-नेत्र-हस्त-बुद्धि-मन-अहंकार-चित्त-प्राण और पाद सभी में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त है। प्रमवाक्षर 'ॐ' ब्रह्म ही सभी भूतों के कारण और अधिष्ठान भी है। कारण की सत्ता से ही यह जीवात्मा 'अहं अस्मि' मैं हूँ इस प्रकार अपनी सत्ता का अनुभव करता है। यह नियम है कि कारण सत्ता ही सत्य होता है और कार्य सत्ता की स्वयं की सत्ता नहीं होती एवं कार्य सत्ता भ्रान्ति है। यथा—घटरूप कार्य के प्रति कारण सत्ता मृतिका है। घट सम्पूर्ण रूप से मृत्सत्ता (मृत्तिका सत्ता) वाला ही होता है। क्योंकि घटगत सम्पूर्ण अवयव मृन्मय (मृतिकामय) ही होता है। घट में मृत्तिका के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु की उपलब्धि नहीं देखी जाती। अत: घट (घड़ा) सम्पूर्ण रूप से मृन्मय ही होता है अत: कारण सत्ता मात्र ही सत् है तथा (उसी प्रकार) ओंकार ब्रह्म ही सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है, इसलिए ओंकारमय यह जीवात्मा का शरीर है अर्थात् तन्मय (ओंकारमय) है, ऐसा जानना चाहिये। यह ब्रह्मास्त्र विद्या है, इसे श्री विद्यार्णवतन्त्र के २३, पृ. १०१ में देखना चाहिये।

हे सोम्य उद्धव! तुम व्रज में जाओ वहाँ मेरे पिता नन्द बाबा, यशोदा माता हैं, उन्हें आनन्दित करो तथा गोपियाँ मेरे विरह की व्याधि से अत्यन्त पीड़ित हैं, उन्हें मेरे

ये त्यक्तलोकधर्माश्च, मदर्थे तान् विभर्म्यहम्। (श्रीमद्भा. १०)

साधुः
अमितबोधः, प्रेमहरिः
जिज्ञासा, करुणा
शीलम्, प्रमोदः
लुण्टाकाः
अभिलाशः

सन्देश सुनाकर वेदना मुक्त करो। प्यारे उद्धव गोपियों का मन नित्य निरन्तर मुझमें लगा रहता है। उनके प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ। मेरे लिए उन्होंने अपने पति पुत्र आदि सभी सगे सम्बन्धियों को छोड़ दिया है। उन्होंने अपनी बुद्धि में मुझे ही अत्यन्त प्रियतम तथा आत्मा मात्र मान रखा है। वे सर्वतोभाव से मत्परा हो गई हैं, यथा—मेरा यह व्रत है कि जो लोग मेरे लिए लौकिक तथा पारलौकिक धर्म छोड़ देते है उनका भरण पोषण मैं स्वयं करता हूँ। (श्रीमद्भा. १०)

यहाँ साधु का लक्षण दिया जा रहा है। प्रश्न उठता है कि साधु कौन है? प्रायः सामान्य रूप से बाल-दाढ़ी बढ़ाये हुए, लंगोट पहने हुए या अन्य रूप से वस्त्र धारण किये हुए त्रिपुण्ड्रधारी आदि को लोग साधु-बाबा-सन्त-महात्मा आदि शब्दों से सम्बोधित करते हैं। ये वस्तुतस्तु साधु के वाह्यस्वरूप ही हैं। परन्तु साधु के अन्तःस्वरूप वाह्यस्वरूप के सापेक्ष नहीं होते। वे किसी भी वाह्य में हो सकते हैं। परन्तु उनके अन्तःस्वरूप अमितबोध वाला होता है। अमित बोध अर्थात् भगवान् हरि में अमित और अनन्य प्रेम को कहते हैं। उन्हें सतत् जिज्ञासा होती है। यहाँ जिज्ञासा का स्वरूप है कि—भगवान् हरि मेरे ऊपर कब करुणा करते हैं? कब करेंगे? हमारी उपासना और सेवा में कुछ कमी है? वे हरि करुणा के सागर हैं। हममें कमी रहने पर भी दया अवश्य करेंगे। इत्यादि रूप से ईश्वर के प्रति जिज्ञासा रखने वाला साधु होता है। वह साधु शीलवान् होता है अर्थात् उसका शील (स्वभाव) सदा प्रसन्न रहने वाला होता है। वह साधु प्रारब्ध से प्राप्त वस्तुओं में हरि कृपा समझ कर तृप्त रहता है और प्रभु-हरि की अहैतुकी कृपा का स्मरण-कर-करके सदा आनन्द में मग्न रहता है। इस प्रकार के स्वभाव वाला व्यक्ति साधु होता है।

इससे इतर को असाधु अर्थात् दुर्जन-अपवित्र-दुष्ट कहा जाता है। ऐसा इसलिए कि आशारूपी लुण्ठक (लुटेरा) उसकी आध्यात्मिक सम्पदा-धैर्य-दया-सन्तोष-तृप्ति-मोद-प्रमोद-आनन्द-सुख को लूट लिया होता है और वह निर्धन-अकिञ्चन होकर पुनः-पुनः-धन-दौलत-

आग्नेयास्त्रविद्या–श्रीविद्यार्ण तन्त्रे २५, पृ. १६३।

कनखलः

खलः को नात्र मुक्तिं वै, भजते तत्र मज्जनात्।
अतः कनखलं तीर्थं, चक्रु र्नाम्ना मुनीश्वराः।। (स्क.पु.टी.)

दिग्गजाः

ऐरावतः पुण्डरीको, वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः, सुप्रतीकश्च दिग्गजाः।।

पुत्र-पत्नी-इष्ट-मित्र-घर-मकान-घोड़ा-गाड़ी आदि की भौतिक खोज में व्याकुल होता है। इसलिए ऐसे असाधुजन भगवान् हरि की कृपा प्रसाद को नहीं पाता। कहा है—

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरङ्गाकुला, रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोतुङ्गचितातटी, तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दति योगीश्वराः।।
(वैराग्यशतक १०)

अर्थ है—आशा नाम की एक नदी है। जिसमें मनोरथरूपी जल भरा है। उस नदी के मनोरथरूपी जल में तृष्णारूपी तरङ्ग उसे व्याकुल (क्षुब्ध) किये रहता है। उसमें रागरूपी ग्राह का निवास है, तर्क-वितर्क रूपी जलीय पक्षियाँ उसमें निवास करती है तथा उसमें उठने वाली तृष्णा रूपी तरङ्ग उसके किनारे (तट) पर स्थित धैर्यरूपीवृक्ष को उखाड़ फेकता है। इतना ही नहीं उसमें मोहरूपी आवर्त (भ्रमी) और उसकी गहराई भी अधिक है तथा चिन्तारूपी तट इतनी ऊँची है की उसको पार करना अर्थात् उसके ऊपर आना बहुत कठिन है। लेकिन उसको पार करने वाले लोग वे योगीश्वर लोग होते हैं जिनके मन विशुद्ध हो चुके हैं। जिसे काम-क्रोध-मोह-मात्सर्य-राग-द्वेष इच्छा-संकल्प नहीं है। ऐसे लोग सहज भाव से उस आशा नाम की नदी को पार कर जाते हैं और उसे पार कर आनन्द (सुख) का अनुभव करते हैं। यही आग्नेयास्त्र विद्या है जिससे असाधुजन पीड़ित होते हैं इसे श्रीविद्यार्णवतन्त्र के २५, पृ. १६३ पर देखना चाहिये। (श्रीमद्भा. १०)

कनखल

यहाँ पर स्नान करने से कौन खल अर्थात् दुष्टजन मुक्ति को न प्राप्त करते हैं? अर्थात् सभी मुक्ति को प्राप्त करते हैं। अतः इस तीर्थ का नाम मुनीश्वरों ने कनखल रख दिया। (स्क.पु.टी.)

दिग्गज

भूमण्डल में दश दिशाएँ हैं—पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ये चार हुए। इन चारों दिशाओं

रात्रि सूक्तम्

ॐ आरात्रि पार्थिव ㆁ रजः पितुरप्रायि धामभिः दिवः सदा ㆁ सि वृहती-व्वितिष्ठ सऽआत्वेषं वर्तते तमः।

उषस्तच्चित्रमाभरास्स्मभ्यं त्वाजिनीवति। येत तोकञ्च तनयञ्च धामहे। –कर्मठगुरु

जप लक्षणम्

मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो, मन्त्रमध्ये स्थितं मनः। मनोमन्त्रसमायुक्तम् एतद्धि जप लक्षणम्।। –कर्मठगुरु

के अन्य दिशा के साथ मिलन विन्दु को भी दिशा कहते हैं। वे हैं—अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण कोण), नैर्ऋत्य (दक्षिण पश्चिम कोण), वायव्य (पश्चिम उत्तर कोण) और ईशान (उत्तर पूर्व कोण) इस तरह अब तक आठ दिशाएँ हो गयी। नौवीं दिशा ऊर्ध्व दिशा (ऊपर की ओर) और दशवी अधो दिशा (नीचे की ओर)। इन पूर्वादि आठ दिशाओं में रहने वाले और उस दिशा की रक्षा करने वाले गज (हाथी) हैं जिसे दिग्गज कहते हैं। वे हैं—१. ऐरावत, २. पुण्डरीक, ३. वामन, ४. कुमुद, ५. अञ्जन, ६. पुष्पदन्त, ७. सार्वभौम और ८ सुप्रीक। इस तरह ये आठ इन्द्र के द्वारा नियुक्त आठ दिशाओं में आठ दिग्गजों का यहाँ उल्लेख है।

रात्रि सूक्त

हे रात्रि! तुम ऐसी हो कि तुम्हारे द्वारा यह पृथिवी सम्बन्धि लोक मध्यम लोक के स्थानों के साथ-साथ समन्तात् चारों ओर से परिपूरित हो रहा है—और तुम देवि पृथिवी द्युलोक (स्वर्ग) लोकों के स्थानों को भी अपने महान् आकार में स्थित होकर आक्रान्त कर रही हो। तुम्हारा यह तम अन्धकार प्रवर्तमान होकर जो दीप्त हो रहा है उसकी हम स्तुति करते हैं।

हे उषा देवता! तुम अन्नवती हो इसलिये तुम हमारे लिए जो प्रसिद्ध महनीय तथा आश्चर्यकारि धन है उसे दो। जिस धन से हमारे पुत्र आदि सभी का भरण-पोषण हो पावे (कर्मठगुरु)

जप लक्षण

जब जप करना प्रारम्भ हो तो मन में मन्त्र और मन्त्र में मन का तादात्म्य होना चाहिये और जब तक ऐसी एकाकारता प्राप्त नहीं होती तब-तक जप प्रारम्भ नहीं होता। जल में शक्कर मिलाने पर जिस तरह जल और शक्कर को अलग-अलग स्वरूप में नहीं देखते बल्कि दोनों एक स्वरूप हो जाते हैं, उसी तरह मन्त्र और मन दोनों की एकात्मता को ही जप कहते हैं। (कर्मठगुरु)

स्तम्भिनीविद्या (ब्रह्मास्त्रम्) श्रीविद्यार्णव तन्त्रे २३ स्वा.।

ॐ ह्ल्रीं वगलामुखि सर्वदुष्टानां मुखं वाचं पदं स्तम्भय जिह्वां कीलय बुद्धिं विनाशय ह्ल्रीं ॐ स्वाहा।।

ऋषि नारायणाः। छ.अनु.। दे. वगला.। पुरुषार्थ चतुष्टये विनियोगः।

हंजिकत्वं यथा प्राप्ता, विनता सा तपस्विनी।

(स्क.पु.का.उ. ३.१/३)

पाञ्चाल्यपि तत्पत्नी, ब्रध्नमाराधयद् भृशम्।
रसवद्व्यञ्जननिधि; रिच्छाभैक्ष्यप्रदायिनी।
सदर्वी सपिधानां च, स्थालिकामक्षयां ददौ।।१०।।

(स्क.पु.का.उ. ४८१)

यह बगलामुखी का स्तम्भन मन्त्र है और इसी का मूल रक्षोहणं वलगहनं इत्यादि यजुर्वेद है। बलग शब्द का ही व्यात्यस करके वगल किया गया है।

हे बगलामुखि! सभी दुष्टों के मुख को, वाणी को, पैरों को, जिह्वा को स्तम्भित करो एवं कीलित करो तथा दुष्टों की बुद्धि को नष्ट करो। यहाँ ह्ल्रीं यह बीज मन्त्र है।

इस मन्त्र के नारायण ऋषि-अनुष्टुप छन्द बगलामुखी देवता और इसका पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्ति में विनियोग है। विशेष इसकी पद्धति में देखें।

यहाँ हंजिकत्व का अर्थ है दासी के लिए प्रयोग किया जाने वाला शब्द। जो हेय भावना से प्रयोग किया जाता है। यथा—'हंजे कंचणमाले अहम् इदिसो कडुभासिणी' (रत्न. ३) गरुड़ जी की माता का नाम विनिता है। वह अपने सौत द्वारा दासी बना ली गयी थी। उन्हें अपमानित किया जाता था, परन्तु वह तपस्विनी थी। उनके तेजस्वि पुत्र गरुड़ जी ने उन्हें दासी कर्म से मुक्त कराया था। इनता ही नहीं गरुड़ जी की तपस्या श्रद्धा विश्वास ने उन्हें परम पिता परमात्मा श्रीविष्णु भगवान् के वाहन का पद प्राप्त कराकर विनिता को गौरव प्राप्त कराया। इसी तथ्य को यहाँ कहा गया है। (स्क.पु.का.उ. १/३)

पाँचों पाण्डवों की पत्नी पाञ्चाली द्रौपदी ने सूर्य की अतिशय आराधना की इस आराधना से प्रसन्न भगवान् सूर्य ने द्रौपदी के लिए रसीले व्यञ्जनों की खान इच्छानुसार भोजन प्रदान करने वाला कलछु और ढक्कन के सहित अक्षय थाली अर्थात् पतीली प्रदान की। (स्क.पु.पू. ४८/१/९-१०)

पतिव्रता

आर्ताऽऽर्ते मुदिते हृष्टा, प्रोपिते मलिना कृशा।
मृते मृयेत या पत्यौ, सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।। (वृहस्पति स्मृ.)

हे देव हे दयित हे भुवनैकवन्धो,
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम,
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे।। (श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

स समानः सन् उभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव।
(श्रुतिः)

बुद्धितादात्म्यं प्राप्तः लोलुपोभवति। (नीलक./भा.व.)

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा, धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवता ववृधु, धर्मे चार्थसमाहितः।। (महाभा.व. ३१३)

पतिव्रता

जो स्त्री पति के दुःख ग्रस्त होने पर दुःखी होती है और प्रसन्न होने पर प्रसन्न होती है तथा जो स्त्री पति के परदेश जाने पर मलिन वस्त्रादि धारण करे, सजावट न करे एवं जो स्त्री कृश हो जाय। पति के मरने पर जो स्त्री सती हो जाय अर्थात् पति के साथ ही अपने शरीर को चिता में अर्पित कर दे वह स्त्री पतिव्रता कहलाती है।
(वृहस्पति स्मृ.)

हे देव! हे दयालो! हे चौदह भुवनों के एकमात्र बन्धु! अर्थात् हितेषी, हे कृष्ण! अर्थात् पापों के कर्षण करने वाले, हे चपल चित्त! हे करुणा के सागर! हे अनाथों के नाथ! हे आनन्द देने वाले! रमण कराने वाले! हे नेत्रों के अभिराम! मनोहर! तुम मेरे नेत्रों के कब विषय बनोगे? कब दर्शन दोगे? (श्रीकृष्णकर्णमृत)

वह परब्रह्म सबमें समान रूप से रहकर दोनों लोकों का सञ्चार करता है अथवा दोनों लोकों में सञ्चरण करता है। वे ब्रह्म (परमात्मा) ध्यान करता हुआ सां और क्रियाशील होता हुआ सा लोकों में संचरण करता है। (श्रुतिः)

वह बुद्धि के साथ तादात्म्य प्राप्त होने पर ध्यान करता है, लोलुप जैसा होता है।
(नीलक. भा.व.)

धर्म से ही ऋषि संसार सागर से पार हुए, धर्म में ही सभी लोक ठहरे हुए है, धर्म से ही देवता वृद्धि को प्राप्त हुए, धर्म में ही सर्वार्थ समाहित है। (महा.भार.व. ३१३)

दशहरा

दशमी शुक्लपक्षे तु, ज्येष्ठे मासि कुजेऽहनि।
अवतीर्णा यतः स्वर्गात्, हस्तर्क्षे च सरिद्वारा।
हरते दश पापानि तस्माद्दशहरा स्मृता। (वाराहे)

दशयोगा स्कान्दे—

ज्येष्ठे[1] मासि सिते[2] पक्षे दश[3]म्यां बुध[4] हस्त[5]योः।
व्यती[6]पाते गरा[7]नन्दे, कन्या[8]चन्द्रे वृषे[9] रवौ।।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः। (७/७)
मनसैतानि भूतानि, प्रणमेद्बहुमानयन्। (३/२९)
कामैस्तैः साधुमानयेत्। (श्रीमद्भा.)

तृप्यन्ति नेह कृपणा, वहुदुःखभाजः। (श्रीमद्भा. ७/९/४५)

अहर्निशं श्रुतेर्जाप्या, च्छौचाचार निषेवणात्।
अद्रोहवत्या बुध्या च, पूर्वं जन्म स्मरेद् बुधः।। (स्क.पु.का.ख. ३८)

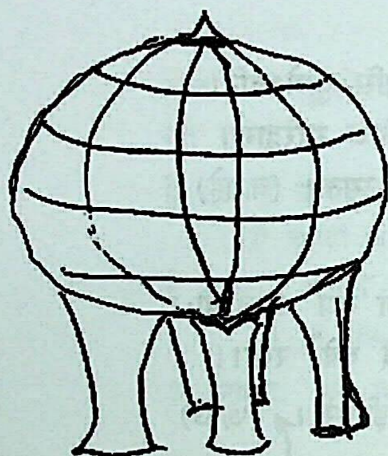
ज्येष्ठ की शुक्लपक्ष दशमी को मंगलवार के दिन हस्तनक्षत्र में स्वर्ग से गंगा जी भूमि पर अवतरित हुई वे दश पापों को हरती हैं अतः इनका नाम दशहरा हुआ। (वराह पु.)

जिस समय (दिन) पुण्यसलिला माता गंगा का अवतरण पृथिवी पर हुआ था, उस दिवस को दसयोग (ग्रहमण्डल में स्थित नक्षत्रों के संयोग) थे। १. ज्येष्ठमास, २. शुक्लपक्ष, ३. दशमी तिथि, ४. बुधवार, ५. हस्तनक्षत्र का योग, ६. व्यतिपात योग, ७. गरकरण, ८. आनन्द योग, ९. कन्या का चन्द्र और १०. वृष राशि का सूर्य था। इसलिए भी दशहरा नाम गंगावतरण दिवस का है।

श्रीहरि भगवान् सभी प्राणियों में बसे हुए हैं इसलिए सभी जीव-जन्तुओं को मन से भगवद्रूप समझते हुए सम्मानपूर्वक प्रणाम करें। (श्रीमद्भा. ७/७-३/२९)

नाना दुःखों का उपभोग करते हुए आत्मज्ञान शून्य कृपण कभी भी तृप्त नहीं होते।
(श्रीमद्भा. ७/९/४५)

शौचाचार का आचरण करते हुए रात-दिन वेद का अध्ययन और द्रोह रहित बुद्धि से विद्वान् साधक को पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है। (स्व.पु.का.ख. ३८)



दयालुरमदस्पर्श उपकारी जितेन्द्रियः।
एतैश्च पुण्यस्तम्भैः चतुर्भिर्धार्यते मही।।
(शि.पु.का.रू. २४/२५)

विद्यामोक्षकरी प्रोक्ता, सन्तोषो नन्दनं बनम्।
धर्मः कामदुधा धेनुः, तृष्णा वैतरणी नदी।। (वृ.ना.पु. २५/७२)
अधीत्यवेदशास्त्राणि, संसारे रागिणश्च ये।
तेभ्यः परो न मूर्खोऽस्ति, सधर्माः श्वाश्वसूकरैः।।
(दे.भा. १/१४/४)

देशकालक्रियाद्रव्य, कर्तृणां शुद्धता यदि।
मन्त्राणां च तदा पूर्णं, कर्मणां फलमश्नुते।।

दयालुता-मदशून्यता-उपकारिता और जितेन्द्रियता इन चार पुण्य स्तम्भों से पृथिवी का धारण हो रहा है। (शि.पु.का.रु. २४/२५)

विद्या मोक्ष प्रदान करती है, 'सा विद्या या विमुक्तये' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सन्तोष-नन्दवन है, धर्म काम धेनु गौ है और तृष्णा वैतरणी नामक नरकगामिनी नदी है। (वृ.ना.पु. २५/७२)

जो वेद-शास्त्रों को पढ़ कर भी संसार में समासक्त है उनसे बड़ा कौन मूर्ख है? वे कुत्ता, अश्व और सूअर के समान धर्म (स्वभाव) को धारण करने वाले हैं।
(दे.भा. १/१४/४)

देश-काल-क्रिया-द्रव्य तथा कर्त्ता की यदि शुद्धि हो जाय तो मन्त्रों का तथा मन्त्र के साथ किये गये तत्तत्कर्मों का पूर्ण फल निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

अमीति स्ववस्य

अनुक्षण समुत्थिते दुरितवारिधौ दुस्तरे,
यदि क्वचननिष्कृतिः भवति सापि दोषाविला।
तदित्थमगतौ मयि प्रतिविधानसमाधीयताम्
स्वबुद्धिपरिकल्पितं किमपि रंगधुर्य त्वया।।

अनन्य चित्तत्वेन च सिद्धिः।। (भावनोपनि. २९)

श्रीहनुमान्

सर्वासु विद्यासु तपोविधाने प्रस्पर्धतेऽयं हि गुरुं सुराणाम्।
सोयं नवव्याकरणार्थ वेत्ता, ब्रह्म भविष्यत्यपि ते प्रसादात्।।
(वाल्मीकि रा. ७/३६)

वरदानानि

सहस्त्रनयनः कुशेशयमयी माला। हनुमान् नाम मम वज्रावध्यता।

प्रतिक्षण दुरितरुपी जल से संपूर्ण दुस्तर समुद्र उछल रहा है। यदि उससे बचने का कोई उपाय है भी तो वह भी दोष युक्त है, यथा 'पंकेन पङ्कपक्षालनवत्' ही है। इस प्रकार इससे वचने की कोई गति नहीं है। इसकी प्रतिक्रिया का स्वबुद्धि के द्वारा परिकल्पित उपाय भी हे कृष्ण तुम्हें बताना चाहिए।

अनन्यभाव से साधना करने से सिद्धि प्राप्त होती है। (भावनोपनि. २९)

श्री हनुमान्

अगस्त्य जी ने कहा—हे राम! यह हनुमान् सभी विद्याओं तथा तप साधना में देवताओं के गुरु वृहस्पति जी के समान है। यह नव व्याकरण के अर्थ का ज्ञाता होगा तुम्हारी कृपा से यह आगे (भविष्य में) ब्रह्म (परमात्मा) सिद्ध होगा। (वाल्मीकि. रा. ७/३६)

वरदानानि

इन्द्र ने प्रसन्न होकर श्री हनुमान् जी को कमल की माला दी और कहा कि मेरे वज्र से इसकी हनु को घात हुआ है इसलिए इसका नाम हनुमान् होगा तथा अब भविष्य में यह कभी भी मेरे वज्र से हनन योग्य नहीं होगा।

मार्तण्डः-स्वतेजसः शतिकांकलाभः, शास्त्रं दास्यामि येन वाग्मी भविष्यति। न चास्य सदृशः भविता शास्त्रदर्शने।

वरुण-नास्त्र नास्य मृत्यु भविष्यति वर्षायुतशतेनापि मत्पाशादुदकादपि।

यमः–दण्डादवध्यत्वमारोग्यं च। अविषादं संयुगे, गदेयं मामिका नैनं संयुगेषु वधिष्यति।

अर्क्षरजा-बालि सुग्रीवयोः पिता। (वा.रा.उ. ३६/३७)

शंकरः धनदः

मत्तोमदायुधानां च अवध्योऽयं भविष्यति। विश्वकर्मा-मत्कृतानि शस्त्रानि यानि दिव्यानि तानि च। तैरवध्यत्वमापन्नश्चिरञ्जीवी भविष्यति।

ब्रह्मा-दीर्घायुर्महात्मा च सर्वेषां ब्रह्मदण्डानामवध्यः। कामरूपः कामचारी कामगः प्लवतां वरः, अमित्राणां भयंकरः मित्राणामभयंकरः।

सूर्य भगवान् ने अपने तेज से शतिका कला प्रदान कर हनुमान् जी से कहा कि— मैं तुम्हारे लिए शास्त्रज्ञान दूँगा जिससे यह बहुत सुन्दर वक्ता होगा और शास्त्र ज्ञान में इसके समान अन्य और कोई नहीं होगा।

वरुण ने हनुमान् जी को वरदान दिया—मेरे पाश से तथा जल से करोड़ों वर्ष तक भी इसकी मृत्यु नहीं होगी।

यमराज ने कहा—यह मेरे दण्ड से सर्वदा अवध्य होगा सदा आरोग्य रहेगा तथा मेरी यह भयंकर गदा इसका युद्ध में कभी भी वध नहीं करेगी।

अर्क्षरजा नाम के वानर बालि और सुग्रीव के पिता थे। (वा.रा.उ. ३६/३७)

भगवान् शंकर तथा कुबेर ने कहा कि—यह हमसे तथा हमारे शस्त्रों से अवध्य होगा।

विश्वकर्मा ने वर दिया कि—मेरे द्वारा निर्मित दिव्य तथा आहित्य शस्त्रों से यह अवध्य और दीर्घायु होगा।

ब्रह्मा जी बोले—यह महात्मा दीर्घायु तथा सभी ब्रह्मदण्डों से अवध्य होगा। यह इच्छानुसार रूपधारी, इच्छानुसार विचरण करने वाला, इच्छानुसार गतिशील एवं वानरों में श्रेष्ठ तथा शत्रुओं के भयदाता तथा मित्रों के अभयदाता एवं युद्ध में अजेय होगा।

अजेय मारुतिः, रावणोत्सादनार्थानि रामप्रीतिकराणि च। रोमहर्षकराण्यैव कर्ता कर्माणि संयुगे। (वा.रा. ३६/३७)

शौर्यं दाक्ष्यं वलं धैर्यं, प्राज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च, हनूमति कृतालयाः।।



मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा,
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो,
मयात्मभूयाय च कल्पते वै।। (भाग. ११/२९/३४)

रावण के साथ युद्ध में रावण के विनाशार्थ कर्म करेगा तथा राम के लिए प्रिय कर्म करेगा। इनके अद्भुत रण कौशल को देखकर देव-दानव-मानव आदि सभी के रोंगटे खड़े हो जायेंगे। (वा.रा.उ. ३६/३७)

सूरता-दक्षता-बल-धैर्य-ज्ञान-विज्ञान-कला-नीति-निपुणता-विक्रम तथा प्रभाव ये हनुमानजी में स्वभाविक गुण होंगे।

केसरी और अंजना सुमेरू नामक पर्वतपर रहा करते थे और दोनों ने सकल गुण निधानपुत्र के लिए कठोर तपस्या की थी। इसी को लक्ष्य कर यह उपर्युक्त प्रतीक चित्र दिया गया है।

जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्म समर्पण कर देता है उस समय वह मुझे विशेष ईप्सित हो जाता है। उस समय वह जीव भाव से छूटकर अमृतत्त्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर मुझसे मिल कर मेरा ही स्वरूप हो जाता है।
(भाग. ११/२९/३४)

वेदस्तुतिः

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने, योऽव्यक्त जीवेश्वरो।
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा, चक्रे पुरः शास्ति ताः।।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी, सुप्तः कुलायं यथा।
तं कैवल्य निरस्तयोनिमभयं, ध्यायेदजस्त्रं हरिम्।।
(श्रीमद्भा. १०३/८७/५०)

त्वं मद्धर्ममास्थाय, ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचितामेतां, विज्ञायोपशमं ब्रज।। सूताय।
(भा. ११/३०/४९)

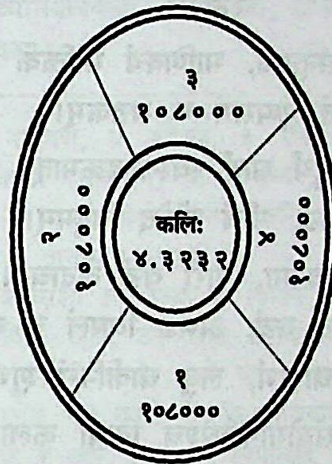
ईक्षेतात्मन्यात्मानं, यथा खममलाशयः।
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं, पुंसोभावयतोऽचिरात्।
स्पर्धाऽसूयातिरस्कारा:, साहंकारा वियन्ति हि।।

वेदस्तुतिः

भगवान् ही इस विश्व का संकल्प करते है तथा उसके आदि-मध्य तथा अन्त में स्थित रहते है वे प्रकृति और जीव दोनों के अधीश्वर हैं। उन्होंने ही इसकी सृष्टि करके जीव के साथ इसमें प्रवेश किया है, और वे ही इसका शासन करते हैं। जैसे सुषुप्ति में मग्न पुरुष अपने शरीर का अनुसन्धान छोड़ देता है वैसे ही भगवान् को प्राप्त कर जीव माया से मुक्त हो जाता है। भगवान् ऐसे विशुद्ध केवल चिन्मात्र तत्त्व हैं कि उनमें माया और प्रकृति का लेशमात्र का भी अस्तित्त्व नहीं है। वे ही वास्तव में अभय स्थान है उनका चिन्तन निरन्तर करना चाहिए। (श्रीमद्भा. १०३/८७/५०)

हे सूत! तुम तो मेरे भागवत धर्मो का आश्रय लेकर ज्ञान तथा निष्ठ होकर सबकी उपेक्षा कर दो—यह दृश्य प्रपञ्च मेरी माया की रचना है और मिथ्या है ऐसा समझकर शान्त हो जाओ। (श्रीमद्भा. ११/३०/४९)

हे सूत जी! अपने आत्मा में ही अपने आत्मा को अमल आकाश की तरह देखें। मनुष्यों में निरन्तर मेरा (श्रीकृष्ण) भाव रखें। इस प्रकार सबमें मेरा दर्शन करने से स्पर्धा एवं असूया (गुणों में दोष दृष्टि) तथा दूसरों को दूसरा समझकर जो तिरस्कार एवं अहंकारपूर्वक व्यवहार होते है ये सब विलीन हो जायेंगे।



अथेदमन्तरं ज्ञानं, सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य, शब्दत्वेन विवर्तते।। कैयट।
'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति'। (वाक्य प.ब्र. ११२)
वायूरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते। (वाक्य प. १ का.)

कलि की सम्पूर्ण अवस्था ४,३२,००० वर्ष है और एक चरण १,०८,००० वर्ष का है।

अथ शब्द से यहाँ मंगल कामना अथवा अनन्तर अर्थ ग्रहण करना चाहिये। ज्ञान सामान्यतया दो प्रकार के होते हैं। प्रथम आन्तरज्ञान और द्वितीय वाह्यज्ञान हैं। आन्तरज्ञान सूक्ष्म होते हैं और वाह्यज्ञान स्थूल होते हैं। सूक्ष्मज्ञान बीज भूत होते हैं और स्थूलज्ञान कार्यभूत होते हैं। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है कि आन्तर सूक्ष्मज्ञान स्थूलभूत ज्ञानों के कारणभूत होते हैं और स्थूलभूत ज्ञान उसके कार्य (फल) होते हैं। कारण (सूक्ष्मज्ञान) नित्य और स्थूलज्ञान अनित्य (नाशवान्) होते हैं। वे सूक्ष्मज्ञान सूक्ष्मवागात्मक (सूक्ष्म वाणीस्वरूप) से हृदय में स्थित होते हैं। वही सूक्ष्म वाग् उपाधि भेद से अथवा सूक्ष्म-स्थूल भेद से-परा-पश्यन्ति-मध्यमा और वैखरी कहलाती है। योग और तन्त्र मार्ग में इसका विशेष विचार है। कुण्डलिनी साधन प्रसंग में इसके दो उपाय बताये गये हैं—पहला हठयोग और दूसरा लययोग। इसमें साधक के भावानुसार ध्येय स्वरूप का आलम्बन कर तथा नाद के आश्रय द्वारा धारणा की जाती है। हठ प्रणाली में मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध आदि द्वारा पेशी तथा स्नायु का संकोच करके कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करना पड़ता है। लय योग में प्रधानतया नाद धारणा द्वारा यह क्रिया सम्पन्न की जाती है। नाद द्विविध है आहत और अनाहत

रत्नानि

सूर्यादीनां च सन्तुष्ट्यै, माणिक्यं मौक्तिकं तथा।
सविद्रुमं मरकतं पुष्परागं च वज्रकम्।।
नीलं गोमेद वैदूर्यं धार्यं स्वस्वदृढक्रमात्।
रत्नं श्रेष्ठतरं वज्रं, नीचं गोमेद विद्रुमम्।।
न धारयेत् पुत्रकामा, नारी वज्रं कदाचन।
अम्भस्तरति यद् वज्रं, अभेद्यं विमलं च यत्।
षट्कोणं शक्रचापाभं, लघु चार्कनिभं शुभम्।।
जलवाय्वग्नि संयोगनिरौधेश्च क्रिया कला।।

भरद्वाजो महामुनिः, यन्त्रसर्वस्वरूपम् अष्टाध्यायैः, शताधिकरणैयुतम्, सूत्रैः पञ्चशतैः, व्योमयानप्रथानकम्, नारायणाः शौनकश्च गर्गो वाचस्पतिश्चाक्रायायणिर्ढुण्डिनानाथश्च शास्त्रकृतः।

ये दोनों नाद ही कुण्डलिनी शक्ति द्वारा जागृत की जाती है। वाक्यरूप आहत नाद चार प्रकार के होते हैं। जिसे ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ विस्तार भय से अति संक्षेप में कहा गया। वह सूक्ष्म वाग् अपने स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही शब्द रूप से प्रकट होते हैं। अत: ज्ञान सर्वप्रकाशक है। (वा.ब्र. ११२)

सूर्यादि नवग्रहों की शान्ति के लिए क्रमश: इन रत्नों को धारण किया जाय—सूर्य के लिए माणिक्य, चन्द्र के लिए मौक्तिक (मोती), भौम के लिए विद्रुम (मूगा), बुध के लिए मरकत (पन्ना), गुरु के लिए पुष्यराज, शुक्र के लिए हीरा, शनि के लिए नीलम, राहु के लिए गोमेद और केतु के लिए वैदूर्य। इस प्रकार इनके दान तथा धारण से ग्रहों की शान्ति हो जाती है। हीरा श्रेष्ठ रत्न है, गोमेद विद्रुम अवर कोटि के रत्न हैं। पुत्र की कामना वाली स्त्री हीरा धारण न करें। जो हीरा जल में तैरे, टूटे नहीं, निर्मल, षट्कोण, इन्द्र चाप (धनुष) की शोभा वाला, छोटा, सूर्य के समान आभा वाला हो वह शुभ होता है।

यहाँ विमान विज्ञान की कला को कहा जा रहा है कि—जल-वायु और अग्नि के साथ जो संयोग और निरोध रूप क्रिया है उसे वैमानिक कला (विद्या) कहते हैं। इस विद्या के प्रथम आचार्य भरद्वाज मुनि हैं, जिन्होंने 'यन्त्रसर्वस्वरूपम्' नामक विमान विद्या का ग्रन्थन (ग्रन्थ लिखा) किया। इसमें आठ अध्याय, सताधिककरण, पाँच सौ सूत्र हैं। उक्त सूत्रों में वायुयान विद्या का प्रकथानक (निर्माणादि का उपाय) है। विमान विज्ञान (कला) के अन्य

विमान चन्द्रिका, व्योमयानयन्त्रः, यन्त्रकल्पः, यानविन्दुः, खेटयानप्रदीपिका, व्योम-यानार्कप्रकाशः क्रमात् षट्।।

मुनिगण आचार्य हैं—१. नारायण, २. शौनक, ३. गर्ग, ४. वाचस्पति, ५. चाक्रायण और ६. ढुण्ढ़िनाथ। इन्होंने विमान (वायुयान) के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ का प्रणयन किया वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. नारायण—विमान चन्द्रिका, २. शौनक—व्योमयान यन्त्र, ३. गर्ग—यन्त्रकल्प, ४. वाचस्पति—यानविन्दु, ५. चाक्रायणि—खेटयानप्रदीपिका और ६. दुण्ढ़िनाथ—व्योमयानार्कप्रकाश। इन ग्रन्थों में विमान के साधनभूत सामग्रियाँ (उपकरण), निर्माण विधि, संचालन विधि आदि उन सभी उपायों पर वैज्ञानिक विशिष्ट विचार दिया है जो विमान विज्ञान से सम्बन्धित है। यहाँ यह पृथक् से कहना आवश्यक है कि—कतिपय पाश्चात्य परस्त लोग यह कहते हैं कि वायुयान का आविष्कार सर्वप्रथम पश्चिम देश के वैज्ञानिकों ने किया है और पुराणों में विमानादि का आरोहण प्रसंग के कथन मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि विमान का निर्माण पौराणिक अथवा वैदिक काल में था, क्योंकि उसके निर्माणादि का उपाय उपलब्ध नहीं है। परन्तु हम जैसे भारतीय मौलिक विचारकों का इस सम्बन्ध में सुनिश्चित कथन है कि—जो लोग भारतीय वैदिक और पौराणिक विज्ञान ग्रन्थों का अध्ययन-चिन्तन-अन्वेषण किया ही नहीं है उसे कैसे ज्ञात होगा कि हमारे वैदिक और पौराणिक ग्रन्थों में विमान विज्ञान आविष्कार प्रसंग नहीं है। अतः ऐसे अल्पज्ञ-दुष्प्रचारक तथा पश्चिम के अन्धभक्त को हम मूढ की श्रेणी में ही जगह देते हैं। क्योंकि—

लेखनविधविरामः, पुस्तकाशोधनञ्च, बहुसुहृदनुवृत्ति प्रक्रियाचातिगुर्वी।
स्वसुरपुरनिवासः विह्लत्वं विषादः, प्रभुतानिजगेहे मुर्खता चाष्टहेतुः।।

जिसने विविध पुस्तकों का लेखन-अन्वेषण नहीं किया, जो चाटुकारों से घिरा रहता है, कम समय में पूर्ण होने वाले कार्य को जो सीधे सम्पन्न न कर घुमा फिरा कर दीर्घ समय में सम्पन्न करता है, ससुराल में निरन्तर वास करता है, कभी विह्वल और कभी विषादभाव को प्राप्त होते रहता है, जिसकी केवल अपने घर मात्र में प्रभुता होती है, वे मूढ़ हैं। उपर्युक्त आठों लक्षण से युक्त को महामूढ़ और किसी अन्यतम लक्षण को मूढ़ कहा जा सकता है।

इसके सम्बन्ध में ऋग्वेद १/११२/१२, १०/१२०/१०, १/२०/३, १०/३९/१२, १/९२/२८, १/४७/२, ११८/२, १/११८/४ आदि बहुत सी ऋचाएँ वैदिक कालीन विशिष्ट विज्ञान का बोधक है। इन ऋचाओं में ऐसे विमान का भी उल्लेख है जो आकाश-जल-पृथिवी-पातालादि अनेक लोकों में चल सकता था। जबकि वर्तमान विमान (वायुयान) केवल वायु को आश्रय कर मात्र आकाश में ही गमन कर सकता है। जलयान (जलपोत) जल में ही चल सकता है। परन्तु वैदिक काल के एक ही विमान अन्तरिक्ष-पृथिवी-जल

पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु, खगवद्वेगतः स्वयम्।
यः समर्थो भवेद् गन्तुं, स विमान इति स्मृतः।।

वैमानिकरहस्यानि

१. कृतकरहस्यः-विमानरचनारहस्यम्।
२. गूढरहस्यः-विमानाच्छादनरहस्यम्।
३. अपरोक्षरहस्यः-अग्रवस्तु प्रत्यक्षम्।
४. सार्पगमनरहस्यः-सर्पवद्गमनम्।
५. परशब्दग्राहकरहस्यः-वायरलेश
६. रूपाकर्षकरहस्यः-टेलीवीजन।
७. दिक्प्रदर्शनरहस्यः-दिग्ज्ञानम्।
८. स्तब्धकरहस्यः-स्तम्भनम्।
९. कर्षणरहस्यः-आकर्षणम्।

और पाताल आदि सर्वत्र सर्वविध संचरण समर्थ था। अतः राष्ट्र नेतृत्व को वैदिक और पौराणिक विज्ञान को प्रश्रय देना चाहिये, जिससे भारतीय विज्ञान के अभ्युदय से आत्मसम्मान का वर्धन और इस सम्बन्ध में पराश्रयता से राष्ट्र मुक्त हो सके।

भारतीय विमान का लक्षण उपर्युक्त मूल श्लोक के अनुसार यह है—जो पृथिवी-जल-अन्तरिक्ष में वेगपूर्वक खगवत् (पक्षी के समान) गमन करने में समर्थ हो।

वैमानिक रहस्य के नौ भेद हैं—१. कृतक रहस्य—इसमें विमान रचना के सम्बन्ध में विस्तार से विचार है। २. गूढ़ रहस्य—इसमें विमान के आच्छादन (अदर्शन) का रहस्य बताया है ताकि विमान को अनभिष्ट (अनिच्छित) पक्ष देख न सके। ३. अपरोक्ष रहस्य—इसमें आगे आने वाले वस्तुओं के पूर्व में परिज्ञान का रहस्य बताया गया है। ४. सार्पगमन रहस्य—इसमें सर्प के समान विमान को धरती पर चलाने की विधि है। ५. परशब्दग्राहक रहस्य—इसमें दूर में स्थित लोगों के शब्दों को सुनने का रहस्य बताया गया है। वर्तमान में वायरलेश-मुवाइल-इन्टरनेट आदि इसी भारतीय विज्ञान का परिवर्तित स्वरूप है। ६. रूपाकर्षण रहस्य—इसमें स्वरूप को आकर्षित करने का रहस्य है। वर्तमान में टेलीविजन, फोटोग्राफी आदि उसी विज्ञान का रूपान्तर विकास है। ७. दिक्प्रदर्शन रहस्य—इसमें अज्ञात दिशाओं को ज्ञात करने की विधि है। ८. स्तम्भक रहस्य—इसमें परपक्ष के जनों को स्तम्भित करने की विधि बतायी गयी है। ९. कर्षण रहस्य—इसमें परपक्ष अथवा इष्ट व्यक्ति को आकर्षित करने की विशिष्ट विधि का विज्ञान है।

रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्। अ इ उ ण्-सरिगाः स्मृताः।।६।।

अकारो ब्रह्मरूपः स्यात्, निर्गुणः सर्ववस्तुषु।
इकारः सर्ववर्णानां, शक्तित्वात्कारणं मतम्।। (नन्दिकेश्वरः)
अकारो ज्ञप्ति मात्रं स्यात्, इकारश्चित्कला मता।
उकारो विष्णुरित्याहुः, व्यापकत्वान्महेश्वरः।। (न.)
गान्धारयतीति गान्धारः। (क्षीरस्वामी)
सप्तैव ते स्वराः प्रोक्ता; स्तेषु ऋ ऌ नपुंसकौ। (काकली)

भगवान् शंकर के डमरू से उत्पन्न जो अ-इ-उ-ण् सूत्र उत्पन्न हुआ वही संगीत शास्त्र के संगीत सूत्र 'सा रे ग म' आदि सूत्र है।

अ इ उ ण् इस शिव सूत्र में अकार-ब्रह्म रूप है निर्गुण है वह अपनी चित्कला इ स्वरूप माया को स्वीकार करके विद्यमान है।

सभी वाक्यों-पदों और वर्णों में जहाँ भी अकार पाया जाता है वह अक्षर-अव्यय-निर्गुण ब्रह्म स्वरूप से स्थित है। 'अ' पूर्व में और अन्त में 'ह' है इसलिए इससे 'अहं' प्रत्याहार बन गया जो ब्रह्म वाचक है। अतः अकार परमेश्वर है, निर्गुण है, वह इ अर्थात् माया का आश्रय लेकर उः अर्थात् व्यापक सगुण ईश्वर रूप से ण् अर्थात् विद्यमान था। इसका अर्थ है परा-पश्यन्ती-मध्यम-वैखरी चारों प्रकार वाणीजात में अथवा (एको देवः सर्व भूतेषु गूढः) सभी पदार्थों में विद्यमान है।

आकार रूप परमेश्वर की सन्निधि में जगत् का कारण जो इकार अर्थात् माया वह सभी वर्णों की शक्ति होने से (यह वर्ण पक्ष में) शब्द शक्ति है और जगत् पक्ष में माया शक्ति है। (नन्दिकेश्वर)

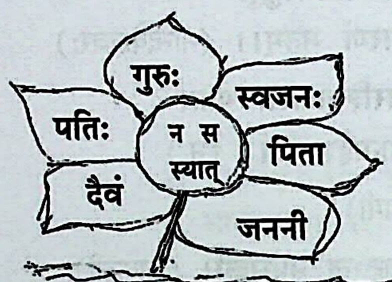
सभी वस्तुजात की शक्ति होने से इकार रूपी माया सभी वाग्जात तथा पदार्थजात का कारण है। अकार ज्ञप्ति रूप अर्थात् ब्रह्म रूप है। इकार चेतन की कला है। उकार विष्णु है, व्यापक है और सर्वेश्वर है।

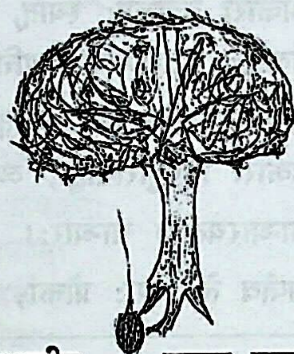
क्षीरस्वामी स्वर की व्याख्या इस प्रकार करते है—जो वाणी को धारण पोषण करे अथवा पृथिवी का धारण पोषण करे उसे गान्धार कहते है।

सात ही स्वर है। गायन में तो सारेगामा आदि प्रसिद्ध वर्णों में भी ए और ओ को मान कर सप्त है।

उनमें ब्रह्म दो वर्ण—इस कारिका के अनुसार वर्णों में ऋ ऌ वर्ण होने से नपुंसक है। (काकली)

न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्। (श्रीमद्भा. ५/५/१८)





तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे।

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता।







पश्यत्यचक्षुः।

स शृणोत्यकर्णः। 

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।

तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।

इस श्लोक में 'न स स्यात्' इस क्रिया में छः कारकों का अन्वय है इसलिए मध्य में निर्दिष्ट है। संसार रूपी मृत्यु के पाश में फँसे हुए को जो गुरु आदि भक्ति ज्ञान का उपदेश देकर मुक्त न करा सकें तो वे गुरु आदि नहीं है उन्हें गुरु नहीं बनना चाहिए। उस पिता को पुत्र पैदा नहीं करना चाहिए। वह देवता भी पूजा योग्य नहीं है जो जीव को मृत्यु से न बचा सकें। (श्रीमद्भा. ५/५/१८)

इस प्रकार यह जगद् अव्याकृत था। नामरूप रहित सन्मात्र था। यह पूर्व में तम से ढका था।

वह परमात्मा हस्त के विना ग्रहण और पैर के विना तेज चलता है। विना कान के सुनता और विना नेत्र के देखता है। वह सबको जानता है पर उसे कोई नहीं जानता है। ऐसे तत्त्व को ही वेद (श्रुति भगवती) महान् अग्रगण्य पुरुष कहते हैं।

ईक्षणम्

सर्गादौ प्राणिकर्मभिरेका सृज्याकारा विद्यावृत्तिरुत्पद्यते तस्यामात्मचैतन्यं प्रतिविम्बते तदेवैक्षणम्- १।

तच्चादिकार्यत्वात्स्वपरनिर्वाहकम्। (आनन्दगि. १/१)

प्रजापतिः

हिरण्यगर्भो वेदेषु, समष्टि व्यष्टि रूपधृक्।
श्रूयते यः स सूत्रात्मा, प्रजापतिरिहोदितः।।

तस्य श्रेष्ठास्त्रयो देहा, ब्रह्मा रूद्रो विष्णुरिति।
भूयोपि बहुधाऽभवत्, वसुरुद्रादित्यभेदैः।।

गिरिनद्यादि भेदतः।

आत्मन्यध्यारोप एवम्। मायाविनिर्मितः।
आत्माधिष्ठानरूपेण, प्रविष्टं सर्ववस्तुषु।। (अनु.प्र. १०)

सृष्टि के प्रारम्भ में प्राणियों के कर्मानुसार एक सृज्याकार रूप विद्या वृत्ति उत्पन्न होती है। उस विद्या वृत्ति में जो चैतन्य का पर प्रतिविम्ब पड़ा वह ही ईक्षण है।।१।।

वह सर्व प्रथम कार्य होने से अपना और अपने उत्पाद्य जगत् दोनों का निर्वाह करती है। (आनन्दगिरी १/१)

प्रजापति

वेदों ने जिसे—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा हिरण्यगर्भ कहा अर्थात् जो समष्टि व्यष्टि रूप में उपस्थित हुआ (सर्वम् भवत्) इत्यादि। जो सूक्ष्मशरीराभिमानी सूत्रात्मा कहलाया वह यहाँ पर प्रजापति बताया गया।

उस प्रजापति के तीन श्रेष्ठ शरीर हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र। पुनः वह अनेक रूपों में हो गया—वसु, रुद्र, द्वादश, आदित्य तथा पर्वत, नदी, वृक्षादि रूपों के भेद से (रूपं रूपं प्रति रूपोवभूत) अनेक रूपों में परिणत हुआ।

सर्वप्रथम आत्मा (ब्रह्म) में विद्यावृत्ति की उत्पत्ति, उससे समष्टि-व्यष्टि रूप हिरण्यगर्भ, उसके बाद सूत्रात्मा प्रजापति, उसके बाद ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-वसु आदि की जो सृष्टि ऊपर कही गयी हैं वे आत्मा में ही अध्यारोपित होने से आत्मा सभी जगद्वस्तु में अधिष्ठान रूप से प्रविष्ट हो गया। इस विद्यावृत्ति माया से विनिर्मित प्रपञ्चमय सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई। (अनु.प्र. १०)

बोद्धा बोधव्यः

बुद्धिं प्रविष्टौ जीवेशौ, बोद्धृ बोधव्यतां गतौ।
अवच्छिन्नो भवेज्जीवो, ऽनवच्छिन्नो महेश्वरः।। (अनु.प्र. १२)

गुरुः

शब्दार्थज्ञः स्वात्मतत्त्वा, नुभवी च गुरुर्द्विधा।
आद्यो नरो न तु ब्रह्म, नरत्वभ्रान्त्यनाशनात्।।

तेनोक्ते संशया एव, स्यु र्वाचाबहुयोजनात्।
ब्रह्मैवानुभवी तेन, ब्रह्म प्रोक्तं विबुध्यते।। (अनु.प्र. ११)

शिष्यः

शिष्यो बहिर्मुखो न स्यात्, बहिर्मुखस्य नेश्वरानुग्रहः।

पापं क्रोधमनैकाग्र्यं, योगसिद्धिं च नैति यः।
तमीश्वरोऽनुगृह्णाति, स ज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

बोद्धा-बोद्धव्यः

जीव और ईश्वर बुद्धि में प्रवेश करने के कारण बुद्धि की उपाधि से बोधा तथा बोद्धव्य रूप हो गये। ऐसा होने पर जीव तो बुद्धि से अवच्छिन्न है (सीमित) है किन्तु ईश्वर बुद्धि से परे है वह व्यापक होने से बुद्धि अवच्छिन्न नहीं है। (अनु.प्र. १२)

गुरुः

गुरु दो प्रकार के होते है एक शब्दार्थ के ज्ञाता तथा दूसरे स्वात्मतत्त्वानुभवी अर्थात् आत्मतत्त्व का यथार्थ रूप से अनुभव वाले—इन दोनों में शब्दार्थ तत्त्ववेत्ता नररूप ही है, क्योंकि उनकी भ्रान्ति नष्ट नहीं होती। विना अनुभव के भ्रम नष्ट नहीं होता यह नियम है। उनके वचनों में बहुत सी युक्ति तथा प्रमाण दिखाने पर भी सन्देह बना रहता है। किन्तु स्वात्मतत्त्ववेत्ता गुरु अनुभवी होने के कारण उनके कथन से हस्तामलकवद् अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान हो जाता है। (अनु.प्र. ११)

वहिर्मुख शिष्य बनने का अधिकारी नहीं है, वहिर्मुख पर ईश्वर का अनुग्रह नहीं होता है।

पाप-क्रोध और योगादि की सिद्धियों को छोड़ कर जिसका अन्त:प्रयत्न केवल ईश्वराश्रित रहता है उस पर ही ईश्वर का अनुग्रह होता है और वही ईश्वर को प्राप्त करता है।

महत्तत्त्वम्

समिष्टकर्तृत्वोपाधिः। (आनन्दगि.)

पुरुषः

सद्रूपः पुरुषस्तस्य, सत्वेनान्यत्र पूरणात्।
अस्तीति निखिलं भाति, पूरकः पुरुषो मतः।। (अ.प्र. ११/५१)

वस्तुतत्त्वविचारोऽत्र, पुरुषेऽत्र समाप्यते।
रक्षिवो वास्तवं रूपं, पूर्णत्वं तद्बोधतः।। (अनु.प्र. ११/५२)

दृश्यते त्वग्रया सूक्ष्मया बुद्ध्या, धियः सूक्ष्मत्वं-योगात्।
योगो भवति चतुष्कवान् वाग्[1] धी[2], कर्तृ समष्टीनां निरोधात्।।

१. वागादि बाह्याक्षनिरोधः, २. मनो निरोधः।

महत्तत्त्व

समष्टि कर्तृत्व उपाधि विशिष्ट बुद्धि तत्त्व ही महत्तत्त्व है। (आनन्दगि.)

पुरुष

पुरुष (आत्मा) सद्रूप (सत्स्वरूप) है। उसके सत्त्व से परिपूरित होकर ही यह निखिल जगत् सत्ता सम्पन्न और प्राकशमान है। उसके द्वारा ही यह प्रपञ्च पूर्णता को प्राप्त होता है। (अनु.प्र. ११/५१)

इस जगत् प्रपञ्च में पुरुष ही सत्य है। जो अज्ञानी पुरुष इस जगत् में वस्तु विचार से प्रवृत्त होता है वह पुरुष (आत्मा) को नहीं जानता। यह आत्मा रथ पर आरूढ़ व्यक्ति के समान है।

> आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव च।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च।। (कठोप. ३/३)

इसलिए कठोपनिषद् कहता है कि इस आत्मा को रथी (रथारूढ़ व्यक्ति) जानो। शरीर को रथ जानो। बुद्धि को सारथि जानो और मन को ही लगाम समझो। इसलिए यह पुरुष रथी है और उस पुरुष के बोध से ही जीवात्मा पूर्ण होता है। (अनु.प्र. ११/५२)

उस पुरुष (आत्मा) को सूक्ष्म बुद्धि के अग्रभाग से ही जाना जा सकता है। जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है वही इसे जान सकता है। जव सूक्ष्म बुद्धि का योग होता है तभी साधक चारों प्रकार की मुक्ति को प्राप्त होता है। वे मुक्तियाँ वाग् (वाणी), धी और कर्तृता के

सोपाधिक ज्ञानवतो, निरूपाधिः प्रसीदति। (अनुप्र. ११)

ईश्वरः

मायाविशिष्टमीशानं, जगदाकारतां गतम्।
संसार चक्रमित्याहुः संसाराख्य नदीति च।। (अनु.प्र. १२)

मायोपहित ईशानः।

जीवः

जीवोऽहंकारोपहितः, चक्रवद्भ्राम्यते सदा।

ब्रह्म

उपाधिद्वय हीनं तु ब्रह्म, वेदेषु बोध्यते। (अनु.प्र. १२)

समष्टि निरोध से प्राप्त होती है। वागादि निरोध वाह्य इन्द्रिय का निरोध जानना चाहिये। धी निरोध से मन का निरोध जानना चाहिये। इस प्रकार जो साधक सम्पूर्ण इन्द्रियों का निरोध प्राप्त कर लेता है वही पुरुष (आत्मा) का दर्शन कर सकता है। क्योंकि—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैषा वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। (कठोप. २/२३)

यह आत्मा (परमात्मा) प्रवचन (उपदेश) से, मेधा से, बहुत श्रवण से प्राप्त नहीं होता अपितु जिसे यह आत्मा वरण कर लेता है उसे ही यह अपने स्वरूप को प्रकट करता है।

सोपाधिक ज्ञानवान् निरूपाधिक ज्ञान को प्राप्त कर प्रसन्न हो जाता है। (अनु.प्र. ११)

ईश्वर

माया विशिष्ट ईशान ही जगद् रूप में परिणत हुआ। इसी को संसार चक्र और इसे ही संसाररूपी नदी भी कही जाती है। माया की उपाधि से विशिष्ट को ईशान कहा जाता है। (अनु.प्र. १२)

जीव

अहंकार की उपाधि से विशिष्ट जीव है वह चक्र की तरह नाना योनियों में घूमता है।

ब्रह्म

माया तथा अहंकारोपाधि से रहित को वेदों ने ब्रह्म बताया। (अनु.प्र. १२)

जगत्

जगत्स्याद्व्यक्तमव्यक्तं, सृष्टि संहारयोः क्रमात्।
विभर्ति द्वयमीशान; श्चिदात्मा तु विमुक्तिभाक्।। (अनु.प्र. १२)

ईशानीशावज्ञतज्ज्ञौ, भोक्ता भोजयिता च तौ।
तयोर्निवाहितामाया, ब्रह्मण्यारोपितं त्रयम्।।

जगद्भ्रमं जीवभेदं, वासना देहधारणम्।
चतुष्टयं निराकुर्या; दभिध्यानादिभिः क्रमात्।।

अभितो ब्रह्मरूपत्व; ध्यानाद्याति जगद्भ्रमः।
ब्रह्मत्वे योजिते स्वस्य, जीवभावोपि गच्छति।।

अद्वये भाविते तत्त्वे, वासना विनिवर्तते।
आरब्धान्ते देहहानि; र्मायैवं क्षीयतेऽखिला।।

ब्रह्मज्ञानात्पाशहानौ, क्षीणक्लेशो न जन्मभाक्। (अनु.प्र. १२)

जगत्

सृष्टि होने पर जगत् व्यक्त स्वरूप होता है और संहार (लय) काल में जगत् अव्यक्त स्वरूप होता है। अतः जगत् के क्रमानुगतरूप से दो स्वरूप व्यक्त और अव्यक्त होते हैं। ईश्वर जगत् के इन दोनों स्वरूपों को भरण करने और नियन्तृत करने के कारण भर्ता तथा नियन्ता (ईशान) कहलाता है और चिदात्मा इससे निर्लिप्त है। (अनु.प्र. १२)

ईश (ईश्वर) तत्त्व सर्वज्ञ है और अनीश (जीवात्मा) तत्त्व अज्ञ है। ईश भोक्ता है और अनीश (जीवात्मा) भोजयिता है। इन दोनों भोक्ता और भोजयिता के निर्वाहक (निर्वाह करने वाली) माया तत्त्व है तथा ये तीनों ईश्वर-जीव और माया ब्रह्म में आरोपित है।

जगद् का मिथ्याभ्रम-जीवभेद-वासना-देहधारण इन चारों का अभिध्यानादि से निराकरण करें। चारों इस प्रकार है—१. ब्रह्म के अभिध्यान से अर्थात् सम्यक् चिन्तन से जगद्भ्रम का निराकरण करें। २. अपने में ब्रह्मत्त्व की भावना से कि 'मैं ब्रह्म हूँ' जीव भाव का निराकरण करें। ३. जब यह निश्चित हो कि यह सब ब्रह्म ही है तो 'नेहनानास्ति किंचन' से वासना का नाश करें। ४. प्रारब्ध के नाश होने से शरीरादि का नाश तथा सम्पूर्ण माया का नाश हो जाता है तथा 'अविद्यास्तमयोमोक्षः' इत्यादि के अनुसार अविद्या के नाश हो जाने पर मोक्ष होता है। ब्रह्मज्ञान से माया जाल की हानि होने पर जीव अशेष क्लेश मुक्त होकर पुनः जन्म-मरण के प्रवाह में नहीं पड़ता है। (अनु.प्र. १२)

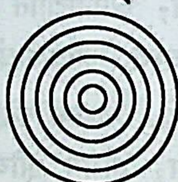
पाशाः-चतुर्विधाः-[1]मलो माया[2] [3]कर्म [4]तत्त्वतिरोधानम्।

१. ज्ञानक्रियाशक्त्योऽश्छादको दोषः।

२. रागादि हेतुः। ३. पुण्यपापे। ४. मूढता।

भोक्ता भोग्यं प्रेरकश्च, त्रयं ब्रह्मेति तत्त्वधीः।
शास्त्राद्बुद्धं ब्रह्मतत्त्व; मात्मत्वेनानुभूयताम्।। (अ.प्र. १२)
चिच्छायावानहंकारः, कर्ता चिद्भाति केवला।।

विराट्



कोशपञ्चक युक्तस्य
प्रत्यक्तत्त्वस्य नाम तत्।
(अ.प्र. १३/१२)

अहम्

चिदेकरस आत्मैव, कशमले कोशपञ्चके।
एकतामभिसम्पन्नो, ऽहङ्कारोत्पत्तिमात्रतः।। (अ.प्र. १५)

पाश चार प्रकार के हैं—१. मल अर्थात् ज्ञान क्रिया की शक्तियों का आच्छादक दोष। २. माया अर्थात् रागादि का कारण। ३. कर्म अर्थात् पुण्य और पाप। ४. तत्त्वतिरोधान अर्थात् जड़ता।

भोक्ता योग्य और प्रेरक ये तीनों तत्त्वतः ब्रह्म ही हैं। शास्त्र से ब्रह्मतत्त्व को जानकर उसका आत्मरूप से अनुभव करे कि मैं ब्रह्म हूँ। (अनु.प्र. १२)

चित्त में जो आत्मा की छाया पड़ती है तो उस छाया में जो अहंभाव (यह मैं हूँ) होता है उस अहंभाव (अहंकार) को ही कर्ता कहते हैं। जैसे दर्पण में स्वात्मा (स्वशरीर) की छाया (प्रतिबिम्ब) को 'मैं यह हूँ' इस प्रकार मानते हैं जबकि छाया व्यक्ति नहीं होता। उसी प्रकार चित्त में प्रतिबिम्बित आत्मा को ही 'यह मैं हूँ' ऐसा जानने पर वह जीवात्मा अहंभाव वाला कर्ता कहलाता है। जबकि वहाँ केवल चिदात्मा का आभास मात्र होता है।

पाँचों कोशों में अहंकार युक्त प्रत्यक्तत्त्व का नाम ही विराट् है। (अनु.प्र. १३/१२)

चिदेक रस आत्मा ही अहंकार की महिमा से पाँचों कोशरूपी मलजात में फँस कर एकता को प्राप्त कर वह आत्मा ही जीव भाव को प्राप्त कर जाता है। (अनु.प्र. १५)

स्रज्यहिं कल्पयित्वास्ते, तद्भयादाकुलेन्द्रियः।
एवं नश्वरदेहादि, प्रतीच्यारोप्य कम्पते।। (अ.प्र. १९)
मुख बाहू रुपादेभ्यः, वह्नीन्द्रवसुभूमिकाः।
देवता असृजद् ब्रह्मा, चातुर्वर्ण्यनियामिकाः।। (अ.प्र. १३/४२)
विराडेवाखिला इमे।

तिस्रः प्रजा मूढा वेदोक्तं न मेनिरे। मनो वाक्काय दोषतः, नभोभूभूविलावासः त्रिधा कायो व्यजायत। मानुषैरुपभोग्योऽयं, वध्यश्च्छेद्यश्च नित्यशः। (आत्मपु. १)

वाचि शब्दो हृदि ज्ञानं, अर्थो भूम्यादि संस्थितः।
कथं स शब्द बोधात्मा, भवेद् भ्रान्तिं विना नृणाम्।। (आत्मपु. १)
भिन्नाधिकरणानां, तादात्म्यं भ्रान्तिः। (टी.)

जिस प्रकार रस्सी में सर्प का सृजन स्वयं जीवात्मा अपने अज्ञान से करता है और उसे सम्मुख देखकर भयभीत होता हुआ भय से काँपता है। इस भ्रम स्थल में सर्प के ज्ञान का अभाव ही कारण होता है जो अज्ञान उस जीवात्मा में होता है। उसी प्रकार इस नश्वर शरीर को जानकर अर्थात् यह नष्ट हो जायगा—मैं मर जाऊँगा (यह भी अज्ञान ही है) ऐसा जानकर व्याकुल होकर भयभीत होता है और काँपने लकता है। (अनु.प्र. १९)

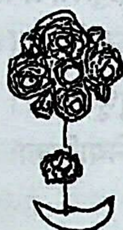
ब्रह्मा ने मुख से, बाहु से, उरु से और पैरों से क्रमशः वह्नि अग्नि, इन्द्र. वसु तथा भूमि आदि चारों वर्णों के नियामक देवताओं को उत्पन्न किया। अतः ये सब विराड् ही है। (अनु.प्र. १३/४२)

नभचर, भूमिचर और बिल में रहने वाले अथवा पाताल-लोकचर ये तीनों अपने मन-वाणी और शरीर दोष के कारण वेदोक्त विधि मार्ग का उल्लंघन करते हैं, इसलिये वे मूढ़ ही हैं। वे मूढ़ गणों के काय (शरीर) तीन प्रकार (पृथक्-पृथक्) हैं, अतः वे एक दूसरे को बध्य (वध करने योग्य), छेद्य और भोग्य समझते हैं और उसकी हत्या कर उन्हें खा जाते हैं। जबकि परमार्थतः सभी आत्मस्वरूप ही है। (आत्म पु. १)

शब्द वाणी में, ज्ञान हृदय में और वस्तु भूमि आदि में पृथक्-पृथक् स्थानों में रहते है जो भ्रान्ति के कारण है। अतः केवल शब्द के द्वारा आत्मा का बोध विना भ्रान्ति के कैसे हो सकता है? (आत्म.पु. १)

भिन्न-भिन्न अधिकरणों की एकता को भ्रान्ति कहते हैं। (टी.)

पञ्चछिद्रं मांस पद्म; मन्तराकाश साश्रितम्।

हृदयम्  तस्माज्जातं मनः।

मनसः चन्द्रमा जातः

(आत्म पु. १)

ॐ

पञ्चावस्थाभिः योगः, सद्यः मुक्तेः प्रसिद्धये।

१. जाग्रत्–सर्वेन्द्रियैर्भोगः। २. स्वप्नः–इन्द्रियैर्विनाऽनुभवः। ३. सुषुप्तिः–आत्मनि सद्युक्ततया नैराकुल्यम्। ४. तुरीया–पश्यति परं यदात्मा निस्तमसा चेतसा। ५. तुरीयातीता–आत्मपरमात्मपदयोरभेदः। (प्रपञ्चसारः १९)

पाँच छिद्रों से युक्त यह हृदयपद्म अन्तः आकाश में स्थित है और उससे मन की उत्पत्ति हुई है और मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है। (आत्म पु. १)

पाँच प्रकार की अवस्थाएँ यहाँ कही गयी हैं। उन पाँचों अवस्थाओं में अद्वितीय आत्मा का एकरस अनुभूति का योग प्राप्त हो जाने पर ही आत्म सिद्धि प्राप्त होती है। जिसे जब-तक उन सभी अवस्थाओं में एकतात्मक बोध नहीं होता, अनेक बुद्धि का अभावनहीं हो जाता है तब तक आत्म सिद्धि होना असम्भव ही है। वे पाँच अवस्थाएँ ये हैं—

१. **जाग्रदवस्था**—सभी ज्ञानेन्द्रियादिकों द्वारा विषय का भोग किया जा रहा है, यहाँ इन्द्रियाँ ही मात्र भोक्ता हैं, आत्मा सकल सम्बन्ध रहित है, वह साक्षी मात्र है, ऐसी बुद्धि का होना आत्मसिद्धि का प्रथम सोपानारोहण है। अथवा इस प्रकार से चिन्तन तथा अनुभव करना कि सभी अवस्थाओं में भोक्ता मात्र आत्मा ही होता है और इन्द्रियाँ स्वयं में जड़ वस्तु होने के कारण अचेतन है इसलिए जाग्रदवस्था में भी वही आत्मा भोक्ता है। परन्तु इस भोक्ता से (संसार में व्यवहृत भोक्ता से) वह विलक्षण ही है।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं, भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी, चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥१८॥

मय्येव सकलं जातं, मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति, तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥१९॥ (कैवल्योप. १)

अर्थ है—तीनों धामों में जो-भोग्य-भोक्ता-भोग वस्तुएँ हैं उससे विलक्षण (समता रहित) यह आत्मा है और वह चिन्मात्र (चेतन मात्र) है॥१८॥

यह जो आत्मा है वही मैं हूँ और मुझ में ही सभी उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं और मुझमें ही लय (नाश) को प्राप्त होते हैं। इसलिए जो सदा वर्तमान रहते हैं, वही नित्य वस्तु है, वही अद्वय (अद्वितीय) है और वही ब्रह्म है एवं जो ब्रह्म है वही मैं हूँ॥१९॥

२. **स्वप्नावस्था**—जिस अवस्था में इन्द्रिय संयोग के विना ही भोग का अनुभव होता है। स्वप्नावस्था में सारी इन्द्रियाँ अपने कारण में लीन हो जाती है और वह इन्द्रियों के कारण मन उस वासनायुक्त इन्द्रियों को स्वकल्पित वस्तुओं को उपस्थित कर उसे भोगानुभव कराता है। वहाँ भी भोक्ता आत्मा ही होता है।

३. **सुषुप्ति अवस्था**—आत्मा में जब (जिस अवस्था में) सद्युक्ततया नैराकुल्यता होती है, उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। वहाँ सुषुप्ति में भी 'सुखमहमवाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्' मैंने सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना। यहाँ सुषुप्तिकालीन तम (अज्ञान) के जो बोध (न किञ्चिदवेदिषम्) की जो स्मृति होती है वह अनुभूत विषयिका होती है क्योंकि—'या या स्मृतिः सा सा अनुभव पूर्विका इति व्याप्ति लोंके दृष्टा भवति' जो-जो स्मृति होती है वह-वह अनुभव पूर्विका ही होती है। यह व्याप्ति लोकानुभव प्रसिद्ध ही है। अतः इस सम्बन्ध में पञ्चदशीकार ने कहा है—

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमो, बोधो भवेत्स्मृतिः।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः॥ (१/५)

वहाँ भी अवबोधक आत्मा ही है क्योंकि 'सुखपूर्वक सोया' का माता (प्रमाता) आत्मा के अतिरिक्त किसी की उपस्थिति का वहाँ अभाव ही है। इसलिए कहा कि—

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत्।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संक्तिदव द्विनान्तरे॥
मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयं प्रभा॥ (पंचदशी १/६-७)

वह बोध सुषुप्त कालिक अज्ञान का अनुभव अज्ञानविषयक अन्य ज्ञान से भिन्न ही होते हैं। तीनों जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में संवित् एक ही हैं 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' यह न्याय है कि सभी वाक्य अर्थज्ञान का उद्‌बोधक होता है।

४. **तुरीयावस्था**—जिस अवस्था में सभी वस्तुओं के ज्ञान में एकमात्र आत्मतत्त्व का दर्शन हो और उस ज्ञान के जो करणवृत्ति हो वह सर्वथा तम के अभाव वाला अर्थात्

सत्त्वप्रधान तेजसा गृहीत हो तो तुरीयावस्था की स्थिति होती है। वह इसलिए कि वहाँ चित्त की परिशुद्धि हो जाती है। चित्त के परिशुद्ध हो जाने पर शुद्ध विज्ञान का उदय होना स्वाभाविक हो जाता है। इस लिए कहा कि—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्यो, गृह्यमेतत्सनातनम्।।१३।।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते।।१४।। (पञ्चदशी ११)

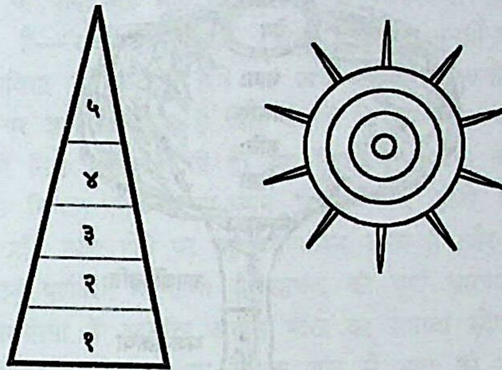
चित्त ही संसार का कारक है इसलिए चित्त का शोधन करना चाहिये। क्योंकि जैसा चित्त होता है वैसा ही जीव का स्वभाव होता है। चित्त के प्रसाद (परिशुद्धि) से ही शुभाशुभ कर्म का क्षय सम्भव होता है। इसलिए चित्त (मन) को निर्मल कर आत्मस्थ हो जाने से अक्षय्य सुख ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सम्भव हो पाता है।

५. **तुरीयातीतावस्था**—इस अवस्था में आत्मा-परमात्मा का नित्य अभेद हो जाता है। यथा नदी का जल समुद्र में मिल जाने से एकत्व (अभेद) को प्राप्त कर जाता है उसी प्रकार उपाधि (शरीरादि) बुद्धि के नष्ट हो जाने पर जीवात्मपरमात्म का अभेद दर्शन हो जाता है। वह तुरीयातीता अवस्था प्राप्त साधक एक ही दृष्टि से जगत् और परमात्मा को देखता है। यथा—

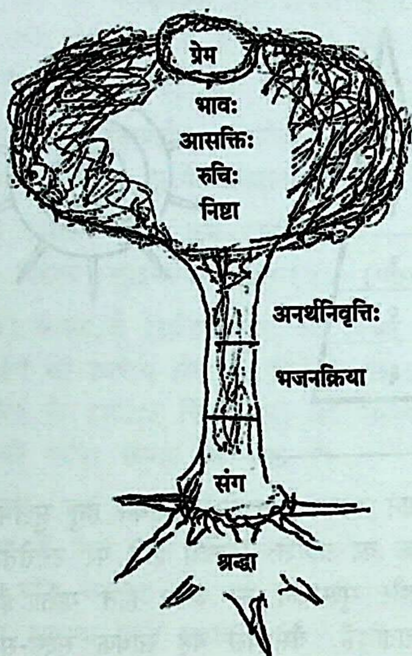
एकैव दृष्टि:काकस्य वामदक्षिणनेत्रयो:।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मति:।।२९।।

भुञ्जानो विषयानन्दं, विषयानन्दं च तत्त्ववित्।
द्विभाषाभिज्ञवद्विधा; दुभौ लौकिकवैदिकौ।। (पंचदशी-११)

काक (कौवा) की एक ही आँख होती है और वह उसी से गमनागमन बोध प्राप्त करता रहता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म दृष्टि को प्राप्त ब्रह्मवेत्ता (तुरीयातीत अवस्था प्राप्त साधक) लौकिक और अलौकिक अर्थात् विषयानन्द और ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है अथवा तत्त्ववेत्ता जिसे ब्रह्मानन्द और संसारी जिसे विषयानन्द कहते हैं, वे दोनों आनन्द की उपाधिभंग हो जाने पर ब्रह्मविद् और ब्रह्माविद् ब्रह्मानन्दस्वरूप से ही दोनों आनन्दों को ग्रहण करता है। जिस प्रकार द्विभाषिया परस्पर दो भाषाओं के बोलने वालों के अभिप्राय को एक समझ कर उन अभिप्रायों को उसकी-उसकी भाषा में प्रकट कर देता है। वह भाषा के माध्यम से मात्र उसके अभिप्राय को ही ग्रहण करता और अभिव्यक्त करता है उसकी भाषा को नहीं। उसी प्रकार ब्रह्मविद् लौकिक (वैषयिक) और वैदिक (सर्वं खलु इदं ब्रह्म) के तात्पर्य (कथनाभिप्राय) अर्थात् लक्ष्यार्थ को ही मात्र ग्रहण करता है। (प्रपञ्चसार १९)



यहाँ प्रतीक चित्र द्वारा ज्ञान साधना क्षेत्र के उद्बोधन हेतु सुलभ उपाय चित्रित किया गया है। उपासना क्रम में साधक का क्रमशः विकास होने पर उत्तरोत्तर स्थूलबुद्धि-स्थूलज्ञान का परित्याग और सूक्ष्मबुद्धि और सूक्ष्मज्ञान का जनन होते रहता है। जैसे-जैसे उपासना द्वारा मनः प्रसाद प्राप्त होते जाता है, वैसे-वैसे वह साधक सूक्ष्म-सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम एवं सूक्ष्मतमोत्तम ज्ञान को अभिवृद्धि करता हुआ उस-उस स्थिति को प्राप्त होता जाता है। चित्र में भी प्रकोष्ठ-१ को विस्तृत (सबसे अधिक स्थान वाला) दिखाया गया है, जिससे स्थूलता का बोध हो। इसीलिए उत्तरोत्तर क्रम में प्रकोष्ठ-१,२,३,४ और ५ को उस-उस से सूक्ष्म दिखाया गया है। यथा ज्ञानयोग मार्ग के अवलम्बन में—१. प्राणायाम, २. प्रत्याहार, ३. धारणा, ४. ध्यान और ५. समाधि ये पाँच आध्यात्मिक सामग्रियों की सहायता से परमात्मा ईश्वर का साक्षात् बोध द्वारा कैवल्य की प्राप्ति कही गयी है। व्यावहारिक वस्तु विषयक ज्ञान सर्वस्थूलतम बोध है यह ध्यान रखना चाहिये—१. प्राणायाम जगत् की मिथ्याप्रतीति विषयक बोध है 'जगत् सर्वं मिथ्याप्रतीति प्राणायाम'। (त्रि.ब्रा.उ.) २. चित्त की अन्तर्मुखीभाव को प्राप्त करना प्रत्याहार है 'चित्तस्य अन्तर्मुखीभावः प्रत्याहारः' (त्रि.ब्रा.उ.) यह प्राणायाम से सूक्ष्म बोध है। ३. चित्त की ध्येय परमात्मा में निश्चयीभाव को धारणा कहते हैं—'चित्तस्य निश्चयीभावः धारणा' (त्रि.ब्रा.उ.) यह प्रत्याहार से सूक्ष्म है। ४. मैं ध्येय परमात्मास्वरूप अर्थात् चिन्मात्र स्वरूप हूँ इस प्रकार का चिन्तन ध्यान है—'सोऽहं चिन्मात्रचिन्तनं ध्यानम्' (त्रि.ब्रा.उ.) यह धारणा से भी सूक्ष्म बोध है। ५. ध्यान वृत्ति का सम्यक् विस्मृति समाधि है—'ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिः' (त्रि.ब्रा.उ.) यह ध्यान से भी सूक्ष्मतम है। इससे भी सूक्ष्मतमोत्तम लक्ष्यात्मा परमात्मा मात्र में पूर्ण प्रतिष्ठ होना है, जहाँ कोई भी सीमा नहीं होती, जिसे 'इदमित्थम्' रूप से नहीं कहा जा सकता, उसकी



कोई श्रेणी नहीं होती, इसलिए वह असीमित-अनन्त-स्वानुभवगम्य मात्र है। अतः कहा जाता है कि 'स्वानुभूत्यैकमानाय नमः शान्ताय तेजसे' (नीतिशतक-१) यहाँ तक प्रथम प्रतीक के लिए कहा गया। अब द्वितीय प्रतीक भक्तिज्ञान या भक्तियोग का प्रतीक दृष्टान्त कहा जा रहा है—

भक्तियोग मार्ग में नवधा भक्ति प्रसिद्ध है। भक्तिरूपी वृक्ष का मूल श्रद्धा है। जो भक्ति योग के लिये प्रथम सोपान है। मूल के बिना वृक्ष की स्थिति नहीं हो सकती, इसलिए यहाँ प्रतीक चित्र में श्रद्धा को वृक्षमूल के रूप में दर्शाया गया। द्वितीय सोपान संग है। संग से सत्संग का अर्थ ग्रहण है। श्रद्धा के बिना सत्संग संभव नहीं होता। श्रद्धाहीन संग को कुसंग कहा जाता है। कुसंग में कामी-क्रोधी-लोभी-अहंकारी-विषयानुरागी आदि असद् विचारधारा के नरपशु (कहने को नर परन्तु आचरण से पशु) होते हैं। वे स्वयं तो अज्ञानान्धकार के नरक में वास करते ही हैं औरों को भी उसी (नरक) में ढ़केल देने का स्वभाव वाले होते हैं। अतः वे खल-मूढ़-असाधु-कुमार्गी त्याज्य हैं। श्रद्धावान् साधक (मानव) कुसंग में निष्ठा नहीं रखते। वे सत्संग में श्रद्धा-निष्ठा-प्रेम रखते हैं, इसलिये वे ज्ञान को प्राप्त करते हैं—'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्' (गीता)। सत्संग से तृतीय सोपान (तृतीया भक्ति)

भजनक्रिया की प्राप्ति होती है और भजनक्रिया (परमात्मा की आराधना) से अनर्थ की निवृत्ति होती है। सभी प्रकार के पापों का मूल अविद्या है जो अनर्थरूपा है। इसलिए भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं—'सर्वानर्थमूलाविद्या' (भामती) सभी अनर्थों-पापों-अज्ञानों के मूल में अविद्या ही है। अविद्या की निवृत्ति होने पर अर्थात् अविद्या रूपी आवरण से आत्मा के अनावृत्त हो जाने पर ज्ञानोदय होता है और यथार्थ चिन्तन-दर्शन का मार्ग प्रशस्त होता है। जिससे परमात्मा में निष्ठा उत्पन्न होती है। यह निष्ठोत्पत्ति भक्ति का पाँचवाँ सोपान है। निष्ठा से परमात्मा के चिन्तन-मनन-धारणा-ध्यान में अभिरुचि होती है जो छठवाँ सोपान है। परमात्मा ईश्वर के प्रति रूचि होने पर वह ध्येय बन जाता है और उस सर्वगुण सम्पन्न-परमैश्वर्य समान्न-सर्वप्रदाता-पूर्णकाम परमात्मा में साधक की पूर्ण धारणा बन जाती है और निरन्तर अभ्यास से परमात्मा में आसक्ति अर्थात् भक्ति का सातवाँ सोपान साधक-भक्त प्राप्त करता है। आसक्ति के प्रगाढ़ हो जाने पर साधक भक्त में भाव की उत्पत्ति होती है। भाव परमात्मा के सत्ता-अस्तित्व का वाचक शब्द है। परमेश्वर-परमात्मा ही सभी वस्तुओं में है। उनके भाव (सत्ता) के अतिरिक्त कोई भी भाव (सत्ता) जगत् में नहीं है इस प्रकार का निश्चल-निश्छल-दृढ़-ध्रुव बोध ही भाव शब्द के अर्थ का द्योतक है। भाव रूप परमात्मा ही हैं—

स एव सर्वं यद्भूतं, यच्च भव्यं सनातनम्।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति, नान्यः पन्था विमुक्तये।। (कै.उ. ९)

त्रिषधामसु यद्भोग्यं, भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षण साक्षी, चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।। (कैवल्योपनिषद् १८)

'नैह नानाऽस्ति किञ्चन', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। (श्रुति)

'ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'। (ईशावास्योप. १)

'ईश्वरो हि सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। (श्रीमद्भगवद्गीता)

'सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।। (मानस)

इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति-पुराण एवं धर्मग्रन्थोक्त ईश्वर स्वरूप विषयक वाक्यों का निचोड़ सर्वव्यापी परमात्मा का जगत् के सभी वस्तु प्रपञ्चों में दर्शन प्राप्ति को भाव कहते हैं। यह भाव ही भक्तियोग का अष्टम सोपान या आठवीं भक्ति के नाम से कहा जाता है। भाव के सम्यग् परिपक्व हो जाने पर भक्ति के नवम सोपान प्रेमा भक्ति की प्राप्ति होती है। प्रेमाभक्ति के सम्बन्ध में कहा है कि—

सदासेवानुकूल्येन, सेवनं तद्धि गोगणैः।
हृदयामृतभोगेन, प्रियं दास्यमुदाहृतम्।। (शिवपु.रु.सती.)

मातर्माये भगिनि कुमते हे पित मोंह जाल?
व्यावर्तध्वं भवतु भवतामेष दीर्घो वियोगः।
सद्योलक्ष्मीरमणचरणभ्रष्टगंगाप्रवाह-
व्यामिश्रायां दृषदि परमब्रह्मदृष्टिर्भवामि।। (शान्तिशतकम्)

'प्रसाद आन्तरो हार्दः'

सङ्गमसम्पृक्तस्वान्तो, ममत्वातिशयाङ्कितः।
भाव एव स सान्द्रात्मा, बुधैः प्रेमा निगद्यते।। (भक्तिरसामृत सि. २/१)
'तत्सुखे सुखित्वं प्रेम्णः लक्षणम्'। (ना.भ.सू.)

परमात्मा के साथ सङ्गम (एकीभाव) स्वान्तः करणवाला होकर और जो यह (परमात्मा) है वही मैं (साधक-अर्चक) हूँ इस प्रकार के सान्द्रीभाव से अभेद (अद्वितीय) भाव की प्राप्ति ही प्रेमा भक्ति है, अथवा नारद भक्ति सूत्र के अनुसार 'उस परमात्मा-परमेश्वर-आराध्य-ध्येय-सेव्य को जिसमें सुखानुभूति हो उसी में स्वसुखानुभूति के अनुभव को प्रेम या प्रेमा भक्ति कहते हैं। यह भक्ति का नवम सोपान है। जिसे नवमी भक्ति भी कही जाती है। यही भक्तिमार्ग का चरमोत्कर्ष है। सर्वत्र अभेद बोध ही मोक्ष है यह ध्यान रखना चाहिये। जो यह कहते सुने जाते हैं कि 'सेव्य और सेवक अलग-अलग वस्तु हैं' वह अल्पज्ञता को ही प्रकट करते हैं। सेव्य-सेवक भाव में तो प्रथमादि अवस्था मात्र में ही भेद है; अर्थात् यावत् पूर्ण भक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं—उपासना की परमावस्था को प्राप्त नहीं होते हैं या यों कहें कि जब तक ज्ञानभक्ति की पूर्णस्थिति प्राप्त नहीं हुई है, तब तक ही भेद रहता है। प्रेमा भक्ति अर्थात् नवम सोपानारोहण के अनन्तर तो उपास्य-उपासक, सेव्य-सेवक, चिन्त्य-चिन्तक का अभेदाश्रयत्व ही होता है। ज्ञान और भक्ति में भी अभेद ही है। ज्ञान और भक्ति दोनों एक ही वस्तु है। जो दोनों को भिन्न जानता है वह सत्य नहीं जानता। इसीलिए तुलसी ने कहा—

ज्ञानिहिं भक्तिहिं नहि कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा।।

हे मातः माये! हे कुमति बहन! हे मोह जाल रूपी पिता! तुम सबसे यह बहुत बड़ा वियोग उपस्थित हैं, तुम सब लौट जाओ। मुझसे विमुख हो जाओ। क्योंकि मैं अतिशीघ्र भगवान् विष्णु के चरण कमल से निःसृत ज्ञानगंगा से प्लावित ब्रह्मपाषाण हो गया हूँ, इसलिए मेरे ऊपर तुम्हारी (माया की) कोई चाल चलने वाली नहीं है। (शान्तिशतक)

तार्किकमते विध्यर्थस्त्रिविधः-कृतिसाध्यः, अर्थहेतुः, अनर्था हेतुः।

तपः शौचं दया सत्यम्

स्मयः सङ्गः मदैः (भाग. १/१७/२४)

यदधर्मकृतः स्थानं, सूचकस्यापि तद्भवेत्। (श्रमद्भा. १/१७/२२)

नैयायिकों के मत से विधि के तीन अर्थ है—कृतिसाध्य, अर्थहेतु, अनर्था हेतु।

कृतिसाधय हमारी शक्ति से प्राप्ति के योग्य है, इसलिए स्वर्ग के कल्पवृक्षादि में विधि नहीं है वे कृतिसाध्य नहीं है।

कृतिसाध्य होने पर प्रयोजन के विना काकदन्त परीक्षणादि में विधि नहीं है, क्योंकि उससे कुछ लाभ नहीं।

कृतिसाध्य के कारण होने के कारण प्रयोजन होने पर भी राज्यकोशादि के अपंहरण में विधि नहीं है, क्योंकि वह अनर्थ का हेतु है।

यहाँ धर्म के स्वरूप की व्यञ्जित अर्थ प्रकट करने के लिये चार पद (खुर) प्रतीक रूप में दिये हैं। धर्म को हमारे शास्त्रों में वृषभ के रूप में यत्र-तत्र प्रस्तुत किया गया है। इसलिए धर्मरूप वृषभ के चार पद (खुर) होते हैं, ऐसा प्रतीक यहाँ दिया गया है। धर्म वृषभ के आगे के दो पदों को (दक्षिण एवं वाम) क्रमशः तप (दाहिना) और शौच (वाम) प्रतीक पद से कहा गया। इसी तरह पश्चात् पद (पीछे) के खुर दक्ष पद (दाहिना खुर) दया और (वाम खुर) सत्य है। इन्हीं चारों पदों से ही धर्म वृषभ की सम्यग् स्थिति होती है। जहाँ तप-शौच-दया और सत्य है वही धर्म की स्थिति है, ऐसा जानना चाहिये। यदि अधर्माचरण होंगे तो उनके तीन पद नष्ट (भङ्ग) हो जायेंगे। वे तीन पद किससे भङ्ग (नष्ट) होते हैं? इसी का उत्तर प्रतीक के नीचे-स्मय-सङ्ग और मद को कहा गया है। जो धर्माचरण करने वाले हैं, धार्मिक हैं, तप-दया-दान-अहिंसा में निष्ठा रखते हैं उन्हें स्मय-कुसंग और भेद बुद्धि से परहेज करना चाहिये अन्यथा धर्म की हानि होती है। (श्रीमद्भा. १/१७/२४)

जो अधर्म करने वाले को पाप लगता है। वही उसके करने को कहने वाले अर्थात् प्रेरक को भी लगता है। (श्रीमद्भा. १/१७/२२)

द्यूतं पानं स्त्रिय-सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः। (श्रीमद्भा. १/१७/३८)

जातरूपमदात्प्रभुः ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम्।
(श्रीमद्भा. १/१७/३९)

मतिर्लोलायते सत्यं, सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभि र्विश्वासितश्चासौ, म्रियते चित्रकर्णवत्।।

जूआ, सुरापान, स्त्री का संग और हिंसा ये चार प्रकार के अधर्म है। इसमें कलि का वास है। पुनः कलि के माँगने पर सुवर्ण में भी उसे स्थान दिया गया। उसके आने पर झूठ मद कामनायें रजोगुण तथा परस्पर वैर ये पञ्च अवगुण स्वतः आ गये।
(श्रीमद्भा. १/१७/३८-३९)

खलों के वचन को जिसने सत्य माना, विश्वास किया वे चाहे कितने ही विद्वान् हो, सज्जन हो, सन्त हो वे दोलायमान हो ही जाते हैं। क्योंकि—

विशिखव्यालयोरन्त्यवर्णाभ्यां यो हि विनिर्मितः।
परस्य हरति प्राणान्नैतच्चित्रं कुलोचितम्।। (सुभाषित रत्नभाण्डागार-३)

खल शब्द में दो वर्ण हैं। प्रथम वर्ण 'ख' और द्वितीय वर्ण 'ल' है। यहाँ खल शब्द विशिख (वाण-तीर) शब्द के अन्त्य (अन्तिम) वर्ण 'ख' और व्याल (सर्प) शब्द के अन्त्य वर्ण 'ल' को संगृहीत कर बना है। दोनों ही लोगों के प्राणों को ही हरण करने के स्वभाव वाले होते हैं। इसलिए खल का स्वभाव अपने कुलोचित ही है। अतः यहाँ (खल के सम्बन्ध में) आश्चर्य नहीं करना चाहिये। खल का प्रभाव होता है कि वह सज्जनों के मति को भी विचलित कर देता है। अतः खल का संग त्याज्य है। जो उनके वचनों पर विश्वास करते हैं वे चित्रकर्ण की भाँति मृत्यु को प्राप्त करते हैं। चित्रकर्ण सदाचारी-सज्जन होते हुए भी खल के वचन पर विश्वास किया था इसलिए वह मारा गया था। संग करने योग्य-विश्वास करने योग्य तो सज्जन-साधु-सन्त स्वभाव के लोग होते हैं। जो सज्जनों से संग करते हैं, वे प्रसन्न होते हैं, आनन्दित होते हैं, सुख पाते हैं। यथा—

अञ्जलिस्थानि पुष्पाणि, वासयन्ति करद्वयम्।
अहो सुमनसां प्रीतिवामदक्षिणयोः समा।। (प्रसंगरत्नावली एवं सुभा.र.भा. ३)

अञ्जलि स्थित पुष्प दोनों हाथों को बिना भेद किये सुगन्धित (वासित) कर देता है, उसी प्रकार जो सज्जन हैं—सन्त हैं वे बिना भेद के सबों को अपने सद्गुणयुक्त विचार-आचरण-उपदेश से उन्हें (सज्जनों-दुर्जनों) को सुख प्रदान करते हैं। सज्जन को पहचाना और पहचान कर सङ्ग करना चातुरी है। सज्जन बाहर से कठोर भी हो सकते हैं। उनकी

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा, पूर्णरूपं स्वयं भवेत्।
अहं नाम न कोप्यस्ति, सर्वदाऽऽत्मैव विद्यते।। (शिव.सं.)

कठोरता को देखकर उनसे दूर होने पर क्षति होती है। इसके विपरीत दुर्ज्जन-शठ-खल-असाधु बाहर से सुन्दर और अन्दर से काले होते हैं—

नारिकेल समाकारा दृश्यन्ते खलु सज्जनाः।
अन्ये बदरिकाकाराः बहिरेव मनोहराः।।

सज्जन बाहर से नारियल फल के समान कठोर होते हैं, परन्तु भीतर कोमल होते हैं। परन्तु दुर्ज्जन बाहर से वेर फल के समान सुन्दर और अन्दर से कठोर होते हैं। सज्जन नीरस भी हो सकते हैं परन्तु हितकारी होते हैं—

निष्पेसोऽस्थि च यस्य दुःसहतरः प्राप्तस्तुलारोहणम्।
ग्राम्यस्त्रीनखचुम्बनव्यतिकरस्तन्त्रीप्रहारव्यथा।।
मातङ्गोक्षितमण्डवारिकणिकां पानं च कूर्चाहतिः।
कार्पासेन परार्थसाधनविधौ किं किं न चाङ्गीकृतम्।।

अर्थात् कपास अपनी अस्थि समूह को प्रथम कुटवाता है, फिर तुला पर चढ़वाता है और उसके बाद ग्राम्य स्त्रियों के नखों के प्रहार से उधड़वाता है; पुनः धुनिये द्वारा अपने को धुनवा कर नीच जुलाहे के माड़ को पीता है और वह फिर कूचियों से ताडित होकर वस्त्र का स्वरूप धारण करता है जिससे लोगों के शीत-गर्म-लज्जा शान्त होते हैं। वह कपास लोगों के हित के लिए क्या-क्या नहीं सहन करता। यहाँ सज्जनों के स्वभाव को जानने के लिए कपास का दृष्टान्त दिया गया है। इसलिये सज्जनों और दुर्ज्जनों के भेद को समझने के लिए कहा है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदुलानि कुसुमादपि।
हलादीनि-हिमांशोऽपि, शीतलानि चन्दनादपि।।

सन्त-सज्जन वज्र से भी कठोर, कुसुम से भी कोमल, चन्द्रमा से भी आनन्ददायक और चन्दन से भी अधिक शीतल स्वभाव के होते हैं। इसलिए गुण-अवगुण के आधार पर ही सज्जन दुर्ज्जन, साधु-असाधु, सन्त-असन्त को जानना चाहिये और सङ्ग असङ्ग का व्यवहार निर्धारित करना चाहिये। अतः खलों के वचनों पर विश्वास करने वाला चित्रकर्ण के समान नष्ट हो जाता है ऐसा मूल में कहा है। (भागवत)

मन अर्थात् चित्त की वृत्तियों को निरोध करके स्वयं आत्मा स्वरूप मैं हूँ अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध को प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि अहं अर्थात् शरीरात्म बोध नामक

स्मृत्यपरोक्षे विमर्शः। (१)

शब्दजन्यं ज्ञानं प्रायः परोक्षो भवति, क्वचिदपरोक्षमपि। एवमेव–विषयस्य सन्निहिते सत्यात्मविषयिकास्मृतिरप्यपरोक्षा भवति। अत्रैषा शङ्का विद्यते यत्–शाब्दबोधस्यापरोक्षताया दृष्टान्तः, दशमस्त्वमसि इति भवति, आत्मविषयक स्मृतेरपरोक्षतायाः किं कश्चिद् दृष्टान्तोस्ति? यत्र स्मृतिरपरोक्षोक्ता स्यात्? विषयस्यानुपस्थितौ संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति प्रसिद्धमस्ति, विषयस्यानुपस्थितौ संस्कारजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञां कक्षयन्ति, 'सोयं देवदत्तः' इत्यत्र, पूर्वानुभूतदेवदत्तस्य दर्शने प्रत्यभिज्ञा स्वीकृतास्ति। दृष्टिस्वरूप आत्मा तु सर्वदा अपरोक्षोऽस्ति, 'नहि द्रष्टु र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतिः।

कोई वस्तु नहीं है। जब सर्वाधिष्ठान आत्मा का अपरोक्ष बोध हो जायगा तो शरीर में आत्मा की जो भ्रान्ति है वह अपने आप मिट जायगा। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि भ्रम यथार्थ उपस्थित अधिष्ठान वस्तु में ही होता है। जिस प्रकार सुक्ति में रजत भ्रान्ति स्थल में सुक्ति (सीपं) यथार्थ उपस्थित अधिष्ठान वस्तु है और रजत (चाँदी) का वहाँ सर्वथा अभाव ही होता है, परन्तु सुक्ति के सम्यग् ज्ञान न रहने के कारण तथा अन्तःकरण में लोभ की उपस्थिति दोष के फलस्वरूप सुक्ति में रजत बोध हो जाता है, जबकि वह सम्पूर्णतया भ्रम ही होता है। सुक्ति अधिष्ठान (अधिकरण) में जिस तरह रजत भ्रान्ति होती है उसी प्रकार शरीराधिष्ठान आत्मा में शरीरादि की भ्रान्ति होती है। अधिष्ठान (अधिकरण-आधार) सुक्ति वहाँ सत्य होता है और आधेय (रजत) असत्य (मिथ्या) होता है। रजतात्मक चित्तवृत्ति के नष्ट हो जाने पर सुक्ति की प्रतीति जिस प्रकार सत्य-अपरोक्ष होती है, उसी प्रकार चित्तगत शरीरात्म चित्तवृत्ति के प्रशमन (निरोध) हो जाने पर शरीर के अधिष्ठान आत्मा मात्र का अपरोक्ष-नित्य, दर्शन-बोध रह जायगा यही इसका तात्पर्य है। (शिवसंहिता)

स्मृत्यपरोक्षेविमर्शः (१)

शब्द से उत्पन्न ज्ञान प्रायः परोक्ष होता है। कहीं-कहीं अपरोक्ष भी होता है। इस प्रकार विषय के सन्निहित होने पर आत्मविषयक स्मृति भी अपरोक्ष होती है। यहाँ पर यह शङ्का है कि शब्दबोध से जन्य अपरोक्षता का दृष्टान्त दशमस्त्वमसि-दशवाँ तू ही है नदी में कोई भी नहीं डूबा यह मिलता है। किन्तु आत्मविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का क्या कोई दृष्टान्त दृष्टि गोचर है? जहाँ उक्त स्मृति को अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) मानी जाय? विषय की अनुपस्थिति में संस्कार जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं यह बहुत प्रसिद्ध है। तथा विषय के उपस्थित रहने पर संस्कार जन्य ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं जैसे—'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है। 'सोऽयं देवदत्त' यहाँ पर पूर्वानुभूत अर्थात् पूर्व में देखा हुआ ग्रहण किया जाता है, पूर्व

आत्मनः पुनर्दर्शनाभावे आत्मापरोक्षं न प्रत्यभिज्ञापदवाच्यं भवति, प्रत्यभिज्ञादर्शने यद्यपि इदमुक्तं–'प्रसिद्धपुराणसिद्धागमानुमानादिज्ञात्तपरिपूर्णशक्तिके परमेश्वरे सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तच्छक्तिप्रतिसंन्धानेन ज्ञानमुदेति, नूनं स एवेश्वरोऽहं इति सा प्रत्यभिज्ञा। तथाप्यत्र, ज्ञानं-परमेश्वरस्य शक्तीनां प्रतिसन्धानस्य संस्कार जन्यत्वेन प्रत्यभिज्ञेति कथितं, परमेश्वरस्य ज्ञप्तिरूपं ज्ञानं न प्रत्यभिज्ञा। तद् भवेदपि कथं? प्रत्यभिज्ञा, यदा श्रुतिरात्मानं साक्षादुक्त्वाऽपरोक्षं कथयति, अनेन द्विःप्रयोगेणैतत्स्पष्टं यद् आत्मसाक्षात्कारे स्मृत्यादिकस्य कस्यचिज्जन्यज्ञानस्य सांकर्यं नास्ति। तत्वानुसंन्धानस्यापि तत्प्रकरणं दर्शयतुं यत्रात्मविषयिकां स्मृतिमपरोक्षामुक्तं स्यात्।

दृष्ट देवदत्त के दीखने पर प्रत्यभिज्ञा स्वीकृत की गयी है। किन्तु द्रष्टा स्वरूप आत्मा तो सर्वदा प्रत्यक्ष ही है। वेद में कहा है कि—'द्रष्टा की दृष्टि का कभी भी (अर्दशन) अभाव नहीं होता है'।

आत्मा का यदि दर्शन नहीं है तो पूर्व दृष्ट में होने वाली प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में यद्यपि यह कहा है कि—प्रसिद्ध पुराणों से सिद्ध तथा आगम तथा अनुमानादि से ज्ञात परिपूर्ण शक्तिवान् परमेश्वर के स्वात्मा में अभिमुख प्रत्यक्ष होने पर उस शक्तियों के अनुसन्धान से अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है और निष्प्रपञ्च 'वह परमेश्वर मैं ही हूँ' ऐसा बोध होता है। 'यही वह' यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है, तो भी यहाँ ज्ञान को परमेश्वर की शक्तियों के प्रतिसन्धान के संस्कारों से जन्य होने से ही प्रत्यभिज्ञा कहा है। परमेश्वर का केवल ज्ञप्तिरूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञा नहीं है। अत: शक्तियों के प्रतिसन्धान से सम्यक्जन्य होना आवश्यक है। इसी को कहा है कि वह ज्ञान हो भी तो भी वह प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकेगा? जब कि श्रुति आत्मा का साक्षाद् अपरोक्ष बोध का उपदेश कराती है। इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि आत्मा के साक्षात्कार से स्मृति आदि में किसी भी प्रकार का जन्यज्ञान का संमिश्रण नहीं है। तत्त्वानुसन्धान से तो उस प्रकरण को दिखाने के लिए आत्मविषयक स्मृति को अपरोक्ष कहना ही होगा।

(श्री सुखबोधाश्रम)
२०४४।आषाढ़ कृ. २, हरिद्वार-भू.नि.

स्मृतिविषये विमर्शः पत्र (२) 'श्रीः'

'तत्वानुसंन्धान ग्रन्थ में यथार्थ आत्मस्मृति का वर्णन करते हुये लिखा है कि— 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से जन्य जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अनुभव है, इस अनुभव से जन्य संस्कारों के द्वारा उत्पन्न प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की स्मृति ही **'यथार्थ आत्मस्मृति'** है।

इस लेख से सुस्पष्ट है कि ब्रह्माकारवृत्ति उत्पाद-विनाशशालिनी है, वृत्यन्तरों के व्यवधान से फिर उत्पन्न होने वाली प्रत्यगभिन्न ब्रह्माकारवृत्ति स्मृतिरूपा है। ग्रन्थकार का तात्पर्य भी ब्रह्माकारवृत्ति की स्मृति में ही तात्पर्य है, ब्रह्म की स्मृति में नहीं।

विषय की अनुपस्थिति में अनुभवजन्य संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। ब्रह्म कभी अनुपस्थित नहीं रहता, उसकी अनुपस्थिति कभी नहीं होती। 'अद्वैत सिद्धि' के मङ्गलाचरण में 'श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचर:' इस पद से अखण्डाकार वृत्ति की ही उत्पत्ति कही है। अत: विस्मृति या स्मृति भी वृत्ति की ही हो सकती है। आपके लेख में भी आत्मविषयक स्मृति तो हो सकता है, किन्तु इस स्मृति को प्रत्यक्ष कहना सङ्गत नहीं हो रहा है। अपने सम्प्रदाय में स्मृति को प्रमा नहीं माना है, इसलिए इसको प्रत्यक्षप्रमा कहना सम्प्रदाय विरुद्ध है।

सुखबोधाश्रम

२ जून, ८८

स्मृतिविषयविमर्श (३)

।।श्रीः।।

'संस्कारमात्र जन्य ज्ञान ही स्मृति है, इस लक्षण के पदकृत्य में मात्र शब्द की सार्थकता तभी है, जबकि विषय उपस्थित न हो। अन्यथा प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति होगी। आश्चर्य है कि मात्र शब्द की सार्थकता आपकी दृष्टि में अभी तक नहीं आई। लक्षण में प्रविष्ट विषय कौन-सा तथा किस काल में हो, इस प्रश्न परम्परा को उठाकर लक्षण की सिद्धि को कठिन कहना भी आश्चर्य है। स्मृति के लक्षण का विषय कोई भी और किसी भी काल में हो, लक्षण के सिद्ध होने में न कोई विषय बाधक है न काल बाधक है। आत्मा और अनात्मा यह दो पदार्थ अनुभव के विषय होते हैं। आत्मा सर्वदा उपस्थित ही है। विषय की उपस्थिति में उस विषय का ज्ञान कभी स्मृति नहीं हो सकता। उस समय 'अनात्म पदार्थों का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा और आत्मा का ज्ञान साक्षात् अपरोक्षात्' इस श्रुति के प्रमाण से अपरोक्ष ही है। आत्मसाक्षात्कार में स्मृति के लिये कोई स्थान नहीं है। इसलिये तत्त्वानुसन्धान ग्रन्थ की प्रामाणिकता की रक्षा के लिये आत्मस्मृति का अर्थ—आत्माकारवृत्ति की स्मृति है। आत्मा की स्मृति मानने पर आत्मा की अनुपस्थिति भी माननी पड़ेगी जो कि अपसिद्धान्त है। अनात्म पदार्थों की स्मृति में अनात्माकार वृत्तियों की ही स्मृति होती है, क्योंकि कण्ठाभरण उपस्थित है, किन्तु तदाकार वृत्ति नहीं है, इसलिये उसको विस्मृति कहते हैं। कण्ठाभरणाकार वृत्ति के आते ही कण्ठाभरण के उपस्थित रहने के कारण विस्मृत ग्रीवास्थ कण्ठाभरण का ज्ञान प्रत्यक्ष है। ग्रीवा में न होकर यदि वह कहीं दूर होता तो उसका ज्ञान स्मृति कहा जाता। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से ही विषयों की स्मृति या विस्मृति कही जाती है, सूक्ष्म दृष्टि से तत्तद्विषयाकार वृत्तियों की ही स्मृति या विस्मृति होती है। क्योंकि यह दोनों भी वृत्तियाँ ही है, विषय इनके साथ हैं और व्यवहार में इनकी प्रधानता भी है। इसलिए स्थूलदर्शी इन्हीं को स्मृति या विस्मृति कहते हैं। हमने स्मृति को स्मृति कहीं नहीं लिखी है वृत्तियों की स्मृति लिखी है। आपने जो यह लिखा है कि मैं स्मृति को प्रत्यक्ष प्रमा नहीं मानता तो आप श्री करपात्री जी के स्मृति ग्रन्थ में अपना लेख पढ़िये। हमारे पास भी यहीं है। हमारी शास्त्रानुसारिणी मान्यता के अनुसार केवल प्रत्यक्ष प्रमा ही नहीं, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी, अर्थापत्ति, अनुलब्धि ये सभी प्रमायें हैं। सुख दुःख

अन्वय व्यतिरेकौ

१. एकस्मिन्सत्यन्यस्यसत्वमन्वयः।

२. एकस्मिन्नसत्यन्यस्याभावो व्यतिरेकः। (वृत्तिप्रभाकरे)

विषयचेतनस्यवृत्तिचेतनेनाभेदाभावत्वात् स्मृति ज्ञानं परोक्षम्।

पूर्वानुभवसंस्कारसत्वे इन्द्रियसंयोगे सति सोऽयं इति ज्ञानमभिज्ञा ज्ञानम्।

तत्र तत्तांशे स्मृतिरूपं परोक्षं सा स्मृतिः उभय अंशे प्रत्यक्षम्।

केवलसंस्कारजन्यवृत्तेः सः इत्याकारः, सा स्मृतिः।

स्मृतिज्ञाने पूर्वानुभवः करणं अनुभवजन्यः संस्कारो व्यापारः।

निर्विवाद साक्षिभास्य हैं। अपने मत में इस प्रासङ्गिक विषय को उठाकर बात का बतङ्गड़ बनाने से क्या लाभ?

इस प्रसङ्ग से हमारा इतना ही मुख्य सम्बन्ध है कि आत्मविषयक स्मृति प्रत्यक्षप्रमा नहीं हो सकती जैसा कि आपने लिखा है। (सुखबोधाश्रम, २.६.८८)

अन्वयव्यतिरेक

एक के रहते हुए अन्य की सत्ता का रहना अन्वय है।

एक के न होने पर अन्य का भी अभाव व्यतिरेक है। जैसे जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है।

विषयावच्छिन्न चेतन का वृत्यवच्छिन्न चेतन के साथ अभेदाभाव होने से स्मृति का ज्ञान परोक्ष ज्ञान होता है।

पूर्वानुभव के संस्कार रहने पर इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग होने पर सोऽयमित्यादि ज्ञान अभिज्ञा है।

अभिज्ञा स्थल में 'तत्' (वह) पद से ज्ञात अंश परोक्ष ज्ञान होता जो स्मृति रूप होता है परन्तु 'सोऽयं' में जो 'सः' का पदार्थ और 'अयं' पद का पदार्थ दोनों एक होते हैं और दोनों अंश में प्रत्यक्ष ज्ञान ही स्वीकृत है।

केवल संस्कार से जो 'यह वही है' इत्याकारक वृत्ति उत्पन्न होती है। उसे स्मृति कहते हैं।

स्मृतिज्ञान में पूर्वानुभव करण है तथा अनुभवजन्य संस्कार व्यापार है। संस्कार अनुभवजन्य है तथा अनुभवजन्य स्मृति का जनक है।

यागस्य व्यापारोऽपूर्वम्।

स्मृति ज्ञानं न प्रमा। तत्करणस्य संस्कारस्य षट् प्रमाणभिन्नत्वात्। प्रमाणजन्यं ज्ञानं प्रमा भवति।

स्मृतिरपि षट्प्रमाणेषु न। तथापि यथार्थायथार्थभेदेन स्मृतिर्द्विविधा भवति।

प्रमानुभवसंस्कारजन्या यथार्था। (वृत्तिप्र., अनुप.प्र.)

भ्रमानुभवसंस्कार जन्याऽयथार्था।

इन्द्रियजन्यं ज्ञानमेव प्रत्यक्षमिति नियमो न, यत्रान्यप्रमाणजन्य वृत्तिदेशे विषयो भवेत् तत्र प्रत्यक्षं भवति। यथा 'दशमस्त्वमसि' अत्र शब्दजन्यवृत्तिदेशे विषयोऽस्ति, अतः शब्दजन्यं ज्ञानमपि कुत्रचित्प्रत्यक्षं भवति।

ईश्वरज्ञानस्योपादानकारणं माया तत्र सर्वपदार्थाः सन्ति, इन्द्रियजन्याभावेऽपि ईश्वर ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

अनुपलब्धिप्रमाणजन्याभावस्य ज्ञानमपि प्रत्यक्षम्। भूतले घटो नास्तीति वृत्तौ भूतलांशे वृत्तिर्नेत्रजन्या घटाभावांशेऽनुपलब्धिजन्यास्ति।

यज्ञ का व्यापार अपूर्व (अदृष्ट) है, क्योंकि अपूर्व यज्ञ से उत्पन्न होकर यज्ञ से उत्पन्न स्वर्गादि का उत्पादक है।

स्मृति ज्ञान प्रमा (यथार्थ ज्ञान) नहीं है क्योंकि उसके जो करण पूर्वानुभव है वह प्रत्यक्षानुमानादि छः प्रमाणों से भिन्न है। प्रमाणजन्य ज्ञान ही प्रमा होता है।

स्मृति भी षट् प्रमाणों में नहीं है, तथापि यथार्थ और अययार्थ भेद से वह स्मृति दो प्रकार की है।

प्रमारूप अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न यथार्थ स्मृति है। भ्रमानुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न अयथार्थ स्मृति है। (वृति प्र., अनुप.प्र.)

इन्द्रिजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है यह नियम नहीं है, क्योंकि जहाँ अन्य प्रमाणजन्य वृत्तिदेश में विषयवस्तु उपस्थित होता है वहाँ प्रत्यक्ष होता है, जैसे 'दशवाँ तू ही है' यहाँ शब्दजन्य वृत्तिदेश में विषयवस्तु उपस्थित है। अत: शब्दजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष है।

ईश्वरज्ञान का उपादान कारण माया है और माया में इन्द्रियादि सभी पदार्थ विद्यमान ही रहता है। अत: ईश्वर प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य न होने पर भी प्रत्यक्ष है।

अनुपलब्धि प्रमाण से जन्य अभाव ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। यहाँ भूतल पर घट नहीं है अगर होता तो उपलब्ध होता? इस वृत्ति में भूतल अंश में वृत्ति नेत्रजन्य है तथा घटाऽभाव अंश में अनुपलब्धिजन्य है।

मय्यसूया न कर्तव्या, बहुजल्पामि यद्यपि।
ब्रह्मास्मीति वदाम्येव, श्रुति में नाभ्यसूयति।।

वादः–वुभुत्सु कथा, जल्पः–विजिगीषु कथा, वितण्डा–परपक्षनिराकरणमात्रम्।

पञ्चेश्वर पुरुषाः

१. शुद्धः–भूः २. शबलः–बीजम् ३. सूत्रम्–अङ्कुरः ४. विराट्–तरुः ५. विष्णुः–फलम्	'नहि त्वदारे निमिषश्चनेशो' (श्रुतिः) ईश्वरानुग्रहं विना निमिषोऽपि स्वयं चलितुं नेष्टे। (नीलक.)

निष्प्रभेऽस्मिन्निरालोके, सर्वतस्तमसावृते।
बृहदण्डमभूदेकं, प्रजानां बीजमव्यम्।।
यस्मिन्संश्रूयते सत्यं, ज्योतिर्ब्रह्मसनातनम्। (महाभा.आ. १/२९)

मैं वेदान्ती हूँ इसलिये बहुत विस्तार से बोल रहा हूँ। तात्त्विक बातों के विस्तार से कथन से आप को दाह (जलन) नहीं होना चाहिये। मैं ब्रह्म हूँ यह तो बोलूँगा ही, ऐसा बोलने पर भले ही आप जलें परन्तु वेद हमसे जलन नहीं रखता।

बोधेच्छा से कही गई कथा को वाद कहते हैं। जीतने की इच्छा से कही गई कथा को जल्प कहते हैं। जिस कथा में स्वपक्ष न हो परन्तु केवल परपक्ष का निराकरण अर्थात् खण्डन मात्र का कथन हो उसे वितण्डा कहते हैं।

पञ्चेश्वर पुरुष

१. शुद्ध ब्रह्म भूमि स्वरूप है। २. शबल ब्रह्म बीज है। ३. सूत्रात्मा ब्रह्म अङ्कुर है। ४. विराट् ब्रह्म तरू अर्थात् वृक्ष है और ५. विष्णु (शबल ब्रह्म) उसका फल है। श्रुति का उद्घोष है कि विना दार के निमिष भी निर्मूल होगा अर्थात् विना कारण का निमिषादि काल व्यापार भी सम्भव नहीं है। (श्रुति) ईश्वर के अनुग्रह के विना निमिष (आख का पल या काल विशेष) का चलन (व्यापार) भी स्वीकृत मत नहीं है। (नीलक.)

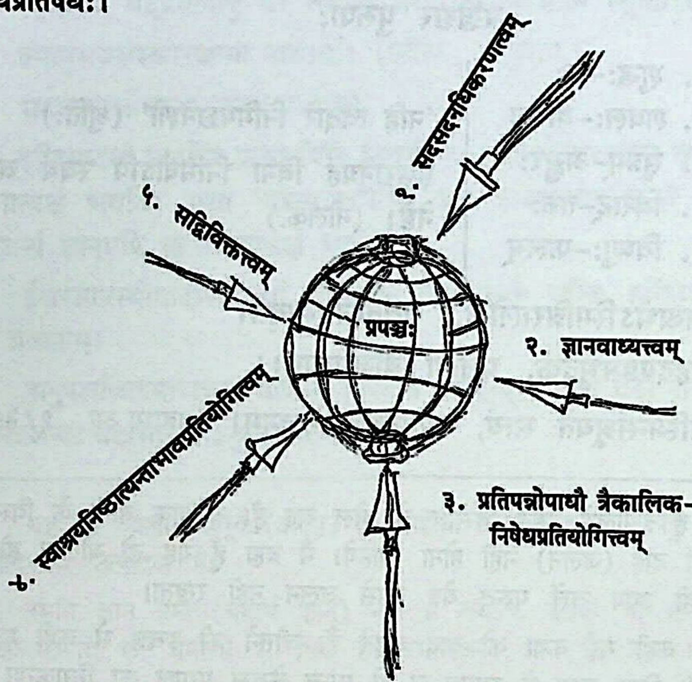
सृष्टि के आदि काल में एक वृहदाकार अण्ड उत्पन्न हुआ जो तम अर्थात् अन्धकार से आवृत्त होने के कारण दृष्टि गोचर नहीं हो रहा था। वही वृहदण्ड प्रजाओं का अव्यय बीज था। वही सत्य-सनातन ज्योति ब्रह्म है ऐसा वेद से ज्ञात होता है।

(महाभा.आ. १/२९)

प्रामाण्यचिन्तायां दृष्टान्तस्याप्रसक्तेः।

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत; त्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। (श्वे.उ. ४/९)

पर्य्युदासः-तद्भिन्नतत्सदृशः। सुवन्तेन सह-पर्य्युदासः। तिङन्तेन सह-प्रसज्ज्यप्रतिषेधः।



प्रमाण के विचार में दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह अपने विषय में स्वतन्त्र होता है, जैसे रूप ग्रहण में नेत्र स्वतन्त्र होता है।

वेद, यज्ञ, देवयज्ञादि, क्रतुज्योतिष्टोमादि चाद्रायणादि व्रत तथा भूत-भविष्य, वर्तमान काल इत्यादि वेद विहित जो भी है इन सब को मायावी ईश्वर इसी अक्षर से उत्पन्न करता है और उस प्रपञ्च में ही माया से अन्य सा (जीवत्त्व प्राप्त) होकर बँधा हुआ है।

उससे भिन्न और उसके सदृश पर्युदास होता है। सदृशग्राही यथा—अब्राह्मण=ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मण सदृश क्षत्रिय अर्थ है। पर्युदास सुवन्त के साथ अन्वित होता है। प्रसज्य प्रतिवेध का तिङन्त के साथ सम्बन्ध होता है। यथा—'असूर्यं पश्याः' राजदाराः।

यहाँ 'प्रपञ्चत्त्वं मिथ्यात्वम्' प्रपञ्च मिथ्या है, इस कथन की पुष्टि के लिये पाँच प्रकार के दृष्टान्त लक्षण उपस्थित किये गये हैं—

१. सदसदनधिकरणत्त्वं मिथ्यात्वम्—जो सद् अथवा असद् तथा सदसद् उभय धर्म का अधिकरण न हो उसे मिथ्यात्त्व कहते हैं। प्रपञ्च सद्-असद् तथा सदसद् उभय का अधिकरण (आधार) नहीं है अतः मिथ्या है।

२. ज्ञानवाध्यत्वं मिथ्यात्वम्—जो ज्ञान से बाधित हो उसे मिथ्यात्व (असत्) कहते हैं। 'सुक्तौ इदं रजतम्' स्थल में रजत प्रकारक ज्ञानका बाध हो जाने पर 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है ऐसा यथार्थ बोध होता है। अर्थात् सुक्ति में रजत के धर्म चाकचिक्य तथा द्रष्टा में स्थित लोभ के कारण रजतप्रकारक भ्रम होता है। परीक्षण (चिन्तन) से जब यह सिद्ध हो जाता है कि यह सुक्ति ही है, रजत नहीं है, तब 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है सुक्ति है, इस प्रकार निषेध के द्वारा यथार्थ वस्तु सुक्ति का बोध होता है। उसी प्रकार प्रपञ्च समूह यह जगद्वस्तु (यथादृष्ट) नहीं है। यह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इन श्रुति प्रचोदित बोधोत्पन्नोपरान्त निषेध होने पर इसका (प्रपञ्च) मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।

३. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्त्वम्—प्रतिपन्नोपाधि जगत्प्रपञ्च का 'नैनं कृताकृते तपतः', 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्', 'स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', 'न लिप्यते लोक दुःखेन वाह्यः', 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित शरीरादि प्रपञ्च निषेध प्राप्त होने पर प्रपञ्च का त्रैकालिक मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। अतः प्रपञ्च का मिथ्यात्व 'यस्याभावः स प्रतियोगी' जिसका अभाव जहाँ हो वह प्रतियोगी होता है। न्याय से मिथ्यात्व सिद्ध है।

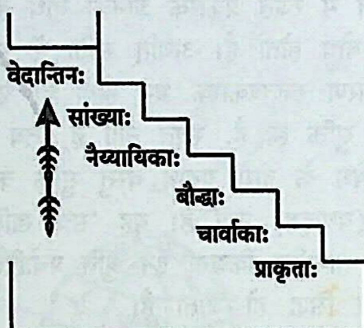
इस प्रसंग को इस प्रकार समझना चाहिये कि अपने अधिकरण में जिसका तीनों कालों में अभाव हो उसे मिथ्या कहते हैं, जैसे सुक्तिरजतस्थल में 'इदं रजतम्' इत्याकारक सुक्त्यधिष्ठानक मिथ्या ज्ञान में विशेष्यरूप इदमभिन्न सुक्तिसामान्य रूप है, उसमें 'सुक्तौ इदं रजतम्' 'नासीत्, न भविष्यति, नास्ति', अर्थात् सुक्ति में रजत न था, न होगा और न वर्तमान में है, इत्याकारक अत्यन्ताभाव होगा, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व सुक्ति में अध्यस्त रजतत्व में है। अतः रजत मिथ्या है।

४. स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्—अपने आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का नाम मिथ्यात्व है। यहाँ 'स्व' शब्द से सुक्तिरूप्य तथा व्यावहारिक प्रपञ्च का ग्रहण है। यथा सुक्तिस्थ रजत का आश्रय है सुक्ति, उस सुक्ति में रहने वाला जो रजत का अत्यन्ताभाव और उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी रजत है यह नियम है कि जिसका जहाँ पर अभाव होता है उस अभाव के प्रति वह प्रतियोगी होता है। सुक्ति में रजत का त्रैकालिक अभाव को ही अत्यन्ताभाव कहा गया है। अतः सुक्ति और उस सुक्ति में रहने वाला जो रजत का अत्यन्ताभाव, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रजत में है, अतः रजत में मिथ्यात्व सिद्ध है। इसी प्रकार जगत् का आश्रय ब्रह्म है। 'नेह

ब्रह्मणोऽसंसृष्टत्वेन तर्काविषयत्वात्, सर्वसाक्षित्वेनाबाध्यत्वात्।

(१-अनुमानम्, ख.ख.खा.)

न ग्राह्यभेदमवधूयधियोस्तिवृत्ति; स्तद्वाधके बलिनि वेदनये जयश्रीः। नो चेदनित्यमिदमीदृशमेव विश्वं, तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः। (कुसुमा.)



स्वप्रकाशत्वं-स्वापरोक्षे स्वातिरिक्तानपेक्षत्त्वम्। (अद्वैतसि.)

नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से जगत् का अत्यन्ताभाव सुक्ति-रजतवत् सिद्ध होता है। उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व प्रपञ्च में है, इसलिए प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध है।

५. सद्विविक्तत्त्वं मिथ्यात्वम्—आचार्य सधुसूदन ने मिथ्यात्व का पाँचवा लक्षण इस प्रकार किया है—जो सद् से भिन्न हो वह मिथ्या है। सद् का अर्थ यहाँ है—जो प्रमाण से सिद्ध हो, वह सत् है और दोष से असहकृत यथार्थज्ञान का जो साधन (करण) हो, वह प्रमाण है। श्रुति प्रमाण ही सभी दोषों से रहित है और उन श्रुति प्रमाण से त्रिकालाबाध्य ब्रह्म सिद्ध है। अत: ब्रह्म से भिन्न यावत् प्रपञ्च में मिथ्यात्व निश्चित सिद्ध है।

ब्रह्म असंग है 'असङ्गों ह्येष पुरुष:', 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' इत्यादि से स्पष्ट है। वह निर्लेप है अत: तर्क का विषय नहीं है। सर्व का साक्षी ब्रह्म अन्य ज्ञान से अबाध्य होने से भी तर्क का विषय नहीं है। (१-अनुमानम्, ख.ख.खा.)

ग्राह्य भेद अर्थात् जो भेद ग्रहीत है और जिसमें वेदोक्त सत्यादि धर्म नहीं है ऐसा जगत् ग्राह्य भेद वाला है। उसका तिस्कार किये विना बुद्धि वृत्ति का प्रसार नहीं होता है। अत: तद्बाधक बलवद् होने के कारण श्रुति सिद्धान्त की विजय श्री दीखती है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो यह विश्व भी नित्य और तथ्यात्मक हो जायेगा अत: असद्मतवादी तथागत (बौद्ध) के लिए यहाँ अवकाश कहाँ है? (कुसुमाञ्जलि)

प्राकृत-चार्वाक-बौद्ध-नैयायिक-सांख्य ये पाँचों के अभिकथन परमात्मा के अद्वितीय स्वरूप के प्रतिपादन में क्षम (समर्थ) नहीं है, ये सारे के सारे मत भेदवादी हैं, श्रुति

ब्रह्म, अभावप्रतियोगी, पदार्थत्वात्, वृत्तिविषयत्वात्, घटादिवत्।

तात्पर्यभूतलक्ष्यात्मा को नहीं जानते, इसलिए दुर्बल हैं। वेदान्त ही सबल मत है जो श्रुतिप्रतिपाद्य विषय (ब्रह्म) को प्राप्त कराने में सक्षम है। प्रतीक चित्र (वाण-तीर) द्वारा यही संकेत दिया जा रहा है कि—

धनुर्गृहीत्वोपनिषदं महास्त्रं शरं ह्यापासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।। (मुण्डकोपनि. २/३)

जिस प्रकार वाण को लक्ष्य पर चलाने से पूर्व उसे सान पर घिस कर तीक्ष्ण किया जाता है उसी प्रकार आत्मारूपी वाण को उपासना द्वारा निर्मल-शुद्ध करके उसका प्रणव रूप धनुष पर सावधानीपूर्वक (एकाग्र होकर) सन्धान करना चाहिये। जिस प्रकार वाण को लक्ष्य पर सावधानी से छोड़ा जाता है उसी प्रकार साधनास्थल में ओंकार का उच्चारण करता हुआ भावपूर्ण (आत्म-परमात्म्यैक्य भाव) चित्त से उस परमात्मा ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाय अर्थात् उस परमात्मा में अविचल भाव से एकीभाव प्राप्त करें। क्योंकि —

'प्रणवो धनुः शरो आत्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवन्तन्मयो भवेत्।। (मुण्डकोपनि. २/४)

परमेश्वर का वाचक प्रणव (ओंकार) ही मानो धनुष है और यह जीवात्मा ही वाण है तथा परब्रह्म परमात्मा ही उसके वेद्धय-लक्ष्य है, इसलिए साधक तत्परतापूर्वक उस ब्रह्म का भेदन करे। जिस प्रकार वाण लक्ष्य को भेद कर तन्मय हो जाता है उसी प्रकार साधक जीवात्मा-परमात्मा का एकीभाव को अविचल रूप से प्राप्त कर जाय। इसलिए श्रुति के अपलाप करने वाले प्राकृतादि सांख्यान्त विचार परमात्मा को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है। परमात्मा को तो वेदान्त विचार से ही प्राप्त किया जा सकता है।

स्वप्रकाशत्व का अर्थ है 'स्वापरोक्षे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वम्' स्व पद से आत्मा को ग्रहण किया गया है। आत्मा का अपरोक्ष बोधपूर्वक आत्मा से भिन्न की अनपेक्ष बुद्धि ही स्वप्रकाशत्व है।

नैयायिक लोग ब्रह्म को पदार्थ मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार घट-पट-मठ आदि प्रपञ्च पदार्थ हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी पदार्थ ही है।वे इसके समर्थन में तर्क रखते हैं कि 'ब्रह्म' पदार्थ हैं क्योंकि वह चित्तवृत्ति का विषय भी होता है, यथा घट है और वह अभाव पदार्थ का प्रतियोगी भी है। जिस प्रकार 'भूतले घटो नास्ति' भूतल पर घट नहीं है अर्थात् 'घटाभाववत् भूतलम्' में घटाभाववाला यह भूतल है ऐसी प्रतीति होती है अर्थात् अभाव पदार्थ ग्रहण है और उस घटाभाव का घट प्रतियोगी (घटवत् भूतलम्) होता है उसी प्रकार 'यहाँ परमात्मा नहीं है यह भी प्रतीति का विषय होता है और वह अभाव का प्रतियोगी है। (अद्वैत सिद्धि)

न चाप्रयोजकत्वं, दृश्य प्रपञ्चविलक्षणपदार्थास्वीकारे लाघवादित्यनुमानेनाभावप्रसिद्धौ प्रतीतौ मिथ्यात्वम्, अप्रतीतौ असत्यत्वं सिद्ध्येत्। (विट्ठले.टी.)

कामः सङ्कल्पोविचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्भीर्धीरित्येत्सर्वं–मन एव/श्रुतिः। (विट्ठल.टी.)

दृश्यत्वम्

१. वृत्ति व्यापित्वम्।
२. वस्तुतः–शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वम्
३. यद्वा–सप्रकारकज्ञानविषयत्वमेव।
४. यद्वा–चिद्विषयत्वम्।
५. स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसविदपेक्षानिपतिरूपम्। (अद्वैतसि.)

विट्ठललेश टीकाकार कहते हैं कि—यदि ब्रह्म को पदार्थ मानेंगे तो ब्रह्म में सृष्टि प्रयोजकत्वाभाव होगा क्योंकि ब्रह्म दृश्य प्रपञ्च से विलक्षण है। ब्रह्म के पदार्थ स्वीकार करने पर सूर्य का स्वरूप वृहद् होने पर भी दृष्ट लाघव के कारण तथा उसके सम्पूर्ण स्वरूप ग्राह्य न होने के समान अभाव की प्रसक्ति होगी और ब्रह्म का मिथ्यात्व ग्रहण करना पड़ेगा तथा सूर्य के अस्त होने पर उसकी प्रतीति (दर्शन) न होने की दशा में आप नैयायिकों को ब्रह्म (परमात्मा-ईश्वर) का असत्य स्वीकार करना पड़ेगा। ब्रह्म घटके समान कोई पदार्थ नहीं है यही स्वीकार करना श्रेयस्कर होगा। (विट्ठलेश टी.)

काम-संकल्प-विचिकित्सा-श्रद्धा-अश्रद्धा-धृति-अधृति-ह्री-भी (भय)-धी (बुद्धि) ये सबके सब मन ही हैं। अर्थात् ये सब मन के व्यापार (क्रिया) रूप ही है। (श्रुति, विट्ठलेश.टी.)

दृश्यत्व

१. वृत्तिनिष्ठ जो आकाश विषयत्त्व है उसे वृत्तिव्याप्यत्त्व कहते हैं। प्रत्यक्षस्थल में जैसे नहर की नाली से जल निकल कर खेत की क्यारी में जाता है और जैसी क्यारी छोटी-बड़ी त्रिकोण, चतुष्कोण होती है वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय प्रणाली द्वारा वहिर्निर्गतान्तःकरण घटादि विषयदेश में जाकर घटाकार में परिणत हो जाता है, वहाँ पर स्वाकार सदृशाकार रूप इन दोनों का सम्बन्ध होता है। इसी का नाम व्यापित्त्व है।

२. शब्द से अजन्य जो वृत्ति तादृशवृत्ति विषयत्त्व ही दृश्यत्त्व है क्योंकि शब्दाजन्यवृत्तित्त्व विशेषण न देने पर 'शशविषाणं तुच्छं' इत्याकारक शब्दजन्य वृत्ति के विषयीभूत शश विषाण तुच्छ में व्यभिचार दोष दुर्वार होगा।

स्वप्रकाशत्वं–अन्यानधीनापरोक्षत्वम्।

तन्निरूपितभेदवत्त्वे–दृश्यत्वम्।

अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपं दृश्यत्वम्।

१. न सती-अद्वैत। २. नासती-ज्ञानसाध्यत्वाऽयोगात्। ३. न सदसद्रूपा-विरोधात्। ४. नानिर्वाच्या-अनिर्वाच्यसादेरज्ञानोपादानत्वनियमेन मुक्तावपि तदुत्पादना-ज्ञानानुवृत्तिप्रसंगात्।

इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म का वेदान्तजन्य वृत्ति विषयत्त्व होने पर अभिचार नहीं है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने फलव्याप्ति का ही निषेध किया है वृत्ति व्याप्ति तो ब्रह्मज्ञान नाश के लिए आवश्यक है। उन्होंने शुद्ध तथा तुच्छ इन दोनों में शब्दाजन्यवृत्ति विषयत्त्व को नहीं माना है।

३. जिसमें सप्रकारक जाति गुणादि की प्रतीति हो उसे सप्रकारक कहते है। ऐसे ज्ञान का विषय ही दृश्य है, यहाँ पर 'तुच्छं वृत्तिविषय: तुच्छादिपदविषयत्त्वात्' इत्यादि अनुमान से तुच्छ भी ज्ञापित होता है अत: शब्दाजन्य वृत्ति विषयत्त्व तुच्छ में रह जाने से अति व्याप्ति हो गयी तो ऐसी अरुचि होने पर यद्वा 'सप्रकारकज्ञानविषयत्त्वमिति' सप्रकारक जो वृत्ति है तादृश वृत्ति विषयत्त्व ही दृश्यत्त्व है।

४. चिद्विषयत्त्व ही दृश्यत्त्व है वह विषयता साक्षात् परम्परा से चित्सम्बन्धित्त्व रूप होना चाहिए। शुक्ति रजत का यदि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में अध्यास हो तो उसका साक्षात् सम्बन्ध है और यदि इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य में तो तादात्म्य रूप परम्परा से आवेगा।

५. चिद्विषयत्त्व लक्षण में उक्त रीति से तुच्छ में व्यभिचार आया। अत: कहा कि स्वविषयक व्यवहार में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा की नियति रूप ही दृश्यत्त्व है।

(अद्वैतसिद्धि)

अद्वैत सिद्धिकार आचार्य मधुसूदन ने प्रकृत प्रसंग में प्रपञ्च को अविद्यात्मक माना है। उक्त अविद्यात्मक प्रपञ्च के लक्षण को यहाँ अविद्या स्वरूप से स्वीकार करते हुए उसके लक्षण पर विचार करते हैं—अविद्या स्वप्रकाशरूपा नहीं है, क्योंकि स्वप्रकाशत्व अन्य के अनधीन और अपरोक्ष स्वरूप वाला होता है अर्थात् परप्रकाश नहीं होता है, वह स्वत: प्रकाश स्वरूप होता है। दृश्यत्व उस परमात्म प्रकाश से निरूपित भेदवत् होता है। जो अवेद्य (वेदना विषय रहित) होता हुआ अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता के अभाव स्वरूप वाला हो वही दृश्यत्व (अविद्या) का स्वरूप होता है। उस अविद्या (प्रपञ्चात्मिका) को यदि सत्स्वरूप कहेंगे तो सम्भव नहीं है क्योंकि वह सत्स्वरूपा होती तो सर्वदा तथा सब जगह होती

उक्तप्रकारभिन्ना पञ्चमप्रकारा अविद्या। (अद्वैतसि.टी., विट्ठलेश.)

संसरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। (सांख्य का. ६२)

रूपैःसप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकं-रूपेण। (१ ज्ञानेन)

और बाधित नहीं होती, परन्तु ऐसा नहीं है, ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उसका नाश (बाध) हो जाता है। वह असत् स्वरूपा भी नहीं है, क्योंकि ऐसी होती तो वह जड़पदार्थों के आभास आदि का करण नहीं होती परन्तु उसकी तो प्रतीति भी देखी जाती है। अतः वह यदि 'सच्चेन्न बाध्येत असच्चेन्न प्रतीयेत' यदि वह अविद्या सत होती तो उसका बाध नहीं होता और अगर वह असत् होती तो उसकी प्रतीति नहीं होती। यदि वह सत्त्व और असत्त्व (सत् और असत्) से भिन्न परन्तु तदुभय स्वरूपा है ऐसा कहेंगे तो सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों (सत् और असत्) भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हैं। एक स्वतः प्रकाश है और दूसरा परतः प्रकाश है, अर्थात् एक प्रकाश स्वरूप है और दूसरा (असत्) तमः (अन्धकार अर्थात् प्रकाशाभाव) वाला है। इसलिए दोनों परस्पर विरोधी स्वभाव के होने के कारण एकाधिकरण में रह नहीं सकते। अतः सदसद् भिन्न उभयात्मिका भी अविद्या नहीं हो सकती। वह अनिर्वाच्या है यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनिर्वाच्य सादि होता है और अनिर्वाच्य अज्ञान के उपादान से नियमपूर्वक मुक्त हो जाने पर भी उसके (अज्ञान के) उपादानभूत अज्ञान की अनुवृत्ति होती है, ऐसा प्रसंग उपस्थित होगा। उक्त प्रकार से अविद्या प्रकाश भिन्न परन्तु प्रपञ्चस्वरूप वाली अविद्या को यहाँ कहा गया है। (अद्वैत सि.टी. विट्ठलेश टी.)

पुरुष के निर्गुण तथा निधर्मक होने से वास्तव में कोई भी पुरुष न तो बन्धनग्रस्त होता है और न मुक्त होता है एवं न जन्म मृत्यु रूप संसार को ही प्राप्त होता है।

तब फिर जन्म मृत्यु आदि संसार बन्धन तथा मोक्ष किसके होते है?

भोग्य एवं भोग्य के साधन तथा भोगायतन रूप नाना प्रकारों की आश्रयभूत प्रकृति ही संसरण करती है। वही बन्धनग्रस्त भी होती है और वही मुक्त होती है।

प्रकृति स्वयं धर्म-अधर्म-ज्ञान अज्ञान वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य इन सात (भावों से) अपने को बन्धन में डाल लेती है और वही प्रकृतितत्त्व ज्ञान के द्वारा अपवर्ग्य के प्रति अपने को मुक्त कर लेती है।

टिप्पणी—प्रकृति तत्त्वज्ञान को छोड़कर सात धर्मादि से अपने को बन्धन में डालती है। उसमें भोग के लिए बन्धन है तथा मोक्ष के लिए ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने को मुक्त कर लेती है। (सां.का. ६२)

धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याणि अष्टौ। (सां.का. ६३)

समाधिः

तस्यैव कल्पनाहीनं, स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनस्तु ध्याननिष्पाद्यं, समाधिः सोऽभिधीयते।। (विष्णु पु.)

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।
(श्वेता.उ.)

भोक्ताद्यशेषभेदप्रविलापनेन निर्विशेषं ब्रह्मात्मानं जानीयात्।
(शा.भा.)

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्याना त्तृतीयं देहभेदे, विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।
(श्वेता.उ. १)

प्रकृति के धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य-अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य ये आठ रूप है। इनमें सात से बन्धन तथा एक अर्थात् ज्ञान से मोक्ष (बन्धमुक्त) होती है। (सां.का. ६३)

समाधि

जब मन संकल्प विकल्प विहीन होकर ध्यानावस्थित हो जाता है तब साधक की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, उसे ही समाधि कहते हैं। (विष्णु. पु.)

अपने आत्मा में स्थित ब्रह्म को सर्वत्र सर्वकाल में निर्विशेष स्वरूप ही जानना चाहिए। इससे बढ़कर और कोई ज्ञातव्य पदार्थ नहीं है। भोक्ता-जीव-भोग्य (जगत्) और प्रेरक (ईश्वर) यह तीन प्रकार से सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म ही है ऐसा जानना चाहिए। (श्वेता.उ.)

भोक्ता भोग्य एवं प्रेरक इस सम्पूर्ण भेद रूप प्रपञ्च का विलय करके निर्विशेष आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानना चाहिए। (शां.भा.)

साधक के द्वारा परब्रह्म को जान लेने पर अविद्यादि समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है और क्लेशों के नाश हो जाने से जन्म मृत्यु रूपी चक्र की निवृत्ति हो जाती है तथा उस ब्रह्म का ध्यान करने से देहावसान के पश्चात् (विराट हिरण्यगर्भ) उसकी अपेक्षा से कारणब्रह्मरूप सर्वैश्वर्यमयी अवस्था को प्राप्त कर पूर्ण ब्रह्मानन्दरूप होता हुआ आप्तकाम होकर कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है। (श्वेता. १)

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मना वीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा, द्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।।
(श्वेता.उ. १)

निर्विकारात्मबुद्धिश्च, विद्येतीहप्रकीर्तिता। (उपदे.शा. १/१२)

जातिवाधक संग्रहः

व्यक्तेर[1]भेदस्तुल्यत्वं[2] संकरो[3]ऽथानवस्थितिः[4]।
रूपहानि[5]रसंबन्धो[6] जाति बाधक संग्रहः।। (न्या.मुक्ता. १)

१. आकाशत्वम्। २. कम्बुग्रीवादिमत्वं, कलशत्वम्। ३. भूतत्वम्—मूर्तत्वम्। ४. जातित्वम्। ५. विशेषत्वम्। ६. समवायत्वम्, अभावत्वम्।

विनाशील प्रधान और अविनाशी जीवात्मा को अमृत-अक्षर हर संज्ञक अद्वितीय देव नियन्त्रित करता है। उसके चिन्तन से अर्थात् उसमें मनोयोग करने से और उसके तत्त्व की भावना करने से प्रारब्ध की समाप्ति होने पर विश्वरूप माया की निवृत्ति हो जाती है। (श्वेता.उ. १)

निर्विकार आत्मा की बुद्धि को यहाँ सिद्धान्त पक्ष में विद्या कहा जाता है। जहाँ निर्विकारात्म बुद्धि नहीं है वहाँ विद्या नहीं है, वहाँ अविद्या की उपस्थिति जानना चाहिये। इसलिये श्रुति कहती है—'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वही जो अनात्म वस्तु में आत्म बुद्धि से मुक्ति प्रदान करावे। (उप.सा. १/१२)

जाति बाधक संग्रह (समूह) ये हैं—१. व्यक्तेरभेद—एक व्यक्ति में रहने वाला धर्म जाति नहीं है। जैसे आकाश में आकाशत्त्व, क्योंकि आकाश एक ही है। जबकि एक होकर अनेक में समवाय सम्बन्ध से जो रहे उसे जाति कहते हैं। २. तुल्यत्वम्—तुल्यत्त्व भी जाति बाधक है। इसलिए घटत्त्व-कलशत्त्व कम्युग्रीवादिमत्त्वादि स्वभिन्न जाति समनियतत्त्व होने से पृथक् पृथक् जाति नहीं है। ३. मूर्तत्वम्—मूर्तत्व जाति नहीं है क्योंकि इनमें सांङ्कर्य दोष है। यहाँ पर 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्रसमावेश:शंकर:' इस लक्षण के अनुसार आकाश में भूतत्त्व रहता है मूर्तत्त्व नहीं। मन में मूर्तत्त्व रहता है भूतत्त्व नहीं। किन्तु पृथिवी जल वायु तेज इनके रहने के कारण उक्त लक्षणानुसार साङ्कर्य होने से यहाँ जाति नहीं है। ४. अनवस्थिति—जातित्व में जाति मानने पर अनवस्था दोष होगा क्योंकि जातित्त्व जाति नहीं है। घटत्त्व तो जाति है परन्तु घट जाति नहीं। ५. रूपहानि—जिसमें सामान्य जाति न रहे और जाति से भिन्न होकर समवाय सम्बन्ध से जो रहे उसे विशेष कहते है। यदि विशेष में विशेषत्त्व माना जाय तो रूप (लक्षण) की हानि होगी। अत: विशेषत्त्व जाति

द्रव्यत्वं नाम–गगनारविन्दसमवेतत्वे सति नित्यत्वे सति गन्धासमवेतत्त्वम्।
(सर्वद.स.औ.द.)

पू.मी. १२ अ.वि.

[1]प्रमाण-भेद[2]-शेषत्व[3]-[4]प्रयुक्ति-क्रमा-धिकारातिदेशसामान्य-विशेष-ऊह-बाध-तन्त्रा-प्रसङ्गाः।

ननु भूम्यादि माभूत्परमाण्वन्तनाशतः
कथं ते वियतोऽस्तित्वं बुद्धिमारोहतीति चेत्।
अत्यन्तं निर्जगद्व्योम, यथा ते बुद्धिमाश्रितम्
तथैव सन्निराकाशं, कुतो नाश्रयसे मतिम्।। (भूतवि. ४२)
ज्ञातत्वेनाज्ञात्वेन च सर्वं साक्षिभास्यम्। (विवरणे)

नहीं है। ६. समवायत्व-अभावत्व—ये असम्बन्ध के उदाहरण है। समवाय और अभाव में समवाय सम्बन्ध से कोई भी नहीं रहता है, किन्तु जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। समवाय में समवायत्व जाति नहीं है। (न्या.मु. १)

जो गगनारविन्द में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए, नित्य रहते हुए गन्ध में समवेत सम्बन्ध से न रहे वह द्रव्यत्व है। (सर्वद.सं.औ.द.)

पूर्वमीमांसा शास्त्र के बारहवें अध्याय में प्रमाण-भेद-शेषत्व-प्रयुक्ति-क्रमाधिकार-अतिदेश-सामान्य-विशेष-ऊह-बाध-तन्त्र और प्रसङ्गसङ्गति प्रमुख विषयों को निरूपित किये गये हैं। (पूर्वमी. १२ अ.वि.)

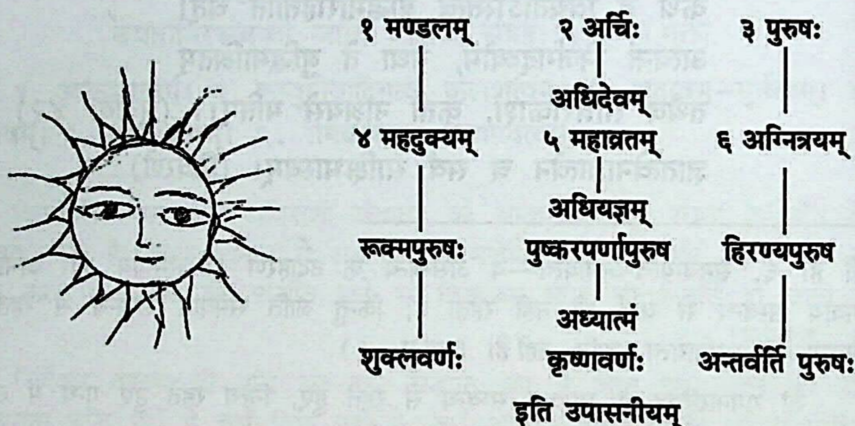
यह माना कि परमाणु के नाश हो जाने पर भूम्यादि की स्थिति नहीं रहती, परन्तु वियत् (आकाश) का अस्तीत्व बुद्धिगत होने से यह कैसे सम्भव होगा कि वियत् की स्थिति नित्य होगी? क्योंकि परमाणु के नाश से आकाश की स्थिति कल्पना युक्ति-युक्त होना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'कारण नाशात् कार्यनाशः' 'च्छिन्ने मूले नैव पत्रं नैव शाखा' अर्थात् कारण के नाश होने पर कार्य का नाश प्रत्यक्ष अनुभूत विषय है। मूल के नाश हो जाने पर शाखा और पत्र (पत्तों) की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी आकाश को नित्य मानते हो तो सद्वस्तु निराकाश होना क्यों नहीं मानते यह बुद्धि में क्यों नहीं आ रही है?
(भूतवि. ४२)

ज्ञात वस्तु तथा अज्ञात वस्तु सभी साक्षि द्वारा भासित है अभाव का भी साक्षी आत्मा ही है। (विवरण प्रमेय)

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं, वेदात्पाशुपतं तथा।
अति प्रमाण्येतानि, हेतुभि र्न विचालयेत्।। (याज्ञव./अपरा.टी. १/७)

अलाभे वेदमन्त्राणां, पञ्चारात्रोदितेन हि आचारेण प्रवर्तन्ते, ते मां प्राप्स्यन्ति मानवाः।
(वराह. प्र.)

मण्डल ब्राह्मणम्/मण्डलस्तावकं ब्राह्मणम्।
(शतपथ.ब्रा.का. १०/प्र. ४/ब्रा. ५/अ.५/२)



सांख्य, योग, पञ्चरात्र तथा पाशुपतं ये सभी शास्त्र वेद से ही निःसरित है—'सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति' ये अतिशय प्रमाण है इनका तर्कादि के द्वारा खण्डन नहीं करना चाहिये।
(याज्ञवल्क्य/अपरा टीका)

वेद मन्त्रों के अभाव में जो मनुष्य पञ्चरात्र में कहे हुए आचारानुसार धर्मादि में प्रवृत्त होता है, वे मुझे (ईश्वर को) प्राप्त कर लेता है। (वाराह पु.)

शतपथ ब्राह्मण के मण्डल ब्राह्मण तथा मण्डल स्तावक ब्राह्मण में मण्डल-अर्चि-पुरूप-महदुक्य-महाव्रत और अग्नित्रय की उपासना की विधि बतायी गयी है कि—इन मण्डलों में अधिदेव भाव से उपासना करनी चाहिये। इसे मण्डल इसलिये कहा जाता है कि इसका उपासनीय स्वरूप वर्तुलाकार है, इसलिए इसमें सूर्य ब्रह्म की भावना करे। अर्चि का अर्थ है कि वह सूर्य त्रैलोक्य भासक (प्रकाशक) तेजवाला है। पुरुष से तात्पर्य है कि वह देव पुरुषाभिमानी है। महदुक्य का अर्थ है कि वह अन्तन्त किरण के विस्तार से व्यापक और सर्वप्रकाशक है, और पुरुष क्रतु विशेष है तथा अग्नित्रय स्वरूप है। इसलिए ब्रह्म स्वरूप से उपासनीय है। द्वितीय उपासना की भावना का विषय है कि वह रूक्मवर्णपुरुष पुष्करवर्णपुरुष

विभ्राडित्यनुवाकपुरुषसूक्तशिवसंकल्प-मण्डलब्राह्मणैरादित्य उपस्थाय।

(काय्यायन भौ.सू. २/५)

१. वर्तुलाकारम्। २. त्रैलोक्यमासकं तेजः। ३. अभिमानी। ४. बृहतीसहस्रम्। ५. क्रतुविशेषः। ६-

सोमः



और हिरण्यमयवर्णपुरुष त्रिगुणात्मक उपासनीय है और यह अधियज्ञपुरुष के रूप में उपासना के विषय हैं। तृतीय रूक्मवर्णपुरुष रजतवर्ण (शुक्ल) है जो सतोगुण के प्रतीक और पालक हैं। पुष्करवर्णपुरुष कृष्णवर्ण तमोगुण के प्रतीक और लयकारक हैं तथा हिरण्यमयपुरुष सर्वहृत्पुण्डरीकमध्य आत्मा है, जो निखिल प्रपञ्च का सर्जक है। श्रुति कहती है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' जिस परमात्मा ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवन धारण (पोषित) करते हैं और जिसमें प्रलय के समय प्रवेश करते हैं उसको (ब्रह्म को) 'तद्विजिज्ञासस्व' जानने की इच्छा करो अर्थात् जानने प्रयत्न करो। इसकलिए विभ्राड् अनुवाक्, पुरुषसूक्त और शिवसंकल्प मण्डल मन्त्रों से सूर्य स्वरूप परमात्मा की उपासना करनी चाहिये।

(शतप.ब्रा.का. १०/प्र. ४/ब्रा. ५/अ.५/२ एवं कात्यायन भौ.सू. २/५)

सोम शब्द से चन्द्रमा-दिनवाचक सोमवार-सोमलता-अमृत तथा शान्त अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। प्रकृत में प्रतीक चित्र द्वारा सोमलता (वनस्पति) ही कथनोद्देश्य है। सोमलता

का प्रयोग उत्तम औषधियों में तथा सोमयागादि में किया जाता है। यज्ञादि विशेष में सोमरस की भी चर्चा प्राप्त होती है। श्रुति में विधिवाक्यों के प्रयोग भूरिशः प्राप्त होते हैं यथा— 'सोमेन यजेत्' आदि। सोम से सम्यक् परिचय कराने के लिये आयुर्वेद को स्पर्श करना आवश्यक है, इसलिए हम देखते हैं कि सोमलता क्या है? रसकामधेनु में सोम के स्वरूप को इस प्रकार कहा गया है—

पञ्चाङ्गयुक् पञ्चदशच्छदा या सर्वाकृतिः शोणितपर्वदेशा।
सा सोमवल्ली रसबन्धकर्म, प्रसाधिनी सा दिवसोपनीता।।

पञ्चाङ्ग अर्थात् जड़-त्वचा-पत्ती-फूल और फल से युक्त ही सोमलता विशेष उपयोगी है। इसका स्वरूप सर्पाकार टेढ़े-मेढ़े होते हैं और पर्व (ग्रन्थि) देश रक्तवर्ण का होता है। यह दिन के समय ही प्राप्त करने योग्य है। सोमलता का प्रयोग रसबन्धकर्म में विशेष रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं। यहाँ रसशब्द से पारा ग्राह्य है। पारा को ठोस रूप देकर विभिन्न औषधि के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। रस (पारा) के सात नाम दिये गये हैं—

रसेन्द्रे[१] पारदः[२] सूतो[३], सूतराजस्तु[४] सूतकः[५]।
शिवतेजो[६] रसः[७] सप्त, नामान्येवं रसस्य तु।। (रसेन्द्रसारसंग्रह)

रस इसलिये कहा जाता है कि—

रसनात् सर्वधातुनां, रस इत्यभिधीयते।
जरारूङ्मृत्युनाशाय, रस्यते वा रसो मतः।। (रसे.सा.सं.)

सूत-रसराज और रसेन्द्र इसलिए कहते हैं कि—

रसोपरसराजत्वात् रसेन्द्र इति कीर्तितः।
देहलोमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततः स्मृतः।। (रसे.सा.सं.)

पारद इसलिए कहते हैं कि—

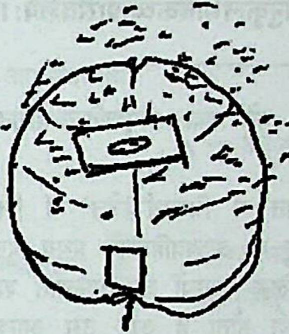
रोगपङ्काब्धिमग्नानां पारदानाच्च पारदः। (रसे.सा.सं.)

जो पारद अन्तः में नील, बाहर से उज्ज्वल तथा मध्याह्नकालीन सूर्य के समान प्रकाश (आभा) वाला हो वही पारद रसबन्धकर्म में प्रशस्त है। इससे इतर स्वरूप धूम्र-पाण्डु और चित्र वर्ण रसकर्म में त्याज्य है—

अन्तःसुनीलोवहिरूज्ज्वलो यो मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाशः।
शस्तोऽथ धूम्रो परिपाण्डुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धौ।।

(रसकामधेनुः १/५७)

न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि।
हिरण्यं निधाय चेतव्यम्, (अर्थवादाधिकरणे)।।



१. असंजातविरोधित्व न्यायः। २. सामान्यविशेष न्यायः। ३. निरवकाश सावकाशन्यायः। ४. अल्पबहुबाधन्यायः। ५. उपजीव्योपजीवकन्यायः।

मीमांसादर्शन में अर्थवाद को भी प्रामाण्य कोटि में माना गया है—'अर्थवादानां तु स्वार्थपरत्वे प्रयोजनाभावात् अध्ययनविधिवशेन फलवदर्थज्ञानार्थत्वस्यावश्यकत्वाद्विधेयगत-प्राशस्त्यप्रतिपादनद्वाराविध्येकवाक्यतया प्रामाण्यम्'। (मी.परि.अर्थ. २/९०) अर्थवाद के चार भेद हैं—'स चतुर्विधः-निन्दा-प्रशंसा-परकृति-पुराकल्प भेदात्'। (मी.परि.अर्थ. २/९०) अर्थात् १. निन्दार्थवाद, २. प्रशंसावाद, ३. परकृत्यर्थवाद और ४. पुराकल्पार्थवाद ये चार अर्थवाद के भेद हैं। निन्दा अर्थवाद में नञ् (निषेध) का अपाशस्त्य अर्थ होता है। जहाँ निषेधविधिवाक्य प्रवृत्त होता है उसका अर्थ उस कर्म की अप्रशस्यता का कथन होता है। अप्रशस्यता द्वारा कर्त्ता को वैसा करने से रोकना अभिप्राय होता है। प्रकृत प्रसंश में 'न पृथिव्यामग्निचेतव्यो नान्तरिक्षे दिवि' में 'न' वर्ण पद द्वारा निषेध होने से निन्दार्थवाद है। पुनश्च 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' द्वारा विधि प्रस्थापित कर प्रशंसार्थवाद द्वारा कर्म की प्राशस्यता को कहा है। प्रतीक चित्राङ्कन द्वारा इसी अभिप्राय का अभिकथन किया गया है।

(मी.द.अर्थवादाधिकरण)

मीमांसाशास्त्र सहित अन्य शास्त्रों में जिन न्यायों के प्रयोग होते हैं और उनके सहारे तत्त्व (अपने मत) का प्रतिपादन किये जाते हैं वे हैं—१. असंजातविरोधित्वन्याय, २. सामान्य-विशेषन्याय, ३. निरवकाश-सावकाशन्याय, ४. अल्पबहुबाधन्याय और ५. उपजीव्योपजीवकन्याय।

विधेयत्वं-गुणत्वं-उपादेयत्वम्। अनुवादित्वं, प्रधानत्वं-उद्देश्यत्वम्।

आर्थीभावना–प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापारः।

शाब्दीभरवना–पुरुषप्रवृत्यनुकूलभावकव्यापारविशेषः।

विधेयत्व-गुणत्व-उपादेयत्व को तथा अनुवादित्य-प्रधानत्व-उद्देश्यत्व को मीमांसा मत में स्वीकृत किया गया है—

आर्थीभावना—मीमांसा मत में विध्यर्थ'यजेत' में लिङ्गत्व धर्म रहता है और वह स्वरूपतः आख्यात है। यज् धातु के अव्यवहितोत्तर प्रयय युक्त 'त' प्रत्यय में दो धर्म रहते हैं—आख्यातत्व और लिङ्गत्व। लिङ्ग प्रत्ययों का आख्यात शब्द से व्यवहार होने के कारण आख्यातत्व धर्म सर्वलकारसाधारण होता है और उस आख्यातत्व के द्वारा लिङ्ग स्थानीय 'त' प्रत्यय पुरुष प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना का प्रतिपादन करता है तथा पुरुष की प्रवृत्ति को ही आर्थी भावना कहते हैं। वह आर्थी भावना 'किं' (क्या?), 'केन' (किस के द्वारा), कथम् (क्यों) इस प्रकार के ऊह्यार्थ का जनक तीन अंशों से युक्त होती है। जैसे—मीमांसकों के मत में आख्यात प्रत्यय का अर्थ भावना और प्रकृति (यज् धातु) का अर्थ याग आदि होता है। इसलिये 'यजेत' इस पद में प्रयुक्त 'त' प्रत्यय का अर्थ 'भावयेत्' अर्थात् उत्पादन करे यह अर्थ होता है। सुवन्त से प्रतिपादित सभी कारकों का 'तिङन्तार्थ (क्रिया) में अन्वय होता है ऐसा नियम है। उक्त नियमानुसार तिङन्तार्थ की प्रधानता होती है, क्योंकि प्रधान में ही अन्य पदार्थों का अन्वय होता है। इसलिए सर्वप्रथम आख्यात प्रत्यय के अर्थभावना की उपस्थिति युक्तिसंगत है। सुवर्थ ही कारक होता है; परन्तु केवल 'सुप्' का प्रयोग व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः' ऐसा नियम है। इसलिए मीमांसा मत में सुवन्तार्थ को कारक माना है। 'करोति' अर्थात् 'कृञ्' धातु 'भावयति' अर्थात् णिजन्तार्थ 'भावि' धातु दोनों का समान (एक) अर्थ के प्रतिपादक है। इसलिए 'भावी' धातु भी सकर्मक हो जाता है। स्वरूपतः 'भावि' धातु अकर्मक है और उसके सकर्मक हो जाने पर 'किं भावयेत्' 'केन भावयेत्' और 'कथं भावयेत्' अर्थात् किस वस्तु की भावना करें? किसके द्वारा करें? और क्यों करें? इस प्रकार की आकांक्षा होती है। इस कर्म विषयिणी आकांक्षा की शान्ति के लिए भिन्न पद से प्रतिपादित रहने पर भी स्वर्ग उस भावना में साध्य (कर्म) रूप से अन्वित होता है। भाव्य का अर्थ कर्म या साध्य है। ये तीनों शब्द एक ही अर्थ से प्रयुक्त होते हैं।

शाब्दी भावना—उपर्युक्त वही लिङ्ग लकारीय 'त' प्रत्यय लिङ्गत्वरूप धर्म के द्वारा प्रेरणा नामक शाब्दी भावना का अभिधान करता है। उदाहरण के लिए लोक में भी माणवक (ब्रह्मचारी) अपने आचार्य से 'गामानय' अर्थात् 'गाय ले आओ' इस वाक्य को सुनकर

गौणार्थ प्रयोजकाः

[1]तत्सिद्धि- [2]जाति- [3]सारूप्य- [4]प्रशंसा- [5]भूम- [6]लिङ्ग समवायात्। (जै.सू.)

१. यजमानः प्रस्तरः।

अपच्छेदन्यायः

ब्रह्मणे वरम्

प्रस्तोता → अध्वर्युः ↘

सर्ववेदसम् प्रतिहर्ता

वहिष्पवमानस्तोत्रे ज्योतिष्टोमे।
सन्तनुयात्-कच्छधृत्वा अनुगच्छेत्।

अदक्षिणम् — उद्गाता ↖ ब्रह्मा ← यजमानः।

अपने हितैषी आचार्य में निष्ठा के कारण गाय लाने के लिए प्रेरित होता है और यहाँ वह माणवक प्रेरणा नामक व्यापार को जानकर ही गवानयन क्रिया में प्रवृत्त होता है। इस तरह अन्वय व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्ति के प्रति प्रेरणा-ज्ञान की कारणता सिद्ध होती है। अतः सिद्ध सिद्धान्त हुआ कि प्रेरणा-ज्ञान (शाब्दीभावना) कारण और प्रवृत्ति (आर्थी भावना) कार्य (साध्य) है।

गौणार्थ प्रयोजक

गौणार्थ की सिद्धि में जाति सारुप्य प्रशंसा बहुत्व लिङ्ग ये प्रयोजक है।

ज्योतिष्टोम यज्ञ में वहिष्पवमान के बिना हविर्धान से बाहर जाने पर ऋत्विग् तथा यजमान का अन्वारम्भण (कच्छ पकड़कर चलना) विहित हैं—प्रस्तोता अध्वर्यु के पीछे कच्छ पकड़कर चलता है तथा उद्गाता (सामवेदी) प्रस्तोता को पकड़कर इस तरह उद्गाता के पीछे प्रतिहर्ता चलता है इत्यादि।

इसके विच्छेद होने पर प्रायश्चित्त कहा है। वह इस प्रकार है यदि उद्गाता अपच्छेद (कक्ष छूट जाय) तो बिना दक्षिणा के उस यज्ञ को करके पुनः यज्ञ करें। उसमें पूर्ववत् दक्षिणा देवे और यदि प्रतिहर्ता से विच्छेद हो जाय तो सर्ववेदस् की दक्षिणा देवे—अभिप्राय यह है कि पूर्व निमित्तकर्त्तव्यता बुद्धि का जैसे परनिमित्त कर्त्तव्यता बुद्धि से बाध हुआ ऐसे ही श्रुतिजन्य अद्वैत परबुद्धि से पूर्व में होने वाली प्रत्यक्ष कर्त्तृत्वादि बुद्धि का ज्येष्ठजन्य

विश्वं सत्यम् (न्यायामृतकाराः)

असत्प्रतीतिकान्यत्वा; त्प्रमाणविषयत्वतः।
अर्थक्रियाकारितादे; र्विश्वं सत्यमिति स्थितम्।।
शुक्तिरूप्ये च स्वप्ने च, व्यभिचारस्त्रिषुस्थितम्।
विश्वं मिथ्यास्थितं तेन, हेत्वाभासा निरर्थकाः।।
तत्परत्वात्परत्वाच्च, निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्।
पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्यादिवाक्यवत्।। (आनन्दबोधा चा.)
अति[1]दूरात्सा[2]मीप्यादि[3]न्द्रियगातान्मनो[4]ऽनस्थानात्।
(व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च)
सौक्ष्म्य[5]तद्व्यव[6]धानादभिभ[7]वात्समा[8]भिहाराच्च।।
(अनुपलब्धिः) (सां.का. ७)

होने पर भी बाध हो जाता है, क्योंकि जेष्ठ रजत ज्ञान का कनिष्ठ शुक्ति ज्ञान से बाध देखा जाता है तथाच—'सूत्रं पौर्वापर्ये पूर्वदौर्वल्यं प्रकृतिवत्' जैसे—प्रकृत यज्ञ में कुशा का विधान विकृत यज्ञ में शरों से बाधित हो जाता है।

विश्व सत्य है—न्यायामृतकार मत

यह जगत् (विश्व) अधिष्ठान सत्तात्वेन सत्य है, परन्तु तदितर बोधत्वेन अर्थात् प्रत्यक्षादि स्थल में सुक्ति-रजतवत् भिन्न प्रतीति का विषय ग्रहण होता है। अतः अधिष्ठानादि प्रतीति भिन्न बोध असत् और अधिष्ठान बोध सत् है यह श्रुति प्रमाण तथा विषय के सदसद् विवेक से निर्णीत तथ्य है, तथापि उसके अर्थक्रियाकारित्व को ग्रहण कर विश्व को सत्य मानते हैं। सुक्ति में रजत प्रतीति और स्वप्न में रथगजादि प्रतीति व्यभिचरित होने के कारण मिथ्या ही है। अतः हेतुभास का आश्रय करके कथन निरर्थक है। (न्यायामृतकार)

वैदिक प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण के अपेक्षा श्रेष्ठ है तथा ईश्वरोक्त होने से निर्दोष है, श्रेष्ठ है एवं पुरुष निष्ठ भ्रान्ति आदि से शून्य है। इसलिए जैसे रज्जू में सर्प का पूर्व ज्ञान (अयं सर्पः) का 'नायं सर्पः' इस ज्ञान से बाध होता है, ऐसे ही प्रत्यक्षजन्यज्ञान वैदिकज्ञान से वाधित होता है। (आनन्दबोधाचार्य)

वस्तु के होने पर भी अत्यन्त दूर होने से, अत्यन्त समीप होने से, चक्षु आदि इन्द्रियों के विघात से, मन की चञ्चलता तथा अमनस्कता से, कुड्यादि के व्यवधान से, अभिभव से, समान वस्तु की राशि में समान वस्तु के मिल जाने से, वे उपलब्ध नहीं होते हैं। सांख्य कारिका में सूक्ष्म होने से भी अनुपलब्धि बतायी है। (सां.का. ७)

१. वियति अतिदूरे पतत्रिणः।

२. लोचनस्थमञ्जनम्।

३. अन्धत्वादिः।

४. कामाद्युपहतमनस्त्वादिः।

५. परमाण्वादिः।

६. कुड्यादिव्यवहितम्।

७. अहनि नक्षत्रादिः।

८. जले विन्दवः।

मनु-अवबोधने लुङ्

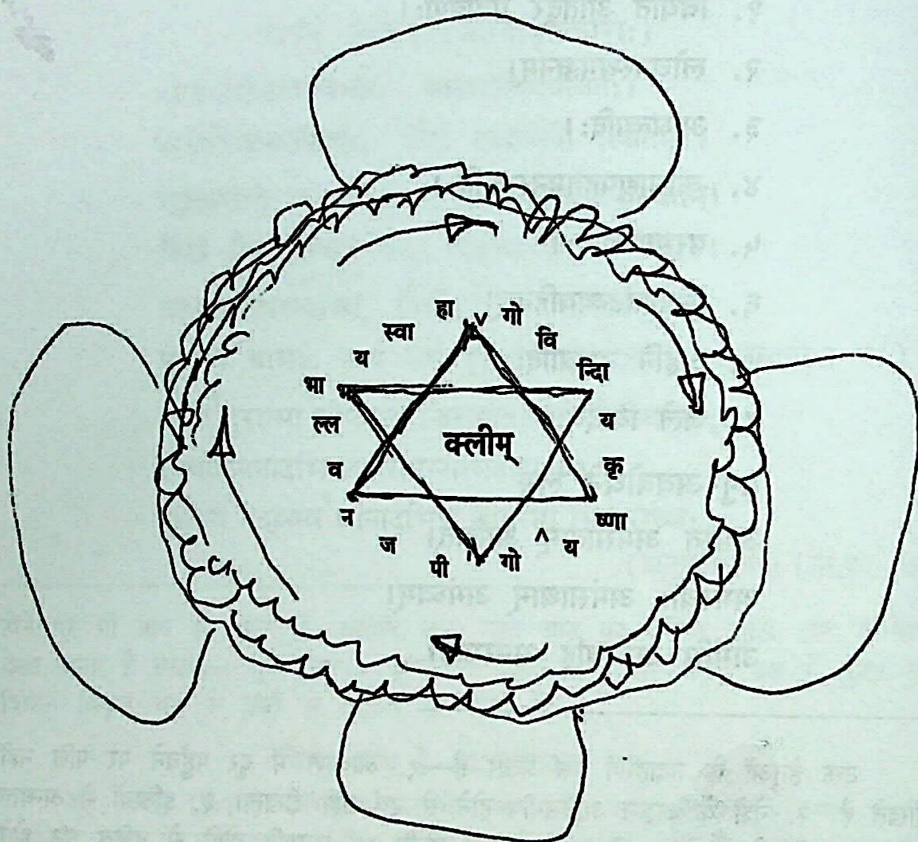
अमंस्त अमंसाताम् अमंसत।

अमंस्थाः अमंसाथाम् अमंध्वम्।

अमंसि अमंस्वहि अमंस्महि।

उक्त हेतुओं के उदाहरण इस प्रकार है—१. आकाश में दूर पहुँचने पर पक्षि नहीं दीखते है। २. नेत्रों के अञ्जन अतिसमीप होने से एवं नहीं दीखता। ३. इन्द्रियों में अन्धता वधिरता आदि से सद्वस्तु भी उपलब्ध नहीं होती। ४. कामादि दोषों से दूषित मन होने पर समक्ष वस्तु भी नहीं जान पड़ता है। ५. अत्यन्त सूक्ष्म होने से परमाणु आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है। ६. व्यवहित अर्थात् व्यवधान होने से सद्वस्तु भी नहीं दीखती। ७. सामान्य तेज विशेष तेज से अभिभूत हो जाता है और उसी प्रकार सामान्य शब्द विशेष शब्द से अभिभूत (दब) हो जाता है। जैसे दिन में सूर्य के तेज से चन्द्र तारकादि अभिभूत हो जाते हैं। अतः वे नहीं दीखते। ८. जल में जल की बूँद और मूँग में मूँग मिल जाने से उनकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। (सां.का. ७)

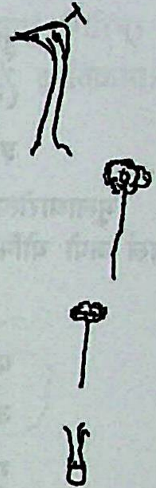
आत्मनेपदी मनु धातु का अवबोधन (समझना) अर्थ में लुङ् लकार अर्थात् भूतकालिक क्रिया को बताने के लिये प्रथम पुरुष एक वचन में—अमंस्त, द्विवचन में—अमंसाताम्, बहुवचन में—अमंसत रूप होता है। मध्यम पुरुष एकवचन में—अमंस्थाः, द्विवचन में—अमंसाथाम् और बहुवचन में—अमंध्वम् रूप बनता है। इसी तरह उत्तम पुरुष एकवचन में—अमंसि, द्विवचन में—अमंस्वहि और बहुवचन में—अमंस्महि रूप होता है।



यह मन्त्र श्रीकृष्णोपासना के लिए है। षड्कोण का तात्पर्य षड्चक्र से है और परिधि का तात्पर्य देह से है। यन्त्र के वाह्य भूमि में कमलपत्र के चार संख्या का तात्पर्य चतुर्विध सृष्टि से है। गोपी का तात्पर्य ऐसे जीवात्मा से है जो अपने इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रक्षित कर परमात्मा में लगाया है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का तात्पर्य परब्रह्म परमात्मा तथा 'क्लीम्' बीज का अर्थ पूर्णकाम से है अर्थात् जो जीवात्मा परमात्मा श्रीकृष्ण की उपासना में मन सहित अपनी इन्द्रियों को समर्पित कर देता है वह आप्तकाम (पूर्णकाम) हो जाता है अर्थात् उसके प्राप्तव्य कुछ भी नहीं रह जाते।

टिप्पणी—१. गोभिरेव यतो वेद्यो, गोविन्दः समुदाहृतः॥ (विष्णुतिलके)। गोभिर्वाणीभिर्विन्दते, वेत्ति वेदान्तवाक्यैर्वा गोविन्दः॥ (शां.भा.)। २. कृषिश्च सर्ववचनो नकारो बीजमेव च। सः कृष्णः सर्व सृष्ट्यादौ सिसिक्षन्नेक एव च॥ (देवीभा.)। ३. ग्राम् इन्द्रियं पाति रक्षतीति गोपी।

योगार्णवे नाडी स्वरूपम्



इडा पृष्ठे तु गान्धारी, मयूरगलसन्निभा।
सव्यपादादि नेत्रान्ता.....।

हस्तिजिह्वोत्पलप्ररव्या, नाडी तस्याः पुरस्थिाता।
सव्यभागस्य मूर्धादि, पादाङ्गुष्ठान्तमाश्रिता।।

पूषा तु पिङ्गलामध्ये, नीलजीमूतसन्निभा।
याम्यभागस्य नेत्रान्ता, धावत्पादतलं गता।।

अलम्बुषापीतवर्णा, कण्ठमध्यव्यवस्थिता।
यशस्विनीशङ्खवर्णा, पिङ्गला पूर्वदेशगा।।

गान्धार्याश्चसरस्वत्या, मध्यगा शङ्खिनी मता।
सुवर्णवर्णा पादादि, कर्णन्ता सव्यभागके।
पादाङ्गुष्ठादिमूर्धान्तं, याम्यभागे कुहूमता।।

इडा नाड़ी के पृष्ठ भाग में मयूर की ग्रीवा के सदृश बायें पैर से लेकर नेत्र पर्यन्त गान्धारी नाम की नाड़ी है।

उस गान्धारी नाड़ी के समक्ष वाम भाग में मूर्धा से पैर के अङ्गुष्ठ पर्यन्त रहने वाली हस्तिजिह्वा का नाम की नाड़ी है।

पिंगला नाड़ी के मध्य नील बादल (नील कमल) के सदृश वामभाग में पैरों से लेकर नेत्र पर्यन्त रहने वाली पूषा नाम की नाड़ी है।

कण्ठ के मध्य में पीत रंग की अलंबुषा नाम की नाड़ी है तथा पिङ्गला के पूर्व में शंख के वर्ण (श्वेत रंग) की यशस्विनी नाम की नाड़ी है।

गान्धारी और सरस्वती के मध्य में पैरों से कर्णपर्यन्त प्रसरणशील सुवर्ण वर्ण वाली शङ्खिनी नाड़ी वाम भाग में है, तथा दक्षिण भाग में पादाङ्गुष्ठ से मूर्धा पर्यन्त विस्तृत कुहू नाम की नाड़ी है।

मन्त्रशोधनम्/श्रीशारदाति ० २

इत्यादि दोषदुष्टान्तान्मन्त्रानात्मनियोजयेत्।
(कायादनन्यभावना-आत्मनियोजनम्) टी.।

शोधयेदूर्ध्वपवनो, बद्धया योनिमुद्रया। (शा.ति. २)

मूलाधारोत्पन्नान्मन्त्रर्णान् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गतागतानि कुर्वतो ध्यात्वा वायुधारणं कृत्वा सहस्रं जपो योनिमुद्रां वध्वा शोधनं भवति।

योनिमुद्रा–

पार्ष्णिभागात्समुत्पीड्य, योनिमार्गं तथा गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकर्षे, न्मूलवन्धो निगद्यते।।
गुदमेढ्रान्तरं योनि, स्तामाकृष्य प्रबन्धयेत्।
युवा भवति वृद्धोपि, सततं मूलबन्धनात्।।

सेयं योनिमुद्रा। मुद्रा बन्धने नैव योन्या मन्त्राः सर्वे वीर्यवन्तो भवन्ति।। (टी.)

जब तक शरीर के नाड़ीगत पापों का शोधन न हो तब तक साधना के द्वारा परमात्मा के लाभार्थ योग साधना करते रहना चाहिये। क्योंकि यावत् कार्य (कैवल्य प्राप्ति) न होता हो तब तक अनन्य भाव से स्वयं के प्रयत्न से योगयत रहना चाहिये तथा योनिमुद्रा के द्वारा ऊर्ध्वपवन (मूलाधार से मूर्धा पर्यन्त पवन संचार) करते रहना चाहिये।
(टीका एवं शा.ति. २)

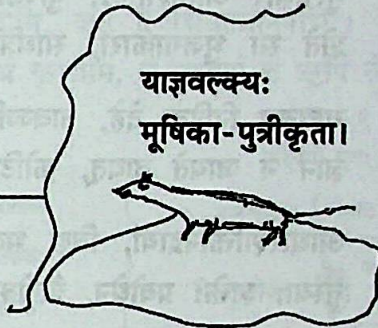
प्रणायाम के द्वारा वायु को ऊपर खीचें तथा योनिमुद्रा को बाँधकर मूलाधार में उत्पन्न मन्त्र वर्णों का ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त गत आगत कर्म से अर्थात् प्राणायाम विधि से प्राणवायु को मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक आगत-अनागत विधिना उपास्य का ध्यान करना चाहिये। वहाँ पर वायु को रोककर योनि मुद्रा बन्धनपूर्वक सहस्त्र संख्या मन्त्र जप करने पर मन्त्र शोधन होता है।

पार्ष्णि भाग को दबावे तथा योनि स्थान और गुदा (सीमन) को पैर की एड़ी से दबाने पर योनि मुद्रा तथा अपान वायु को उलटा ऊपर को खींचे तो इसी को मूलबन्ध कहते हैं।

गुदा और लिङ्गेन्द्रिय के मध्यभाग (सीमन) को योनि कहते है उसे अच्छी प्रकार से पैर की एड़ी से दबाकर मूलबन्ध लगाने से वृद्ध भी युवा हो जाता है। इसी को योनि मुद्रा कहते हैं तथा यहाँ की टीका में कहा कि योनि मुद्रा बन्धन से ही मन्त्र वीर्यवान् (यथोक्त फल देने वाले) होते है। परन्तु योनिमुद्रा से सभी वीर्यवान् नहीं होते हैं। (टीका)

(पञ्चतन्त्रम्)

१. सूर्यः आदित्य भर्तरिमुत्सज्य, पर्जन्यं वायुं गिरिम्।
२. पर्जन्यः स्वजातिं मूषिका प्राप्ता, स्वजाति दुरतिक्रमा।
३. वायुः
४. पर्वतः
५. मूषकः



कुण्डलिनी

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णो; र्निभया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति, गुणत्रयप्रसूतिका।।
मूलाधारस्य वह्न्यात्म; तेजोमध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या, प्राणाकाराश्च तेजसी।।
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता, परब्रह्मस्वरूपिणी।।

याज्ञवल्क्य एक सिद्ध ऋषि थे। उनके यहाँ एक मूषिका आकर शरणापन्न हुई। उसके युवा अवस्था होने पर याज्ञवल्क्य ने उसे अपने वर (पति) के रूप में सूर्य-मेघ-वायु-पर्वत तथा मूषक में से किसी अन्यतम (एक) को चुनने को कहा। मूषिका ने अपने पति के रूप में सूर्य आदि को त्याग कर मूषक को ही पति रूप में स्वीकार की। इससे यह सिद्ध होता है कि जाति का अतिक्रमण अति कठिन है। (पञ्चतन्त्र)

कुण्डलिनी

यह कुण्डलिनी सुवर्णवद् देदीव्यमान अभयप्रद साक्षात् भगवान् विष्णु की शक्ति है तथा सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की जननी है।

वह्निमय मूलाधार के मध्य में स्थित प्राणाकार तेज स्वरूपिणी कुण्डलिनी नाम की जीवशक्ति महाकुण्डलिनी है जो साक्षात् परब्रह्म स्वरूपा है।

शब्दब्रह्ममयी देवी, एकानेकाक्षराकृतिः।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम, विसतन्तुनिभा शुभा।। (महायोग विज्ञान)

मूलाधारे आत्मशक्तिः, कुण्डलिनी परदेवता।
शेते सा भुजगाकारा, सार्धत्रयवलयान्विता।।

यावत्सा निद्रिता देहे, तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्, कोटियोगविधेरपि।।

आधारशक्तिनिद्रायां, विश्वं भवति निद्रया।
तस्याः शक्तेः प्रबोधेन, त्रैलोक्यं प्रति बुद्ध्यते।। (महायोग विज्ञान)

प्रकृतिर्निश्चला परा वाग्रूपिणी पर प्राणात्मिका कुण्डलिनी शक्तिः।।
(प्रपञ्चसारतन्त्र)

भूः-इच्छशक्तिः, भुवः-क्रियाशक्तिः, स्वः-ज्ञानशक्तिः।

यही कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी है। यह एक होने पर भी अनेक वर्णों के रूप में परिणत होती है। यह कुण्डलिनी शक्ति कमल के दण्डगत तन्तु के समान आभावाली और अति सूक्ष्म है। (महायोग विज्ञान)

मूलाधार में आत्मा की शक्ति कुण्डलिनी नाम की परदेवता है। वह स्वयं की आत्मशक्ति से साढ़े तीन लपेटा लगाये हुए सर्प के आकार में स्थित है।

जब तक यह कुण्डलिनी शरीर में सो रही होती है तब तक वह जीव पशु के समान होता है। जब तक यह जाग्रत् नहीं होती है तब तक करोड़ों योग विधान करने पर भी ज्ञान का उदय नहीं होता, क्योंकि आधार शक्ति के सोने पर सम्पूर्ण विश्व सो जाता है तथा उसके जागने पर तीनों लोक जाग जाते हैं। (महायोग विज्ञान)

परब्रह्म की जो परप्राणस्वरूपा, वाग्रूपिणी (वाणी स्वरूपा), निश्चला, जगत् की कारणभूता प्रकृति है वही कुण्डलिनी शक्ति है। (प्रपञ्चसार तन्त्र)

उस कुण्डलिनी शक्ति की 'भूः' तत्त्व इच्छा शक्ति, 'भुवः' तत्त्व क्रिया शक्ति और 'स्वः' तत्त्व ज्ञान शक्ति है।

इच्छाज्ञानक्रियात्मासौ, तेजो रूपा गुणात्मिका।
क्रमेणानेन सृजति, कुण्डलीवर्णमालिकाम्।।
गुणिता सर्वगात्रेषु, सूते मन्त्रमयं जगत्।। (महायोगविज्ञाने)
अहमेव स्वयमिदं वदामि, जुष्टं देवेभिरुतमानुषेभिः।
यं यं कामयते तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम।।
(ऋ. १०/१२५/५)

उत्तरी ध्रुवः

महारन्ध्रे — सत्यलोकः
आज्ञाचक्रे — तपोलोकः
विशुद्धे — जनलोकः
अनाहते — महर्लोकः
मणिपुरे — स्वर्लोकः
स्वाधिष्ठाने — भुवोलोकः
मूलाधारे — भूर्लोकः

दक्षिणी ध्रुवः



ज्ञान-इच्छा-क्रियात्मक तेजः स्वरूपा गुणमयी वह कुण्डलिनी शक्ति कुण्डली क्रम से वर्णमाला का सृजन करती है। यह सम्पूर्ण शरीरों में गुणित अर्थात् अनुस्यूत होकर विस्तृत होती हुयी मन्त्रमय जगत् को सृजन करती है। (महायोग विज्ञान)

वह शक्ति कहती है—मैं स्वयं ही इस ब्रह्माण्डात्मवस्तु का उपेश करती हूँ। मैं देवताओं और मनुष्यों से सुसेवित हूँ। मैं वस्त्वात्मक (जड़ चेतन उभयात्मक) हूँ। जिस पुरुष की मैं रक्षा करनी चाहती हूँ उसे सर्वाधिक बलवीर्यवान् कर देती हूँ। उसको ब्रह्मा बना देती हूँ। उसे मन्त्र द्रष्टा अथवा अतीन्द्रियार्थदर्शि बना देती हूँ। उसको मैं बुद्धिमान् बना देती हूँ। (ऋग्वेद १०/१२५/५)

शास्त्रीय विज्ञान का मत है कि 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का सृजन है उसी प्रकार पिण्ड (शरीर) का भी सृजन है। उसी को ध्यान में रखकर साधक अपने पिण्ड में भावना करते हुए साधना करे। ब्रह्माण्ड में भूलोकतः ऊपर सात लोक हैं। उन लोकों की भावना शरीर में कैसे करें? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर ही यहाँ

महीस्थतीर्थे विमले जले मुदा, मूलाम्बुजे स्नाति स मुक्तिभाग्भवेत्।
(महायो.वि.)

प्रतीक चित्र द्वारा दिया जा रहा है—साधक मूलाधार चक्र में भूलोक की भावना करे, यह मूलाधारचक्र ही दक्षिणी ध्रुव स्थानीय लोक है। मूलाधार से उत्थित भावना को स्वाधिष्ठान चक्र में स्थिर कर भुवर्लोक से भावित कर पुन: भावस्थ होकर मणिपूरक चक्र में स्वर्गलोक की भावना से भावित होकर क्रमश: अनाहतचक्र में महर्लोक, विशुद्धिचक्र में जनलोक, आज्ञाचक्र में तपोलोक तथा महारन्ध्र (ब्रह्मरन्ध्र) में सत्यलोक की भावना करे। यह महारन्ध्र ही ब्रह्मरन्ध्र है और यह उत्तरीध्रुवस्थानीय लोक है। स्थूल बुद्धि वाले लोग उत्तरायण और दक्षिणाय का मृत्यु काल में बहुत विचार करते हैं परन्तु वे इस रहस्य को नहीं समझ पाते हैं। जबकि मूलाधार दक्षिणीध्रुव ही भूलोक स्थानी है यहाँ जनन-मरण को आत्मा का जनन-मरण समझ बैठते हैं, परन्तु यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है—

न जायते मृयते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय:।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (भगवद्गी. २/२०)

य एवं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो, नायं हन्ति न हन्यते।। (श्रीमद्भाग.गी. २/१९)

इस आत्मा को जनन-मरण धर्मवाला जो जानता है वह अज्ञ ही है। अत: दक्षिणध्रुवस्थानी भूर्लोकवासी जीवात्मा का उत्तरीध्रुव स्थानी ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो स्थित होना ही दक्षिणायन मार्गी मुमुर्षु (मरने की इच्छा) कहा जाता है। साधना क्षेत्र में प्रकृति भावोत्पन्न इन्द्रिय सहित मन का परमात्म स्वरूप में लय करना ही मृत्यु है। इसलिए शास्त्र वचन है 'काश्यां मरणान्मुक्ति:', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:'। काशी परमात्मविज्ञानस्थानी है और इन्द्रियादि में आत्मभावस्थ बुद्धि को मारकर (आत्मा में लय कर) परमात्मज्ञानभावापन्न होना अर्थात् इन्द्रियादिकों को सर्वोपादानकारण अधिष्ठान ब्रह्म में लय करना ही उत्तरीध्रुव उपचारित सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोक प्राप्ति हैं। इसी प्रकार सात अध: लोकों की भावना भी प्रतीक चित्र में दिये गये के अनुसार भावनीय है।

पैर का तल भाग (तलवा) तललोक, पैर के ऊपर पृष्ठ भाग तलातल लोक, गुल्फ स्थान महातल लोक, गुल्फ से ऊपर भाग रसातल लोक, घुटना से नीचे और रसातल से ऊपर जंघा स्थान सुतल लोक, घुटने से ऊपर जानु स्थान वितल लोक और जानु से ऊपर ऊरु स्थान तललोक है। इस तरह ऊपर में कहे गये भूर्लोकादि की भाँति ही साधक अपने शरीर के अधोभाग (कटि से नीचे) में सात अधोलोक की भावना करे। (महायोग विज्ञान)

उपर्युक्त चित्राङ्कन में मूलाधारचक्र में भूर्लोक की भावना करने को कहा जा चुका है, अब उसमें ध्यान तथा स्नान करने वालों के फल कहते हैं जो मूलाधार चक्र में स्थित

स्वर्गस्थं यावता तीर्थं, स्वाधिष्ठाने सुपङ्कजे।
मनो निधाय योगीन्द्रः, स्नाति गंगाजले तथा।।
मणिपूरे देवतीर्थे, पञ्चकुण्डसरोवरम्।
तत्र श्रीकामनातीर्थं, स्नाति यो मुक्तिमिच्छति।।
अनाहते सर्वतीर्थं, सूर्यमण्डलमध्यगम्।
विभाय सर्वतीर्थाणि, स्नाति यो मुक्तिमृच्छति।। (म.यो.वि.)
सुषुम्नाशक्तिःसुदृष्टा, जीवोऽयं तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः, सुरतं नाम कीर्तितम्।। (तन्त्रसारः)
परशक्त्यात्ममिथुनं, संयोगानन्दनिर्भराः।
मुक्तात्ममिथुनं तत्स्या; दितरः स्त्री निषेवकः।। (तन्त्रसारः)
एष[1] बीजीभवान्[2] बीज; महं [3]योनिः सनातनः। (वायुपु.)
[1]ब्रह्मा [2]कामः [3]जीव।

तीर्थ के पावन जल में स्थित त्रिरावृत्त मूलकमलकुण्ड में स्नान करता है वह मुक्ति का भाजक (पात्र) हो जाता है। (महायोग विज्ञान)

स्वर्गस्थानी सम्पूर्ण तीर्थ सुन्दर कमल पुष्प के पत्रों से सुसज्जित उस स्वाधिष्ठान चक्र में है। जहाँ पर श्रेष्ठ योगीजन मन लगाकर गङ्गाजल में स्नान करते हैं।

मणिपूर चक्र में पाँचकुण्डात्मक (पंचदलपद्म) सरोवर है उसमें श्रीकामनातीर्थ है उसमें जो स्नान करता है वह मुक्ति की इच्छा वाला होता है।

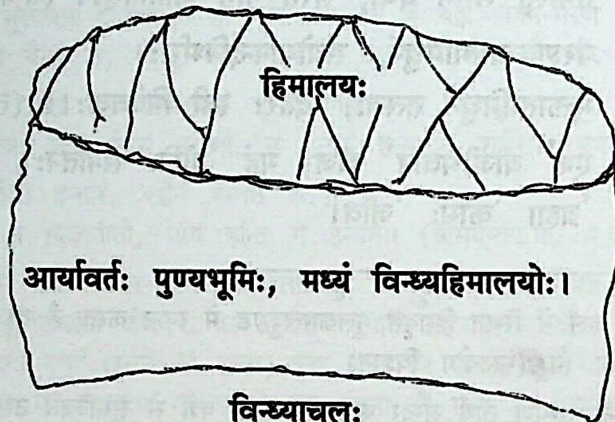
अनाहत चक्र में सूर्यमण्डलमध्यवर्ति सर्वतीर्थ है, उसमें सभी तीर्थों की भावना से जो स्नान करता है। (ध्यान लगाता है) वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

सुषुम्ना शक्ति के ठीक से दर्शन कर लेने पर वह जीव परम शिव हो जाता है। इन दोनों के (शिवशक्ति) के मिलने को देवता लोग सुरत कहते हैं।

संयोगानन्द से भरपूर परमात्मा तथा शक्ति का सम्मेलन अर्थात् मिथुनीभाव ही मुक्तात्मभाव है। श्रेष्ठ योग है। इससे भिन्न अवर कोटि का अर्थात् स्त्री लोलुप का संगम है।

यह ब्रह्म बीजी है उसका काम (संकल्प) बीज और जीव योनि (उत्पाद्य) है अर्थात् सनातन है, नित्य पुरुष है। काम प्रकृति अर्थात् स्त्री है और जीव उत्पत्ति (फल) है।

देहे सप्तद्वीपाः –		सागराः	
१. अस्थिषु	जम्बूद्वीपः	मूत्रे	लवणोदः
२. मांसेषु	कुशद्वीपः	शुक्रे	क्षीरोदः
३. शिरासु	क्रौंचद्वीपः	मज्जा	दधिसिंधु
४. रक्ते	शाकद्वीपः	मेदः	घृतसागरः
५. सन्धिषु	शाल्मलीद्वीपः	कटिशोणितम्	इक्षुरसः
६. लोमेषु	प्लक्षद्वीपः	रक्तः	सुरासागरः
७. नाभौ	पुष्करद्वीपः	रस	शुद्धोदः



देह में सात द्वीप और सात सागर

साधक अपने शरीर के अङ्गो में क्रमशः इस प्रकार भावना करे। यथा—अस्थियों में जम्बुद्वीप है, मांस में कुशद्वीप है, सिर में क्रौंचद्वीप, रक्त में शाकद्वीप, सन्धियों में शाल्मलीद्वीप, रोमों में प्लक्षद्वीप, नाभि में पुष्करद्वीप है। इस प्रकार शरीर में सात द्वीप हैं और उसमें पूर्व के उत्तरी ध्रुवादि में कहे गये रीति से भावना करे और उसी प्रकार मूत्र में लवण सागर, वीर्य में क्षीरसागर, मज्जा में दधि सागर, मेद में धृतसागर, कटि और शोणित में ईख के रस का सागर है ऐसी भावना करें। रक्त में सुरासागर और रस में शुद्ध जल का सागर है। इस रीति से द्वीप भावना की भाँति सप्त सागर की भी भावना साधक अपने शरीर के अन्दर करे।

आर्यावर्त पूण्य भूमि है और आर्यावर्त विन्ध्याचल और हिमालय पर्वतों के मध्य देश का नाम है।

यति पात्राणि

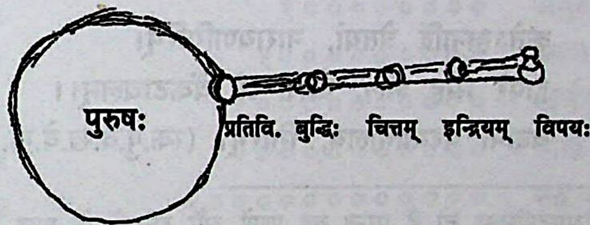
उत्तमं मृन्मयं पात्रं, मध्यमं तु अलावुकम्।
कनिष्ठं दारु पात्रं च, वैणवं च तथैव हि।। (हारीत स्मृ.)

विषयेन्द्रियसम्बन्धः, यो हि पाप्माऽसुरो यतः।
श्रौतानन्तादहंमानात्, परिच्छिन्नो विरुध्यते।।

चक्षुरादि परिच्छेदः, प्राकृतज्ञानहेतुकः।
युक्तोऽध्यात्मैक्यरूपस्य, बाधः शास्त्राभिमानतः।।

परिस्पन्दात्मिका वृत्तिः, श्रोत्रादिष्वपि विद्यते।
प्राणस्याथेन्द्रियाणं तु, शब्दाद्यार्थावलोकिनी।।

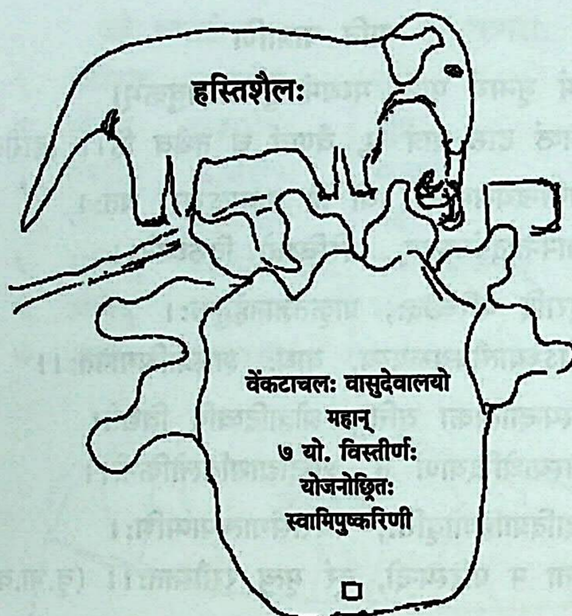
शब्दादिग्राहिणीवृत्तिः, स्वैरासंगात्मपाप्मभिः।
दूषिता न परिस्पन्दो, दूरं मृत्यु रसौस्ततः।। (वृ.भा.वा.)



यातियों के पात्र

मिट्टी का पात्र उत्तम है और तुम्बी (लौकी) का पात्र मध्यम है। लकड़ी का पात्र कनिष्ठ है तथा बाँस का भी तृतीय कोटि का ही है। (हारीत स्मृ.)

जब विषय से इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है तो वह परिच्छिन्न ही होता है। अर्थात् वह विषयाकाराकारित (यथास्वरूप विषयात्मक) ही होता है, इसलिए वह उसके यथार्थ तत्त्व का ग्रहण नहीं कर पाता। अतः तत्काल में वह असुर वृत्ति ही है। ज्ञान अनन्त है और अहंकार भी जीवात्मा का प्रगाढ़ ही होता है। अतः वह अनन्त ज्ञान स्वरूप परमात्मा का विषयों में दर्शन न पाकर अनन्त विरुद्ध परिच्छिन्न (एकदेशीय) बोध को ही प्राप्त कर पाता है। इसका कारण है चक्षु आदि जो पञ्चज्ञानेन्द्रिय है वह उस ज्ञान का व्यावर्तक होता है। इसलिये मानव (द्रष्टा) प्राकृत पुरुष जैसा ही स्वल्प व अन्यथा देखता और समझता है। अतएव प्राकृत ज्ञान के परिच्छेद का हेतु चक्षुरादि ही है। श्रोत्रादिक इन्द्रियों की जो वृत्तियाँ



कृतेऽञ्जनाद्रिं त्रेतयां, नारायणगिरिम्।
द्वापरे सिंह शैलं, कलौ श्री वेंकटाचलम्।।
वदन्ति परमात्मालयं, गिरिम्। (स्क.पु.वै.ख.वे.मा.)

हैं वे भी परिस्पन्दात्मिका तो है परन्तु वह प्राणों और इन्द्रियों के शब्द और अर्थ को प्रकट करने वाली होती है, अत: शब्दादि को ग्रहण करने वाली उसकी वृत्तियाँ स्वैरिणी (इच्छचारिणी) अर्थात् व्यभिचारिणी होने से पापात्मिका ही होती है। अत: दूषित है। इसलिए वह शुद्ध परमात्म-परिस्पन्द (परिस्फुरण) नहीं है। क्योंकि वह विषय और उसके अर्थ के आकारादि से युत् होने के कारण मलिन है। इसी कारण परमानन्द रस के आस्वादन से वह जीवात्मा दूर ही रह जाता है। (वृ.भा.वा.) इसी तथ्य को सम्यक् समझाने के लिये प्रतीक चित्र दिया गया है कि किस तरह जीवात्मा का अन्त:करण में प्रतिविम्बित विषय का प्रत्यक्ष होता है। उसी विषय प्रत्यक्ष का क्रम प्रतीक चित्र में उपस्थित किया गया है। (वृ.भा.वा.)

सतयुग में आञ्जनाद्रि को, त्रेता में नारायण पर्वत को, द्वापर में सिंह शैल को तथा कलियुग में वैंकटाचल पर्वत को परमात्मा का आलय कहते हैं। इसी को प्रतीक चित्र द्वारा कहा गया है। यह वैंकटाचल पर्वत श्रीवासुदेव (श्रीकृष्ण) का आलय (मन्दिर) है। यह सात योजन विस्तीर्ण है और यहीं पर स्वामिपुष्करिणी सरोवर तीर्थ भी है।

एक-दश-शत-सहस्त्रायुत-लक्ष-प्रयुत-कोटयः क्रमशः।
अर्बुदमब्जं-खर्ब-निखर्ब-महापद्म-शङ्कवस्तस्मात्।।२।।
जलधिश्चान्त्यं-मध्यं-परार्धमिति दशगुरोत्तराः संज्ञाः।
संख्या याः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः।।३।। (लीलावती)

१	१	एकम्
२	१०	दस
३	१००	शतम्
४	१०००	सहस्त्रम्
५	१००००	अयुत
६	१०००००	लक्षम्
७	१००००००	प्रयुतम्
८	१०००००००	कोटिः
९	१००००००००	अर्बुदम्
१०	१०००००००००	अब्जम्
११	१००००००००००	खर्बम्
१२	१०००००००००००	निखर्वम्
१३	१००००००००००००	महापद्मम्
१४	१०००००००००००००	शङ्कुः
१५	१००००००००००००००	जलधिः
१६	१०००००००००००००००	अन्त्यम्
१७	१००००००००००००००००	मध्यम्
१८	१०००००००००००००००००	परार्धम्

एक, दश, शत, सहस्र, दशसहस्र, लाख, दशलाख, करोड़, अर्व, अब्ज, खर्व, निखर्व, महामद्म, शंकु, जलधि, अन्त्य, मध्य और परार्ध ये क्रमशः अट्ठारह गणना की कोटि है जो अपनी पूर्व गणना कोटि की संख्या से उत्तर गणना की कोटि उत्तरोत्तर दश गुणी है। व्यवहार की सिद्धि के लिए पूर्व के विद्वानों ने इस प्रकार संख्या की कोटि संज्ञाएँ बनायी हैं।

श्रीमद्भागवतहवनप्रकारः

गृहस्थो होता दशमस्य प्रतिश्लोकं विधिना जुहुयात्।
प्रायसं तिलसर्पिश्च/अथवा-गायत्र्या सुसमाहितः हवनं कुर्यात्।

ब्रह्मस्तुतिं समुचार्य, पूर्वार्धं हवनं चरेत्।
वेदस्तुतिं पठित्वादौ, उत्तरार्धाहुतिं चरेत्।
प्रत्यध्यायं समाप्तौ च, मन्त्राष्टकमुदीरयेत्।।

विष्णु नारायण ब्रह्मा, श्रीशिवो वासुदेव च।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च, संकर्षणमथाष्टकम्।। (दौलतराम गौड:)

देवप्रतिष्ठाधिकारिणः-देवीपुराणे

वर्णाश्रमविभेदेन देवाः स्थाप्याः-चतुर्वर्णैस्तुविष्णुः प्रतिष्ठाप्यः सुखार्थिभिः। ब्रह्मा तु ब्राह्मणैः। गायत्री सहितः। भैरवोपि चतुर्वर्णैः। अन्त्यजानां तथा मतः। मातरः सर्वलोकैस्तु। लिङ्गं गृही यतिर्वापि, संस्थाप्य पूजयेत्।

जो गृहस्थ भक्त श्रीमद्भागवत पुराण का सप्ताहिक, मासिक वा अन्य प्रकार से अनुष्ठानपूर्वक श्रवण करता है तो उसे अनुष्ठानान्त में श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के प्रत्येक मन्त्र से पायस (खीर) तिल और घृत से हवन करना चाहिये अथवा केवल गायत्री मन्त्र के उच्चारणपूर्वक पायस-तिल और धृत से हवन करे। इससे सम्बन्धित अन्य विधियाँ आगे कही जा रही है।

ब्रह्मा जी की स्तुति का पाठ करके पूर्वार्ध से हवन करें।

वेद स्तुति का पूर्व में पाठ करके उत्तरार्ध से आहुति दें।

प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर इन निम्नलिखित आठ मन्त्रों का जप करें। वे मन्त्र हैं—विष्णुमन्त्र, नारायण मन्त्र, ब्रह्मा का मन्त्र, शिवमन्त्र, वासुदेवमन्त्र, प्रद्युम्न मन्त्र, अनिरूद्ध मन्त्र और संकर्षण मन्त्र। इन आठ नाम मन्त्रों का जप प्रत्येक अध्याय के अन्त में करें।

(दौलतराम गौड़)

देवता प्रतिष्ठा के अधिकारी (देवी पुराण)

वर्णाश्रमानुसार देवताओं की स्थापना करे। चारों वर्णों के सुखेच्छुओं को विष्णु की स्थापना करनी चाहिए। गायत्री के सहित ब्रह्मा जी की स्थापना ब्राह्मण करें। चारों वर्ण तथा अन्त्यज भैरव की स्थापना करें। सभी वर्ण मातृगण की पूजा स्थापना कर सकते है, सन्यासी तथा सद्गृहस्थ लिङ्ग की स्थापना कर पूजा करे। (देवीपुराण)

शाकल्य प्रमाणम्

तिलार्धं तण्डुला देया, स्तण्डुलार्धं यवास्तथा।
यवार्धं शर्करा प्रोक्ताः, सर्वार्धं च घृतं स्मृतम्।। (आनन्दरामायणे)

मांसप्रतिनिधिः

लवणार्द्रक पिण्याक, गोधूम मांस पञ्चकम्।
लशुनञ्च महादेवि, मांस प्रतिनिधौ स्मृतम्।। (श्यामारहस्ये)
मौनं विना जपेन्मन्त्रं, राक्षसैर्गृह्यते जपः।
मन्त्रोपि रुष्टतां याति, सिद्धिं नैव प्रयच्छति।। (भागवत टी.)

संजीवनी विद्या

ऋषिः शुक्रः, गायत्रं छन्दः, संजीवनी देवता, ह्रीं शक्तिः। ॐ ह्रीं हं सः संजीवनि जूं हंसः कुरु कुरु कुरु सौः सौः स्वाहा।।२०।।

साकल्य का प्रमाण

हवन सामग्री में तिलों से आधे चावल, चावल से आधे भाग में जौ होना चाहिए तथा जौ का आधा शक्कर की मात्रा एवं सभी हवन पदार्थों की मात्रा के बराबर की मात्रा का आधा धृत की मात्रा होनी चाहिये। यही शाकल्य प्रमाण शास्त्र सम्मत है।

(आनन्द रामायण)

मांस का प्रतिनिधि

लवण, अदरक, तिल की खल, गेहूँ और लहसुन ये मांस के प्रतिनिधि है—अर्थात् मांस की जहाँ विधि हो उस जगह इनसे कार्य हो सकता है। (श्यामा रहस्य)

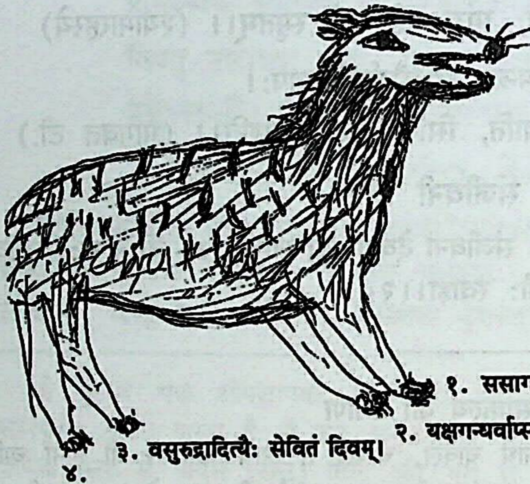
मौन भाव के विना मन्त्र जपने पर जप का फल राक्षस ले लेते है और मन्त्र भी रुष्ट होकर सिद्धि प्रदान नहीं करता है। (भागवत टीका)

संजीवनी विद्या

संजीवनी विद्या के ऋषि शुक्र हैं, छन्द गायत्री तथा देवता संजीवनी एवं ह्रीं बीज शक्ति है। संजीवनी मन्त्र—'ॐ ह्रीं हं सः संजीवनि जूं हंसः कुरु-कुरु-कुरु सौः-सौः स्वाहा' इस प्रकार है और इस विद्या के मन्त्र जापक को जप से पूर्व तथा बाद में इस प्रकार इन विद्या देवता का भी ध्यान करना चाहिये।

कर्पूरात्मा हीर मुक्ता-, भूषणै र्भूषिताम्वराम्।
ज्ञानमुद्रामक्षमालां, दधतीं चिन्तयेत्पराम्।। (श्रीविद्यार्णव ७)

आपो वा इदमासन् सलिलमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्ततेदं सृजेयमिति तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। (नृसिंहपू.ता.उप. १/१)



कर्पूर के तरह जिनके शरीर का वर्ण है और जो हीरा मुक्तादि भूषणों से सुशोभित तथा आकाश वर्ण के वस्त्र को धारण करने वाली है एवं ज्ञान मुद्रा तथा रुद्राक्ष माला को धारण की हुई हैं, ऐसी देवी को मैं ध्यान करता हूँ। (श्रीविद्यार्णव. ७)

सृष्टि के आदि में मात्र जल ही था और उस जल के आसन पर एक मात्र प्रजापति ब्रह्मा प्रकट हुए थे। उनके मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं इस जगत् को नानारूप से बनाऊँ। इसलिए जीवात्मा मन में सर्वप्रथम इच्छा करता है और उसी को बोलता है और फिर उसी को कर्म करके पूर्ण करना चाहता है। (नृसिंह पू.ता.उप. १/१)

१. अक्षरों के न्यास में उग्र प्रथम स्थान है जो इसे जानता है, वह अमृतत्त्व को प्राप्त हो जाता है। २. वीरं यह द्वितीय स्थान है इसके जानने से अमृत्त्व की प्राप्ति होती है। ३. महाविष्णु तृतीय स्थान है। ४. ज्वलनं यह चतुर्थ स्थान है। ५. नृसिंह भीषण यह पञ्चम स्थान है।

सामान्यार्थ

जो उग्र है, जो महाविष्णु है उस चारो ओर से देदीप्यमान भयंकर तथा मंगलमय है। ऐसे मृत्यु के भी जो मृत्यु है उन नृसिंह को हम नमस्कार करते हैं। यह सम्पूर्ण मन्त्र का सामान्य अर्थ है। अब प्रत्येक पद का विशेष अर्थ कहते हैं—

उग्रं—प्रजापति अपनी महिमा से सभी लोको का, सभी देवों का, सभी भूतों का निरन्तर उद्ग्रहण, सृजन, विसर्जन स्थिति करते हैं, अतः यहाँ 'उग्र' कहा गया है।

वीरं—सभी को अपनी महिमा से विरत करते हैं और कराते हैं तथा सर्जन-विसर्जन-निवास के हेतु हैं; अतः यहाँ 'वीर' कहा गया है।

महाविष्णुं—क्योंकि अपनी महिमा से सभी लोकों को, देवों को, भूतों को व्याप्त करते और कराते हैं, अतः 'महाविष्णु' हैं।

ज्वलन्तं—अपनी महिमा से उक्त सभी को प्रकाशित करते हैं।

सर्वतोमुखं—अपनी महिमा से इन्द्रियों के विना भी सभी को सब प्रकार से देखते हैं, सुनते हैं, सर्वगत होने से सर्वको प्राप्त करते हैं, अतः 'सर्वतोमुख' है।

नृसिंहं—अपनी महिमा से सभी पूर्वोक्त लोकादिकों में पराक्रमी सिंह की भाँति श्रेष्ठ तथा विक्रमी हैं, इसलिए 'नृसिंह' हैं।

भीषणम्—जिसके रूप को देखकर सभी लोक, देव और भूतादि भय से भागते हैं। उक्तञ्च—(भीषादस्मात् वातः पवते) अतः 'भीषण' कहा।

भद्रं—क्योंकि स्वयं भद्र (मंगलमय) बनकर सभी को मंगल प्रदान करते हैं, कल्याण करते हैं और सुशोभित है, इसलिए भद्र रूप है।

मृत्युमृत्युं—क्योंकि अपने भक्तों के द्वारा स्मरण करने पर उनकी मृत्यु का अपहरण करते हैं, इसलिए 'मृत्युमृत्य' है।

नमामि—सभी देवता, मुमुक्षुजन, ब्रह्मवादी उन्हें नमस्कार करते हैं और उनके समक्ष जाते है, इसलिए 'नमामि' हैं।

अहं—मैं देवों से पूर्व हुआ, मैं अमृत की नाभि हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं विश्व हूँ, मैं सुवर्ण ज्योति हूँ, इसलिए ये भगवान् नृसिंह 'अहं' है।

ससागारामिति-

सागर और पर्वत तथा द्वीपों के सहित वसुन्धरा को साम का प्रथम पाद जानना चाहिए। यक्ष-गन्धर्व-अप्सरोगण से सेवित अन्तरिक्ष को साम का द्वितीयपाद जाना चाहिये। वसु, रुद्र, आदित्य तथा सभी देवों से सेवित द्युलोक यह साम का तृतीय पाद है। ब्रह्म स्वरूप निरञ्जन परम व्योम यह साम का चतुर्थ वाद है। साम ब्रह्म की उपर्युक्त रीति से पादक्रम जानकर साधक को उपासना करनी चाहिये। (नृ.पू.ता.उ. १/१)

पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वं; स्वात्मनि प्रविलाप्य च।
सोहमस्मीति जानीयाद्, विद्वान्ब्रह्माऽमृतो भवेत्।।

१. सद्योजातं मही पूषा, रमा ब्रह्मा त्रिवृत्स्वरः।
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च, मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा।।
वर्णं पीतं क्रियाशक्तिः, सर्वाभीष्टफलप्रदम्।

२. अघोरं सलिलं चन्द्रं, गौरी वेद द्वितीयकम्।।
नीरदाभं स्वरं सान्द्रं, दक्षिणाग्नि सदाहृतम्।
पञ्चशद्वर्णसंयुक्तं, सर्वाघौघ विनाशकम्।।
शक्तिरक्षणसंयुक्तं, सर्वाघौघ विनाशकम्।
सर्वदुष्टप्रशमनं, सर्वैश्वर्यफलप्रदम्।।

३. वामदेवं महाबोध; दायकंपावकात्मकम्।
विद्यालोकसमायुक्तं, भानुकोटि समप्रभम्।।
प्रसन्नं सामवेदाख्यं, नानाष्टक समायुतम्।
घोरस्वरमधीनं चा; हवनीयमनुत्तमम्।।

पञ्चब्रह्मात्मक सर्वस्वरूप शिव का स्वात्मा में लीन करके वे शिव मैं ही हूँ ऐसा जानना चाहिये। जो विद्वान् (साधक) ऐसा जानता है वह अमृत ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अब उपर्युक्त पञ्च ब्रह्मात्मक शिव के पाँच स्वरूप को कहते हैं—

१. सद्योजात ब्रह्म के भूमिरूप और पूषा शक्ति है। त्रिवृत्स्वरूप ब्रह्मा की शक्ति रमा है। वेद ऋग् हैं, गार्हपत्य-अग्नि है इसके मन्त्र सप्त स्वरों से युक्त है। इसका वर्ण पीला है, क्रिया शक्ति सभी अभीष्ट फलों को देने वाली है।

२. अघोर स्वरूप ब्रह्म जलरूप हैं उनके चन्द्र देवता, गौरी शक्ति है, वेद यजुर्वेद है, जलद जैसा वर्ण है, आहृत दक्षिणाग्नि है, स्वर पचास वर्णों से युक्त है, स्थिति इच्छा-क्रिया तथा रक्षण शक्ति से युक्त है, सभी पाप समूह का विनाशक, सभी दुष्टों का प्रशामक एवं सम्पूर्ण ऐश्वर्य फलों का प्रदायक हैं।

३. वामदेव स्वरूप तृतीय ब्रह्म पावक रूप है महाबोधप्रद है विद्या और आलोक से युक्त है करोड़ों सूर्यो की प्रभा वाला है, प्रसन्न है तथा इसका वेद सामवेद है। अनेक

ज्ञानसंहारसंयुक्तं, शक्तिद्वयसमन्वितम्।
वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं, पूर्णबोधकरं स्वयम्।।
धामत्रयनियन्तारं, धामत्रयसमन्वितम्।
सर्वसौभाग्यदं नृणाम्, सर्वकर्मफलप्रदम्।।
अष्टाक्षरसमायुक्तं, अष्टपत्रान्तरस्थितम्।
४. यत्तत्पुरुषं प्रोक्तं, वायुमण्डलसंवृतम्।।
पञ्चाग्निना समायुक्तं, मन्त्रशक्तिनियामकम्।
पञ्चाशत्स्वरवर्णाख्य; मथर्ववेदरूपकम्।।
कोटिकोटिगणाध्यक्षं, ब्रह्मण्डाखण्डविग्रहम्।
वर्णं रक्तं कामदं च, सर्वाधिव्याधिभेषजम्।।
सृष्टिस्थितिलयादीनां, कारणं सर्वशक्तिधृक्।
अवस्थात्रितयातीतं, तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम्।।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिःसेव्यं, सर्वेषां जनकं परम्।

प्रकार के अष्टकों से युक्त है, इनका स्वर घोर है, इसकी आहवनीय अग्नि है। ज्ञान और संहार दो शक्तियों से युक्त है।

वे तमो युक्त शुक्लवर्ण है। वे पूर्णबोध कराने वाला और तीनों धामों के नियन्ता हैं, तथा तीनों अवस्थाओं से परे तुरीय धाम है एवं तीनों धामों से युक्त हैं। वे मनुष्यों के सभी सौभाग्य तथा मनोरथों को देने वाले, आठ अक्षरों से युक्त एवं आठ पत्रों के अष्टदलों के मध्य में स्थित हैं।

४. ये जो तत्पुरुष ब्रह्म हैं वे वायु मण्डल से आवृत्त एवं पाँच अग्नियों से युक्त हैं तथा यन्त्र शक्ति के नियन्ता और पचास स्वरवर्णारव्य अथर्ववेद स्वरूप है। करोड़ों गणों के अध्यक्ष हैं और अखण्डब्रह्माण्ड ही इनका शरीर है। इनका वर्ण रक्त है। सर्वकामप्रद हैं और सभी आधि-व्याधियों की औषध हैं। सृष्टि-स्थिति और प्रलयादि के कारण, सर्वशक्ति के धारक हैं। अवस्थात्रय से परे तुरीय ब्रह्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं से संसेव्य हैं एवं सभी के परम जनक है।

५. ईशानं परमं विद्या, त्प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम्।।
आकाशात्मकमव्यक्त, मोंकारस्वरभूषितम्।
सर्वदेवमयं शान्तं, शान्त्यतीतं स्वराद्बहिः।।

अकारादिस्वराध्यक्ष, माकाशमयविग्रहम्।
पञ्चकृत्यनियंतारं, पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत्।।

पञ्चब्रह्मोपसंहारं, कृत्वा स्वात्मनि संस्थितः।
स्वमाया वैभवान्सर्वान्, संहृत्य स्वात्मनि स्थितः।।

(पञ्च ब्रह्मोपनि.)

वर्तमान मनुः (श्रीमद्भा. ८/१३)

मनुर्विवस्वतःपुत्रः, श्राद्धदेव इति श्रुतः।
सप्तमोवर्तमानो यः, तदपत्यानि दश।।

इक्ष्वाकुर्नभगो धृष्टः, शर्याति र्दिष्ट एव च।
नरिष्यन्तोऽथनाभागः, करुषो वसुमान् पृषध्रः।।

आदित्या वसवो रुद्रा, विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
अश्विनावृभवो राजन्, इन्द्रस्तेषां पुरन्दरः।।

---

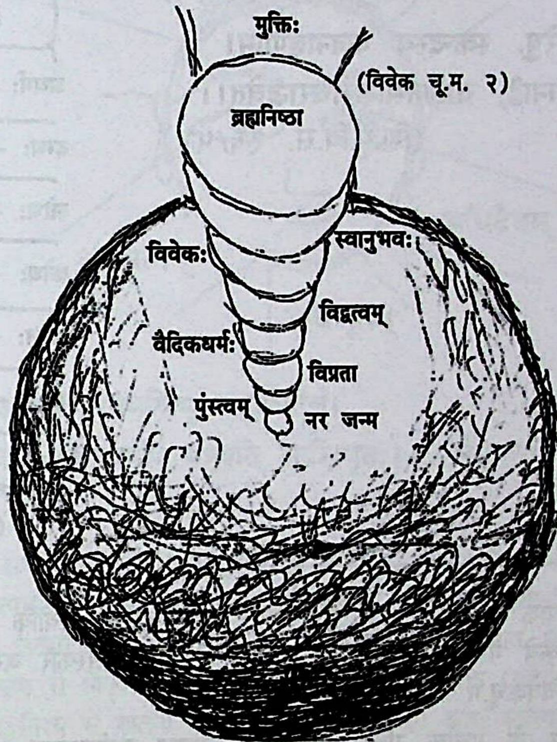
५. ईशानरूप पञ्चमब्रह्म सभी के प्रेरक और बुद्धि के साक्षी हैं। आकाशवत् सूक्ष्म और अव्यक्त ओंकार स्वर से भूषित है। सर्वदेवमय, शान्त एवं शान्त्यतीत तथा सभी प्रकार के स्वरो से परे अकारादि स्वरों के अध्यक्ष हैं। इनका आकाशमय शरीर है। पाँचों कृतियों के नियन्ता एवं पञ्चब्रह्मात्मक तथा व्यापक हैं। पाँचों ब्रह्मों के उपसंहार करके अपने स्वरूप में स्थित हैं। अपनी माया से सभी वैभवों का संग्रह करके अपने आत्मा में ही स्थित हैं। (पञ्चब्रह्मोपनिषद्)

वर्तमान मनु

सातवें वैवस्वत मनु के पुत्र श्राद्धदेव हुए जो सातवें मनु कहे जाते हैं और वर्तमान में उन्हीं का काल चल रहा है। उनके (श्राद्धदेव के) दश पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. इक्ष्वाकु, २. नभग, ३. धृष्ट, ४. शर्याति, ५. दिष्ट, ६. नरिष्यन्त, ७. नाभाग, ८. करूष, ९. वसुमान् और १०. पृषध्र।

इस मन्वन्तर में आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुदगण, आश्विनी कुमार, ऋभु और पुरन्दर इन उपर्युक्त मनुओं के इन्द्र हुए हैं।

कश्यपोऽत्रिवशिष्ठश्च, विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
जमदग्निर्भरद्वाज, इति सप्तर्षयः स्मृताः।।

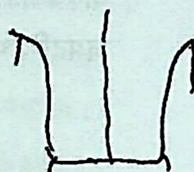


कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भारद्वाज—ये सातों इस मन्वन्तर के ऋषिगण हैं। (श्रीमद्भा. ८/१३)

जीवात्मा के लिए सर्वप्रथम तो नरजन्म (मानव योनि) ही दुर्लभ है, अगर यह प्राप्त भी हो गया तो पुरुषत्व की प्राप्ति कठिन है। यदि कदाचित् वह भी प्राप्त हो गया तो ब्राह्मणत्व उससे भी दुर्लभ है। ब्राह्मणत्व प्राप्त हो भी गया तो वैदिक कर्म-धर्म का अनुगामी होना तो और दुर्लभ है। इसी प्रकार विद्वत्ता का होना और भी कठिन होता है। यदि कदाचित् पूर्वजन्म के कर्म विपाक से विद्वत्ता भी प्राप्त हो जाय तो आत्मा-अनात्मा का विवेक और उसका सम्यक् अनुभव, ब्रह्मात्मभाव की स्थिति और मुक्ति यह होना तो करोड़ों जन्मों के

कार्तिकादित्यवारेषु, नृणामादित्य पूजनात्।
तैलकार्पासदानात्तु, भवेत् कुष्ठादि संक्षयः।।
(शि.पु.वि.सं. १६/४९)

कृत्तिकाभौमवारेषु, स्कन्दस्य यजनान्नृणाम्।
दीपघण्टादि दानाद्वै, वाणिसिद्धिरचिराद्भवेत्।।
(शि.पु.वि.सं. १६/५४)



अधर्मः - मिथ्या

दम्भः - माया

लोभः - निकृतिः

क्रोधः - हिंसा

कलिः - द्विरुक्तिः

भयम् - मृत्युः

निरयः - यातना

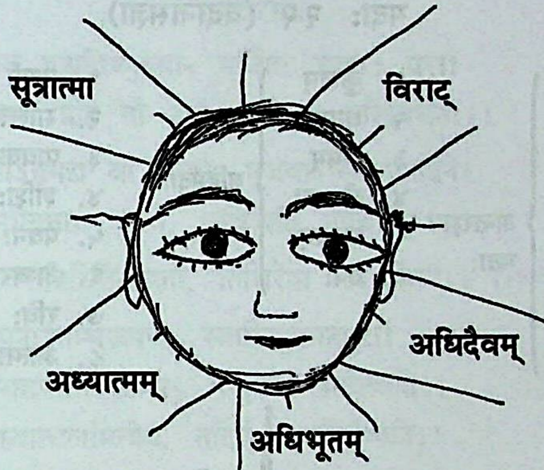
(श्रीमद्भा. १२)

शुभ कर्मों के परिपाक के बिना प्राप्त होना परम दुर्लभ ही है। क्योंकि मुक्ति (मोक्ष) तो अनन्त जन्मों में किये गये शुभ कर्मों के परिपाक से उत्पन्न संस्कार जन्य सद्बुद्धि द्वारा ही प्राप्तव्य है। (विवेकचू.म. २)

कार्तिक मास के प्रत्येक रविवार के दिन भगवान् सूर्यनारायण का ताम्र पात्र में रक्तचन्दन मिश्रित जल, रक्तपुष्प, रक्त नैवेद्य आदि के द्वारा विधिपूर्वक पूजन करके कपास की वत्ती और तैल से संयुत् दीपक दान करने से कुष्ठ सम्बन्धी व्रण रोग नष्ट हो जाते हैं। (शि.पु.वि.सं. १६/४९)

कार्तिक मास के प्रत्येक भौमवार (मंगलवार) को भगवान् स्कन्द (कार्तिकेय) के विधिपूर्वक पूजन कर दीपक तथा घण्टा दान करने से शीघ्र ही वाणी की सिद्धि प्राप्त होती है। (शि.पु.वि.सं.१६/५४)

यहाँ प्रतीक चित्र त्रिशूल को प्रस्तुत कर तीन गुणों का संकेत किया गया है। सतोगुण का उद्रेक उपकारी होता है परन्तु रजोगुण या तमोगुण का उद्रेक शुभद नहीं होता। यद्यपि रजोगुण वा तमोगुण की आधिक्यता में भी सतोगुण का सर्वथा अभाव नहीं होता परन्तु स्वल्प या सुप्त रहता है। इसी तरह अन्य गुणों के उद्रेक (आधिक्य) में भी जानना चाहिये।



अध्यात्ममेवमधिभूतमथाधिदैवं।
सूत्रं विराटमपि पश्यति साक्षिभूतः।। (संक्षेपशा. ३/६७)

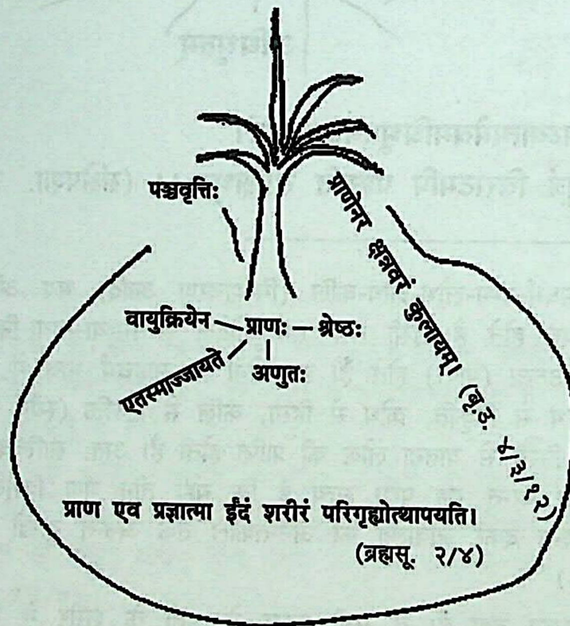
रजोगुणोद्रेक से अधर्म-दम्भ-लोभ-क्रोध-कलि (मिथ्याचरण आदि) भय और निरय क्रमशः एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं। इसी तरह तमोगुणोद्रेक से मिथ्या-माया-निकृति-हिंसा-दुरुक्ति-मृत्यु और यातना उत्पन्न (प्राप्त) होते हैं। इन दोनों के साहचर्य भाव में अधर्म से मिथ्या, दम्भ से माया, लोभ से निकृति, क्रोध से हिंसा, कलि से द्विरुक्ति (स्थैर्य वचन का अभाव) भय से मृत्यु और निरय से यातना लोक की प्राप्ति होती है। अतः सात्त्विक गुण का स्वभाव ही मानवोपकारी है। परन्तु यह परम सत्य है कि यही तीन गुण त्रिशूल है जो उपर्युक्त संसृति धर्म को जन्म देकर जीवात्मा को अनन्तकाल तक अनन्त दुःखों का भोक्ता बनाता है। (श्रीमद्भा. १२)

सूत्रात्मा निरञ्जन ब्रह्म है। वे सभी प्रकार के भूतों के शरीर में माला में धागे के समान अनुस्यूत हैं, व्यापक हैं, इसलिये वे सूत्रात्मा कहलाते हैं। विराट् सम्पूर्ण प्राणियों (समष्टि) में अहंत्वेन अनुभवशील ईश (परमात्मा) हैं। अधिभूत पञ्चभौतिक मनुष्य-पक्षि इत्यादि से सम्बन्धित तथा वात-पित्तादि से सम्बन्धित आध्यात्मिक है। इसी प्रकार यक्ष-राक्षस विनायकादि सम्बन्धित आधिदैविक है। इन सभी में जो साक्षिमात्र रूप से देखता है वही सूत्रात्मा-परमात्मा है। इनमें उपाधि त्याग पूर्वक जो ऐक्यता का अनुभव करता है वही विद्वान् साधक परमतत्त्व का वेत्ता होकर परम पुरुषार्थ मोक्षपद को प्राप्त करता है।

(संक्षेप शा. ३/६७)

मदाः २२ (वेदान्तसंज्ञा)

१. धनिनः		१. कुलम्		१. पृथ्वी	
२. स्थायिनः		२. धनम्		२. सलिलम्	
३. कृतिनः		३. रूपम्		३. पावकः	
४. राज्ञः	अन्तरङ्गाः मदाः	४. यौवनम्	बहिर्मदाः	४. शशिः	अष्टमूर्तिमदाः
५. क्रोधिनः		५. राज्यम्		५. पवनः	
६. मायिनः		६. तपः		६. अम्बरम्	
७. अतिचारिणः				७. रविः	
८. वाहनवतः				८. आत्मा	

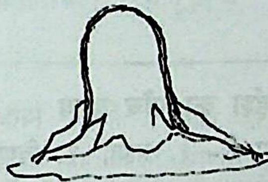


जीवात्मा मानव में स्वाभाविकतया बाईस मद होते हैं। जिसमें आन्तरिक मद ८ प्रकार के, वाह्य मद छः प्रकार के और अन्य आधिदैविक मद आठ प्रकार के होते हैं, जिसे उपर्युक्त मूल सूची (संस्कृत) से सुलभतापूर्वक समझा जा सकता है।

यह जगत् प्राण से ही संरक्षित है। वायुक्रिया से ही प्राण की स्थिति है और वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है तथा वह प्रज्ञात्मा ब्रह्म इस शरीर को सर्वतः पकड़कर बाँध रखा है जिससे जीवात्मा चलता-फिरता (क्रियाशील) है। उस प्राण की प्राण-अपान-व्यान-उदान और

शिवरात्रिः

तत्रैव ब्रह्मविष्णुभ्या; मर्चितः शङ्करः पुरा।
प्रसन्नः प्राह तौ नम्रौ, सस्मितं भक्तिबर्धनः।।
तुष्टोऽहमद्य वां वत्सौ, पूजयाऽस्मिन्महादिने।
दिनमेतत्ततः पुण्यं, भविष्यति महत्तरम्।।
शिवरात्रिरितिख्याता, तिथिरेषा मम प्रिया।। (शिवपु.वि.सं. ८)
यत्पुनःस्तम्भरूपेण, स्वारिरासमहंपुरा।
अनाद्यन्तमिदंस्तम्भ; मणुमात्रं भविष्यति।।
अरुणाचलमित्येव, तदिदं ख्यातिमेष्यति।।



समान ये पाँच आवृत्तियाँ ही इस शरीर का सम्यक्-धारण-संचालन करता है जिससे हम प्राणवान् अनुभव करते हैं। उस प्रज्ञात्मा प्राण ब्रह्म की उपासना साधक मुमुक्षु करते हैं। (बृ.उ. ४/३/१२ एवं ब्रह्म सू. २/४)

शिवरात्रि

जब ब्रह्मा विष्णु ने ज्योतिर्लिंग की पूजा की तो उस समय ब्रह्मा तथा विष्णु के भक्तिवर्धन भगवान् शंकर प्रसन्न होते हुए उन दोनों से बोले—मैं तुम्हारी पूजा से सन्तुष्ट हूँ। हे वत्स! तुमने इस महत्त्वशाली दिन को जो मेरी पूजा की है इसलिए यह दिन अत्यन्त पुण्यमय तथा महान् माना जायेगा तथा लोक में इस तिथि का नाम शिवरात्रि होगा जो मेरे लिए परमप्रिय और भक्त के लिए पुण्यकारी होगा। (शिवपु.वि.सं. ८)

मैं पूर्वकाल में जिस दिन महान् स्तम्भ ज्योति के रूप में आविर्भूत हुआ हूँ वह मार्गशीर्ष मास में आद्रा नक्षत्र का दिन था। हे पुत्रों! आदि अन्त से रहित यह मेरा ज्योतिर्लिंग मनुष्यों के दर्शन और पूजन की सुविधा के लिए अत्यन्त छोटा हो जायेगा। यहाँ पर अग्नि के पर्वत के समान मेरा यह लिङ्ग उत्पन्न हुआ है, इसलिए यह स्थान अरूणाचल नाम से प्रसिद्ध होगा। (शि.पु.वि.सं. ८)

ईशस्य पञ्चकृत्यानि

१. सर्गः-संसारसंरंभः-भूमौ-ब्रह्मा। २. स्थितिः-तत्प्रतिष्ठा-तोये-विष्णुः। ३. संहारः-मर्दनं तस्य-पावके-रुद्रः। ४. तिरोभावः-तदुत्क्रयः-अनिले-महेशः। ५. अनुग्रहः-तन्मोक्षः-अम्बरे-शिवः। (शिवपु.वि.सं. १०)

(त्रिषु नष्टतिरोहितौ) (अमरः ३/८/१२)



अकार उत्तरात्पूर्वं,
उकारः पश्चिमाननात्।
मकारो दक्षिणमुखात्,
बिन्दुः प्राङ्मुखतस्तथा।।

(शि.पु. १०)

ईश का पाँच कृत्य

भगवान् शिव के पाँच स्वरूप हैं—१. ब्रह्मा, २. विष्णु, ३. रूद्र, ४. महेश और ५. शिव। उनके पाँचों स्वरूप कार्यब्रह्म हैं। इन्हीं स्वरूपों में से ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि का सृजन होता है। भगवान् शिव ब्रह्मा स्वरूप से पृथिवी तत्त्व में प्रविष्ट है और उससे सृष्टि का सृजन करते हैं। विष्णु स्वरूप से जल में प्रविष्ट है और उससे लोक की स्थिति (पालन) होती है। रूद्रपावक (अग्नि) में प्रविष्ट होकर सृष्टि का मर्दन (संयमन)करते हैं। अनिल (वायु) में प्रविष्ट महेश स्वरूप से सृष्टि का उत्क्रमण (नाश) करते हैं और आकाश तत्त्व में प्रविष्ट शिव स्वरूप से जीवात्मा को मोक्ष प्रदान करते हैं। इस तरह पाँचों भूतों में प्रविष्ट शिव पञ्चभूतात्म स्वरूप से जगत् का संचालन करते हैं। पाँचों भूत उत्तरोत्तर एक दूसरे से सूक्ष्म है और आकाश स्वरूप शिव सूक्ष्मतम हैं। इसका ध्यान साधकों के लिये आवश्यक है। (शिवपु.वि.सं. १०)

नष्ट और तिरोहित शब्द तीनों लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। यथा—नष्ट शब्द के पुलिङ्ग में 'नष्टः' स्त्रीलिङ्ग में 'नष्टा' और नपुंसक लिङ्ग में 'नष्टम्' शब्द के रूप होते हैं।

भगवान् शिव कहते हैं—मेरे उत्तर मुख से अकार उत्पन्न हुआ तथा पश्चिम मुख से उकार उत्पन्न हुआ, दक्षिण मुखं से मकार उत्पन्न हुआ तथा पूर्व मुख से बिन्दु उत्पन्न हुआ। मध्य मुख से नाद उत्पन्न हुआ इस प्रकार पाचों मुखों से पाँच रूप में विकसित होता हुआ फिर मिलकर एक हो गया तो 'औमित्येकाक्षरं ब्रह्म' हो गया। अतः ओम् नाद ब्रह्म (शिव) का ही स्वरूप है। (शि.पु. १०)

पुनश्चद्विविधं लिङ्गं स्थावरं जंगमं तथा।
स्थावरं-तरु गुल्मादि।-सुश्रूषा।
जङ्गमं-क्रिमि कीटादि।-तर्पणम्।
पीठमम्बामयं सर्वं, शिवलिङ्गं च चिन्मयम्। (शि.पु.वि.सं. ११)



बीजांशः—पापः, पुण्यः-ज्ञाननाश्यौ।
वृहद्यंशः—पापः, पुण्यः-ध्यानदानतपोभिः।
भोगांशः—पापः, पुण्यः-भोगनाश्यौ।
नान्यथा पुण्य कोटिभिः। (शि.पु.वि.सं. ११)

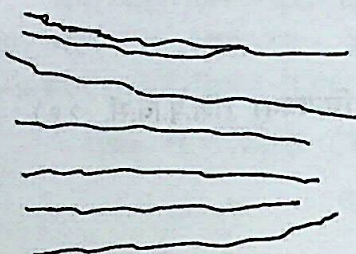
यह लिङ्ग पुनः स्थावर जंगम भेद से दो प्रकार का है। स्थावर-लिङ्ग तरु गुल्म लतादि हैं और जंगम लिङ्ग कृमि, कीट, पतङ्गादि है। स्थावरलिङ्ग की जल सेचन आदि के द्वारा सेवा (शिव पूजन है) है और जंगम कृमि कीटादि को आहार से तृप्त करना पूजन है।

जंगम लिंग का तर्पण (भोजन दान सम्मान रक्षा) आदि करना शिवार्चन है तथा तरुगुल्मादि को काटने छाटने से बचाकर रखना सेवा है। जीवों को अभय प्रदान कर सुख पूर्वक रखना उनसे प्रेम रखना ही शिवपूजा है।

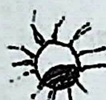
पीठ की आधार शक्ति अम्बामय है तथा लिङ्ग चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय स्वरूप है। उसमें एक्त्वादि की भावना करनी चाहिए। (शिवपु.वि.सं. ११)

ज्ञान से पाप और पुण्य दोनों का नाश हो जाता है। पाप और पुण्य दोनों कैवल्य मोक्ष के बाधक हैं। कृत कर्म पाप-पुण्य जीवात्मा को भोक्तृत्व प्रदान करता है जबकि कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभाव से ही कैवल्य मुक्ति सम्भव होता है। अतः इसका क्रमशः नाश (लोप) करने के लिए उपाय है कि—कायिक-वाचिक और मानसिक ये तीनों पाद ज्ञान तथा ऐश्वर्य का नाश करते हैं इनमें मानसिक पाप वज्रलेप के समान है सहज नहीं छूटता। मानसिक पाप भगवान् के ध्यान, दान और तप करने से नष्ट होता है। वाचिक जप से वाणीगत पाप तथा काय शोषण से शारीरिक पाप नष्ट होता है। पुण्य तथा पाप में वीजांश वृहद्यंश और भोगांश तीन अंश होते हैं। पुण्य के वीजांश से ज्ञानोत्पत्ति होती है। पाप के वीजांश से ज्ञान का नाश होता है। पुण्य के वृहद्यंश से पुण्य की वृद्धि तथा पाप के वृहद्यंश से पाप की वृद्धि होती है। इसी प्रकार पुण्य के भोगांश से उत्तमभोग प्राप्त होता है और

सप्तगङ्गाः



गङ्गा, गोदावरी, कावेरी,
ताम्रपर्णिका, सिन्धु, सरयू,
रेवा, सप्तगंगा प्रकीर्तिताः।
(शि.पु.वि.सं. १५)



जगद्रूपस्य सूर्यस्य, विषययोगाच्च रोगदम्।
अतस्तद्विषयशान्त्यर्थं, स्नानदानजपांश्चरेत्।।
महतां संग कालश्च, कोद्यर्कग्रहणं विदुः।। (शि.पु.वि.सं. १५)

पतनात्त्रायत इति–पात्रम्।

पाप के भोगांश से भोगों का नाश होता है। पुण्य पाप के भोगांश का नाश पुण्यपाप के भोग से ही होता। अन्यथा करोड़ों पुण्यों से भी नहीं होता है। (नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटि शतैरपि) उक्त बीजांशादि का यही अभिप्राय है। (शिवपु.वि.सं. ११)

सप्तगङ्गा

गङ्गा, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णी, सिन्धु, सरयू तथा रेवा ये सात गङ्गा हैं इनके तट पर स्नान दानादिक कर्म से दश गुना पुण्य प्राप्त होता है। (शि.पु.वि.सं. १५)

जगत् का जो स्वरूप है वह सूर्य है और विषय वस्तु राहु है। जगद्रूप और विषय वस्तु का संयोग ग्रहण (सूर्य ग्रहण) है। अतः इस ग्रहण के दोष की शान्ति के लिये स्नान (सत्संग-परमात्म चिन्तन), दान (विषय वस्तु का त्याग) करना चाहिये। इसलिये कहा गया है कि—

सुखमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवं दया शौचं, सत्यं पियूषवत्पिव।। (चाणक्यनीति)

यहाँ विषय को ही विष (दोष) जानना चाहिये। (शि.पु.वि.सं. १५)

पतन से जो रक्षा करें उसे पात्र कहते हैं।

तपोनिष्ठा ज्ञाननिष्ठा, योगिनो यतयस्तथा।
पूजायाः पात्रमेते हि, पापसंक्षयकारणम्।। (शि.पु.वि.सं. १५)

[1] दशाङ्ग दानम्

बहुमानमथाह्वानं, [2]अभ्यंग [3]पादसेवनम्।
वासो[4] गन्धाद्य[5]र्चनं च, घृतापूपरसोत्तरम्।।
षड्रसं [6]व्यञ्जनं चैव, [7]ताम्बूलं दक्षिणोत्तरम्[8]।
[9]नमश्चानुग[10]मश्चैव, स्वन्नदानं दशांगकम्।। (शि.पु.वि.सं. १५)
कर्मणां फलमस्तीति, बुद्धिरास्तिक्य मुच्यते।। (शि.पु.वि.सं. १५)
विन्दुनादात्मकं सर्वम्।
विन्दुःशक्तिः शिवोनादः।

तपोनिष्ठ, ज्ञाननिष्ठ, योगी और सन्यासी ये पूजा के पात्र हैं। इनकी पूजा से पापों का नाश होता है और पतन से रक्षा होती है। (शि.पु.वि.सं. १५)

दशाङ्ग दान

तपोनिष्ठ, ज्ञाननिष्ठ, योगी और यती (सन्यासी) इनके अपने आश्रम (गृह) में आने पर दशाङ्ग दान करना चाहिये। वे दशाङ्ग दान ये हैं—१. सम्मानपूर्वक आगत को बुलाना, २. स्नानादि सामग्री आदरपूर्वक अर्पण करना, ३. पादसेवा अर्थात् थकान दूर करने के लिये पैर दबाना, ४. वस्त्रादि देना, ५. सुगन्धित चन्दनादि से अर्चना करना तथा घृत में पकाये गये पूपादि (मालपूआ आदि) भोजन हेतु अर्पण करना, ६. षड्रस व्यञ्जन से तृप्त करना, ७. भोजन के बाद ताम्बूलादि अर्पण करना, ८. दक्षिणा देना, ९. प्रणाम करना और १०. जाते समय कुछ दूर उनके साथ उनके पीछे-पीछे जाना।

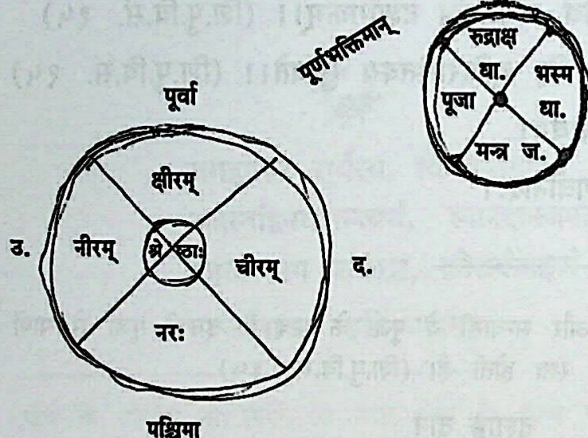
(शि.पु.वि.सं. १५)

सम्पूर्ण कर्मों का फल बुद्धि की आस्तिकता है। अगर बुद्धि आस्तिक नहीं होती है तो कर्म में दोष है ऐसा जानकर उसमें (कर्म में) सुधार करना चाहिये। (शि.पु.वि.सं. १५)

यह सम्पूर्ण जगत् बिन्दु नादात्मक है। विन्दु शक्ति है और शिव नाद रूप है। अतः यह जगत् शिवशक्त्यात्मक है।

नादाधारमिदं विन्दुः। विन्द्वाधारमिदं जगत्।।
विन्दुनादयुतं सर्वं, सकली करणं भवेत्।
मातादेवीविन्दुरूपा नादरूपः शिवःपिता।
सा देवी जगतां माता स शिवो जगतः पिता।।
पितृ मातृस्वरूपेण शिवलिङ्गं प्रयूजयेत्।
(शि.पु.वि.सं. १६)





विन्दु नाद का आधार है और विन्दु का आधार यह जगत् है। इसलिए विन्दु और नाद से युक्त यह सकल जगत् है जिसे सकलीकरण कहते हैं। अर्थात् जीव विन्दु और नाद से युक्त होने पर कला युक्त हो जाते हैं तथा कला युक्त होने पर इस जीव जगत् का जन्म होता है। विन्दु नादात्मक लिङ्ग ही इस जगत् की उत्पत्ति का कारण है। विन्दु देवी है तो शिव नाद है। विन्दुरूप देवी माता है तथा नाद रूप शिव पिता है। अतः परमानन्द की प्राप्ति के लिए मातृ-पितृ स्वरूप की दृष्टि से शिव लिङ्ग की पूजा करनी चाहिए। (शिव.पु.वि.सं. १६)

पूर्ण भक्तिमान् (शिव के उपासक) को हृदयादि अङ्गों में रूद्राक्ष, ललाटादि अङ्गों में भस्म धारण करना चाहिये और विहित पूजन सामग्री के द्वारा पूजा-अर्चना एवं मन्त्रादि का जप करना चाहिये। उपर्युक्त चार विधियाँ (कोष्ठकगत) ही पूर्ण भक्तिमान् का लक्षण है। यही प्रतीक चित्र प्रथम का अभिप्राय है।

पूर्ण भक्तिमान् पूर्वाभिमुख बैठकर भगवान् शिव के लिङ्ग पर पूर्व दिशा (भाग) में दुग्ध,

प्रणवः

प्रोहि प्रकृतिजातस्य, संसारस्य महोदधेः।
नवं नावान्तरमिति, प्रणवं हि विदुर्बुधाः।।
प्रः-प्रपञ्चो न-नास्ति वो, युष्माकं।
प्रकर्षेण नयेद्यस्मा; न्मोक्षं वः प्रणवं विदुः।।
सर्व कर्म क्षयं कृत्वा, दिव्यं ज्ञानं तु नूतनम्।। (शि.पु.वि.सं. १७)

प्रणवं द्विविधम्
सूक्ष्मम् ।।ॐ।।
स्थूलम् ।।नमः शिवाय।।
मन्त्रेणार्थानुसंधानं, स्वदेहविलयावधि। (शि.पु.वि.सं. १७)

उत्तर दिशा (भाग) में नीर (जल) और दक्षिण भाग में वस्त्रादि अर्पण करें और मध्य लिङ्ग पर अभिषेकादि करें। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि भगवान् शिव पञ्चवक्त्र (पञ्चमुख) हैं, यथा—पूर्वमुख शिव तत्पुरुष स्वरूप हैं, पश्चिममुख शिव सद्योजात स्वरूप है और उत्तरमुख शिर वामदेव स्वरूप है तथा दक्षिणमुख शिव अघोर स्वरूप हैं एवं उर्ध्वमुख शिव ईशान स्वरूप हैं। यह भी ध्यान योग्य है कि पूर्वमुख शिव जो यहाँ तत्पुरुष स्वरूप कहा गया है वह स्वयं नर (अर्चक) होता है—'या स्रष्टुः सृष्टिराद्यावहति विधिहुतं या हविर्या च होतृ'। यहाँ होतृ (होता-हवन करने वाला) शब्द से अर्चक ग्रहण किया गया है; क्योंकि जो अर्चक होता है वही होता (हवन करने वाला) भी होता है। यही द्वितीय प्रतीक चित्र का अभिप्राय है।

प्रणव

प्रकृति (माया) से उत्पन्न संसार सागर के तरण के लिए जो नवीन नाव के समान उद्धारक हो उसे प्रणव कहते हैं। दूसरी व्युत्पत्यर्थ है कि प्र का अर्थ प्रपञ्च है और जो यह ज्ञान हममें और तुममें प्रदान करे कि प्रपञ्च तुम नहीं हो, तुम शिव स्वरूप आत्मा हो तो, उसे प्रणव कहते हैं। तृतीय अर्थ है जो प्रबलतापूर्वक मोक्ष को प्राप्त करावे उसे प्रणव कहते हैं। चतुर्थ अर्थ है जो सभी प्रकार के कर्म और उससे उत्पन्न पापों का क्षय करके नूतन ब्रह्मज्ञान को प्रवन करे उसे प्रणव कहते हैं। (शिव.पु.वि.सं. १७)

वह प्रणव स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का कहा है। उसमें 'ॐ' एकाक्षर सूक्ष्म प्रणव है तथा नमः शिवाय यह पञ्चाक्षर स्थूल प्रणव है। प्रणव का सूक्ष्म रूप 'ओम्' अव्यक्त है और दूसरा पञ्चाक्षर 'नमः शिवाय' सुव्यक्त है। इस प्रणव मन्त्र के द्वारा अर्थ का अनुसन्धान तब तक करना चाहिए जब तक देह का लय उसमें न हो जाय। इसी का नाम उपासना है। (शिवपु.वि.सं. १७)

पञ्चयज्ञाः

अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः, पितृ यज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भूतो, नृ यज्ञोऽतिथि पूजनम्।। (मनुः)

सकृत्प्रत्ययमात्रेण, घटश्चेद्भासते सदा।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं, घटवच्च न भासते।। (पञ्चदशी ९/९२)

निश्चित्य सकृदात्मानं, यदापेक्षा तदैव तम्।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं, शक्नोत्येव हि तत्त्ववित्।। (पञ्चदशी ९/९५)

वर्णाश्रम वयोऽवस्था; भिमानो यस्य वर्तते।
तस्यैव च निषेधाश्च, विधयः सकला अपि।। (पञ्चदशी ९/१००)

वर्णाश्रमादयो देहे, मायया परिकल्पिताः।
नात्मनो बोधरूपस्य, एवं ज्ञानि विनिश्चयः।। (पञ्चदशी ९/१०१)

आत्माऽसङ्गस्ततोऽन्यत्स्या; दिन्द्र जालं हि मायिकम्।
इत्यचञ्चलनिर्णीते, कुतो मनसि वासना।। (पञ्चदशी ९/१०४)

पञ्चयज्ञ

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है। श्राद्ध तर्पण पितृयाग है। हवन देवयज्ञ है। बलि देना भूतयज्ञ है तथा अतिथि सत्कार नृयज्ञ (मानवयज्ञ) है। इस प्रकार ये पाँच महायज्ञ हैं। (मनु स्मृ.)

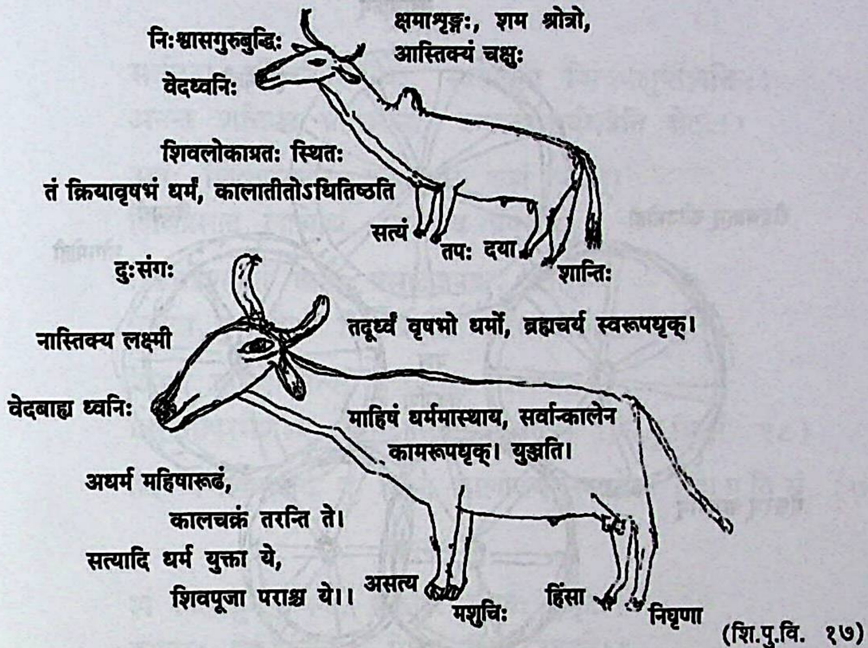
सहसा दृष्टिगोचर होने पर जड़ पदार्थ घटादि जब भासित हो जाते है तो स्वयं प्रकाश अत्यन्त सन्निकृष्ट यह आत्मा घटादि की भाँति क्यों नहीं भासता अर्थात् अवश्य ही भासता है। (पञ्चदशी ९/९२)

जब एक बार आत्मा है और 'मैं आत्मा ही हूँ' ऐसा विनिश्चय हो गया तो फिर उसके सापेक्ष कथन-मनन और ध्यान निरन्तर तो तत्त्ववित् कर ही सकता है। (पञ्चदशी ९/९५)

जिसे वर्ण-आश्रम और अवस्था का अभिमान है उसी के लिये शास्त्र के विधि और निषेध अर्थात् यह कर्त्तव्य है और यह कर्त्तव्य नहीं है वाक्य कहा गया है। (पञ्चदशी ९/१००)

वर्णाश्रम आदि माया द्वारा शरीर में कल्पित है। ये आत्मा के धर्म नहीं है। ज्ञानी पुरुषों का ऐसा विनिश्चय है। (पञ्चदशी ९/१०१)

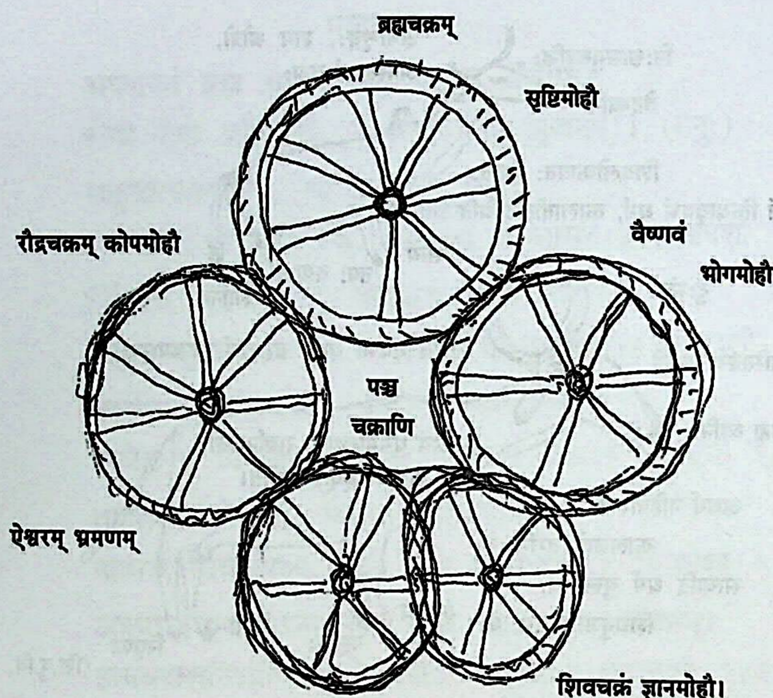
आत्मा असङ्ग है, निर्लेप है, इससे भिन्न सब माया रचित प्रपञ्च झूठा जादू है ऐसा निश्चित रूप से निर्णय होने पर फिर मन में वासनायें कैसे हो सकती है? (पञ्चदशी ९/१०४)



(शि.पु.वि. १७)

यहाँ प्रतीक चित्र के माध्यम से धर्म के स्वरूप का वृषभ रूपक और अधर्म का महिष रूपक कल्पित कर धर्मात्मा और दुरात्मा के लक्षण को वृषभ एवं महिष के व्याज से प्रतिपादित किया जा रहा है—जो धर्मात्मा है वह कौन और किस प्रकार के लक्षण वाले हैं? कहते हैं कि वह वृषभ स्वरूप धर्म पर आरूढ़ होते हैं। उस वृषभ के शृङ्ग क्षमा, श्रोत्र-शम, चक्षु-आस्तिक्य, निश्वास-गुरु बुद्धि, ध्वनि-वेद, उस वृषभ के आगे के दक्षिणपद-सत्य, वामपद-तप, उस वृषभ के पीछे के दक्षिणपद-शान्ति और वामपद दया है। उस धर्मात्मा की क्रियायें रूपक में कथित धर्मों से युत् होता है और वह कालातीत परमात्मा शिव के सम्मुख स्थित होता है। यह वृषभधर्म ब्रह्मचारी स्वरूप वाला है। ब्रह्मचारी का अर्थ 'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी' अर्थात् जो नित्य परमात्मा ब्रह्म में स्थित होता है वह ब्रह्मचारी है।

इससे इतर जो अधर्मशील हैं वे दुरात्मा हैं, दुःसंगी है। वे महिष स्वरूप अधर्म पर आरूढ़ हैं। वे महिष धर्म में आस्था रखते हैं अथवा माहिषधर्म (धर्म विरुद्ध) पर आरूढ़ होते हैं, इसलिए वे दुरात्मा काम (इच्छा) के मानो साक्षात् विग्रह (शरीर) हैं। वे सदा सर्वदा दुःसंग करते हैं। नास्तिक बुद्धि रखते हैं और येन-केन प्रकारेण (अधर्माचरण से) धन सम्पदा का संग्रह करते हैं। उसकी ध्वनि (वाणी) वेद-शास्त्र के विपरीत होती है। उस अधर्म स्वरूप महिष का अग्र दक्षिणपद असत्य, वामपद-अशुचि और पश्चात् (पीछे का पैर) दक्षिणपद हिंसा



कालचक्रं पञ्चचक्रम्।

(शि.पु.वि. १७)

और वामपद निघृण होते हैं अर्थात् वे असत्य-अशुचि-हिंसा और घृणा पर जीवन को आसीन रखते हैं। जो इस प्रकार के अधर्म महिष पर आरूढ़ होकर जीवन-यापन करने वाले हैं वे एक काल को व्यतीत कर दूसरे काल का आश्रय लेते रहते हैं अर्थात् सर्वदा काल में तैरते रहतेहैं। इसका मौलिक अभिप्राय यह है कि वे कालचक्र (जन्म-मृत्यु) में अर्थात् संसार चक्र में बार-बार आते-जाते रहते हैं। परन्तु जो वृषभधर्मा हैं वे सत्यादि धर्मों से सम्बद्ध होने के कारण सदा-सर्वदा मंगलप्रद शिव (परमात्मा) की पूजा (निष्ठा) में रत होते हैं अर्थात् वे साक्षात् शिव का अपरोक्ष दर्शक होते हैं और कालचक्र (जनन-मरण) का तरण कर जाते हैं। (शिवपु.वि.सं. १७)

कालचक्र वर्णन

यह कालचक्र पाँच चक्रों वाला है। जो क्रमशः एक-एक के पश्चात् स्थित है। सृष्टि और मोह वाला ब्रह्म चक्र है? भोग एवं मोह से युक्त विष्णु चक्र है। कोप और मोह से युक्त रुद्र चक्र है। भ्रमण से युक्त ईश्वर चक्र है। ज्ञान और मोह अथवा ऊह (तर्कादि) अथवा त्याग से युक्त शिव चक्र है। (शिवपु.वि.सं. १७)

प्रसादः

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः, स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्त शक्तिश्च महेश्वरस्य, यन्मानसैश्वर्यमवैति वेदः।।

अतः शिवप्रसादेन, प्रकृत्यादि वशं भवेत्।
शिवप्रसाद लाभार्थं, शिवमेव प्रपूजयेत्।।

शिवोद्देशकृतं कर्म, प्रसादजनकं भवेत्।
पूजया तु महेशो हि, प्रकृतेः परमः शिवः।।

प्रसादं कुरुते सत्यं, पूजकस्य विशेषतः।
प्रसादात्परमेशस्य, कर्मदेहोवशं भवेत्।। (शि.पु.वि.सं. १८)

तदा वै शिवलोके तु, वासः सालोक्य मुच्यते।। (शि.पु.वि.सं. १७)

शिवः

शं नित्यसुखमानन्दं, इकारः पुरुषः स्मृतः।
वकारः शक्तिरमृतम्, मेलनं शिव उच्यते।।
तस्मादेवं स्वमात्मानं, शिवं कृत्वार्चयेच्छिवम्।। (शि.पु.वि.सं. १८)

प्रसाद

सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिज्ञान, स्वतन्त्रता, कभी भी शक्ति का लोप न होना एवं अनन्त शक्ति ये सभी गुण महेश्वर में सदा निवास करते हैं और मानस ऐश्वर्य उनका वेद (श्रुति) है।

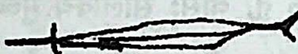
जिनके मानसिक ऐश्वर्य वेद है ऐसे शिव की प्रसन्नता से ही प्रकृत्यादि अष्टक समुदाय वश में होते है। इसलिए शिव की प्रसन्नता के लिए तथा शिव की प्राप्ति के लिए शिव की ही पूजा करनी चाहिए। शिव के उद्देश्य से किया हुआ कर्म उनकी प्रसन्नता का जनक है। प्रकृति से परे वे महेश भगवान् शिव पूजा करने वाले पर अवश्य ही प्रसन्न हो जाते हैं इसमें सन्देह नहीं।

शिव के प्रसन्न हो जाने पर क्रमशः कर्मादि देह स्वयं वश में हो जाते हैं। जब परमेश्वर की कृपा से कर्म देह वश में हो जाता है तो उसी समय आराधक का शिवलोक में वास हो जाता है और शिव सालोक्य की प्राप्ति हो जाती है।

शिव

शिव शब्द में शं शब्द नित्य, सुख और आनन्द का वाचक है, ईकार पुरुष अर्थ

पितृयानोऽजवीथ्याश्च, यदगस्त्यस्य चान्तरम्।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति, स्वर्गकामा दिवं प्रति।।
ये च दानपराः सम्य, गष्टाभिश्च गुणैर्युताः।
तत्राष्टाशीतिसाहस्त्रा, मुनयो गृहमेधिनः।।
पुनरावर्तिनो बीज, भूता धर्मप्रवर्तकाः।। (याज्ञव.स्मृ.प्रा.य. १८४)
सप्तर्षिनागवीथ्यन्त, देवलोकं समश्रिताः।
तावन्त एव मुनयः, सर्वारम्भविवर्जिताः।।
तपसा ब्रह्मचर्येण, सङ्गत्यागेन मेधया।
तत्र गत्वावतिष्ठन्ते, यावदाभूतसंप्लवम्।। (शि.पु.वि.सं. १८)



ब्रह्मविष्णोश्चरूद्राणां, सारं चैव त्रिपुण्ड्रकम्। (शि.पु.वि.सं. १८)

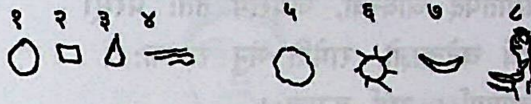


का वाचक है तथा वकार अमृत शक्ति का बोधक है। इन तीनों नित्य सुखानन्द अमृत शक्ति सम्पन्न (मिलित) पुरुष को शिव कहते हैं। इस प्रकार की भावना अपने में करते हुए शिव की पूजा करनी चाहिए। (शि.पु.वि.सं. १८)

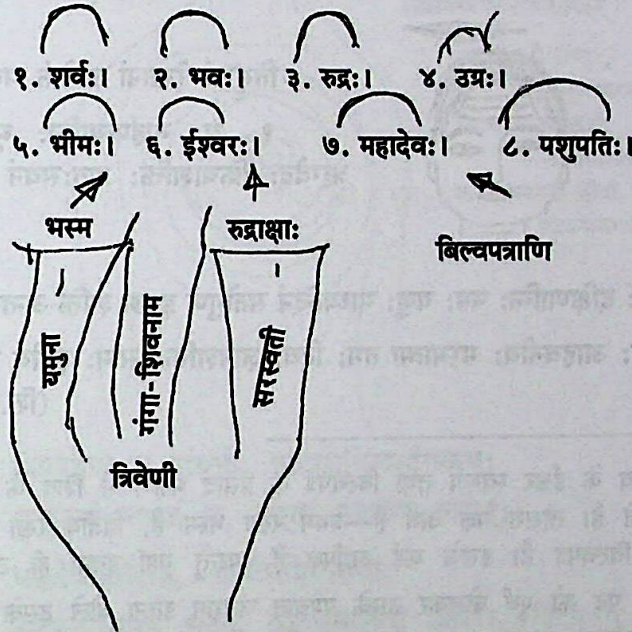
आजवीथी और अगस्त्य (तारा) के आनन्तर (बीच में) पितृयान मार्ग हैं स्वर्ग की कामना वाले अग्नि होत्री तथा अन्यजन जो दान यज्ञ आदि अष्ट गुणों से सम्पन्न धर्मात्मागण इसी मार्ग से जाते है। इसी मार्ग से ८८ हजार ऋषि जो गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले हैं और जो धर्म के प्रवर्तक कहे जाते हैं एवं शुभकर्मों के फलों के भोक्ता एवं बीजी हैं वे सप्तर्षिगण नागवीथि नामक मार्ग से देवलोक को जाते हैं। (यागव.स्मृ.प्रा.य. १८४)

वे ऋषिगण सर्वारम्भ विवर्जित तप-ब्रह्मचर्य सङ्गत्याग और ज्ञान के प्रभाव के सामर्थ्य से वहाँ पहुँच कर सृष्टि के लयकाल तक निवास करते हैं।

त्रिपुण्ड्र (भस्म) ब्रह्मा-विष्णु और रूद्र के सारभूत तत्त्व है। (शि.पु.वि.सं. १८)



क्षितिरापोऽनलोवायुः, आकाशः सूर्यसोमकौ।
यजमान इति त्वष्टौ, मूर्तयः परिकीर्तिताः।। (शि.पु.वि. २१)



भगवान् शंकर की भौतिक अष्ट (आठ) मूर्तियाँ इस प्रकार हैं—पृथिवी शर्व, जल-भव, अग्नि-रूद्र, वायु-उग्र, आकाश-भीम, सूर्य-ईश्वर, चन्द्र-महादेव और पशुपति-यजमान मूर्ति हैं। भगवान् शिव के आठ नाम (उनके नाम के गुण के अनुसार) हैं। और वे आठों भौतिक तत्त्व विग्रह में सन्निहित् है। (शि.पु.वि.सं. २१)

त्रिपुण्ड्र में भस्म की तीन रेखा होती है। प्रथम रेखा यमुना की धारा, द्वितीय गंगा की धारा है जिसे शिवनाम धारा भी कहते हैं और तृतीय सरस्वती की धारा है। इन तीनों रेखा से त्रिवेणी संगम स्थल तीर्थराज प्रयाग के स्थान को ललाट प्राप्त करता है, जहाँ पर भगवान् शिव भीम-ईश्वर और महादेव स्वरूप से विराजते हैं। भगवान् शिव को भस्म (भीम स्वरूप को), रूद्राक्ष (ईश्वर स्वरूप को) और विल्वपत्र (महादेव स्वरूप को) परम प्रिय है। अन्य पक्ष का अर्थ भस्म लेप करने से साधक भक्त शिव के भीम स्वरूप, रूद्राक्ष

श्रीरामेतिपदं चोक्त्वा, जयराम ततः परम्।
जयद्वयं वदेत्प्राज्ञो, रामेति मनु राजकः।।
त्रयोदशार्णः। सर्व कामदः।

श्रीरामः ऋषिः। जगती छन्दः। श्रीरामो देवता। प्रणवो बीजम्। क्लीं शक्तिः। ह्रीं कीलकम्। (रामरहस्योपनि. २)



तिसृणां रेखानां प्रत्येकं नव देवताः।

१. अः गार्हपत्याग्निः भूः धर्मः रजः ऋग्वेदः क्रियाशक्तिः प्रातःसवनं महादेवः।

२. उः दक्षिणाग्निः नमः यजुः माध्यन्दिनं सतोगुण इच्छा शक्ति अन्तरात्मा महेश्वरः।

३. मः आहवनीयः मरमात्मा तमः दिवः ज्ञानशक्तिः सामः तृतीय संहिता शिवः।
(शि.पु.वि.सं. २४)

धारण से शिव के ईश्वर स्वरूप तथा विल्वपत्र के प्रसाद भक्षण से शिव के महादेव स्वरूप को प्राप्त होते हैं। तीसरा पक्ष अर्थ है—प्रथम रेखा भस्म है, द्वितीय रेखा रुद्राक्ष है और तृतीय रेखा विल्वपत्र है। इसके कई अर्थपक्ष हैं, परन्तु यहाँ इतना ही उचित है।

श्रीराम पद को पूर्व बोलकर उसके पश्चात् जयराम इतना बोले उसके बाद जय जय राम बोले। (श्रीराम जयराम जय जय राम) यह मन्त्र मनु (जापक) के लिए मन्त्रराज है। यह तेरह वर्ण का मन्त्र सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाला है।

इस मन्त्र के श्रीराम ऋषि, जगती छन्द और श्रीराम देवता हैं। इस मन्त्र के प्रणव बीज, क्लीं शक्ति और ह्रीं कीलक है।

त्रिपुण्ड में जो तीन रेखाएँ हैं, उनके प्रत्येक रेखा के नौ-नौ देवता हैं। यथा—प्रथम रेखा के—१. प्रवण के प्रथम अवर्ण, २. गार्हपत्याग्नि, ३. भूः (व्याहृति), ४. धर्म, ५. रजोगुण, ६. ऋगवेद, ७. क्रियाशक्ति, ८. प्रातः सवन (होम) और ९. महादेव। द्वितीय रेखा के—१. प्रणव के द्वितीय वर्ण 'उ' वर्ण, २. दक्षिणाग्नि, ३. नमः, ४. यजुर्वेद, ५. माध्यन्दिन संहिता, ६. सतोगुण, ७. इच्छा शक्ति, ८. अन्तरात्मा और ९. महेश्वर। तृतीय रेखा के—१. प्रणव के अन्तिम वर्ण 'म', २. आहवनीय अग्नि, ३. जीवात्मा, ४. तमोगुण, ५. स्वर्ग, ६. ज्ञानशक्ति, ७. सामवेद, ८. तृतीय संहिता साम और ९. शिव।

जीवः परो परो जीवः,
सर्वंब्रह्मेति भावयेत्।
(वनदुर्गोपनि.)



देहमध्यगतो वह्निः,
वह्निमध्यगता द्युतिः।
द्युतिमध्यगता दीप्तिः,
दीप्तिमध्यगतः शशी।।
शशिमध्यगतं देव्याश्चक्रम्
तन्मध्यगतो विन्दुः,
विन्दुमध्यगतं मनः।
मनोमध्यगतो नादो,
नादमध्यगता कला।।
कलामध्यगतो जीवो,
जीवमध्यगता परा।।

त्रिपुण्ड्रेण च संयुक्तं, रुद्राक्षाविलसांगकम्।
मृत्युञ्जयं जपन्तं च, दृष्ट्वा रुद्रफलं लभेत्।।
पञ्चदेवप्रियश्चैव, सर्वदेवप्रियस्तथा।
सर्वमन्त्राञ्जपेद् भक्तो, रुद्राक्षमालया प्रिये।। (शि.पु.वि. २५)

शरीर के मध्य में अग्नि, अग्नि के मध्य में द्युति (ज्योति), द्युति के मध्य में दीप्ति, दीप्ति के मध्य शशी, शशि के मध्य में देवी का चक्र, उसके मध्य में बिन्दु, बिन्दु के मध्य में मन और मन के मध्य में नाद, नाद के मध्य में कला है। कला के मध्य में जीव तथा जीव के मध्य में पराशक्ति और पराशक्ति के बाद पुनः आत्मा अर्थात् परमात्मा है। आत्मा ही ब्रह्म है इसलिए सभी ब्रह्म हैं। ऐसी भावना को साध करके साधक पराशक्ति पराम्बा की आराधना करें। (वनदुर्गोपनि.)

जो साधक भक्त त्रिपुण्ड्र और रूद्राक्ष धारण करके मृत्युञ्जय (शिव) मन्त्र का जप करता है उस साधक भक्त के दर्शन करने से शिव के दर्शन का फल प्राप्त होता है।

साधक जापक चाहे पञ्चदेवता के उपासक हों चाहे सभी देवता के उपासक हों वे

ओजः

प्रथमं जायते ह्योजः, ...।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं, लाज गन्धिः..........।।

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं, रक्तमीषत्सपीतकम्।
विभेतिदुर्बलोभीक्ष्णं, ध्यायाति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायोदुर्मनारूक्षः, क्षामश्चैवोजसः क्षये।।

तन्नाशान्ना विनश्यति। (चरकसूत्र. १७)

सर्वदा सर्वभावानां, सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुविशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य च।।

भावाः–द्रव्यगुणकर्माणि। (चरके सू. १)

रुद्राक्ष की माला से सभी देवताओं के मन्त्रों का जप कर सकते हैं। परन्तु जापक को भक्त होना आवश्यक है। यह उक्ति भगवान् शिव की गिरिजा (पार्वती) के प्रति है।

(शि.पु.वि.सं. २५)

प्रथम ओज नामक धातु जब उत्पन्न होता है तो उसका धृत जैसा वर्ण मधुररस युत् खीलों की गन्ध वाला होता है अथवा लाजवन्ती के समान गन्ध होता है। यह ललाट वर्त्ति होता है।

हृदय में जो शुद्ध ओज है वह किञ्चित् पीत मिश्रित रक्त वर्ण का होता है। जिस व्यक्ति के ओजक्षय (नष्ट) हो जाता है वह भयभीत रहता है, दुर्बल होता है, कठिनता से देख पाता है, उसकी छाया भयंकर दिखाई देती है, मन दुःखित रहता है, शरीर रूक्ष होता है, थका हुआ रहता है। ओज क्षय हो जाने पर नर मर जाता है।

(चरकसूत्र १७)

आयुर्वेद पद्धति (चिकित्सा शास्त्र) में भाव—द्रव्य, गुण और कर्म को कहते हैं। ये सभी भाव सर्वदा ही जन सामान्य के वृद्धि (पुष्टि) के कारण (हेतु) होते हैं और यही जन सामान्य के ह्रास और प्रवृत्ति दोनों के विशेष हेतु भी हैं। (चरक सू. १)

काल बुद्धीन्द्रियार्थानां,
योयोगोमिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयणां व्याधीनां,
त्रिविधो हेतुसंग्रहः।। (")

सदाशिव कथा प्रश्नः,
पुरुषांस्त्रीन्पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄ;
ञ्जाह्नवी सलिलं यथा।। (शि.पु. २/१)

प्रवला भाविनी कर्म;
गतिर्ज्ञेया विचक्षणैः।
न निवार्या जनैः कैश्चित्,
अपीच्छा सैव शाङ्करी।। (शि.पु. २/१)

द्रव्य-गुण और कर्म जो भाव हैं वे काल-बुद्धि-इन्द्रिय और अर्थों के साथ उचित संयोग से मिथ्या प्रभाव वाला नहीं होता है, परन्तु उस विधि और मात्रा आदि का अतिक्रमण करने पर वह वृद्धि और ह्रास के हेतु में प्रवृत्ति करने वाला होता है। भावों के उचित संयोग से लाभ और व्यत्यय से हानि संभव है। व्याधि दो प्रकार के हैं—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक रोग शरीर के आश्रित और मानसिक रोग मन के आश्रित होते हैं। इन द्वयायश्रित व्याधियों के निवारण के लिये ही ये त्रिविध कर्म अर्थात् द्रव्य-गुण और कर्म (भावों) का संग्रह किया जाता है। (चरक सू. १)

भगवान् शिव की कथा को किसी से पूछने पर तीन पुरुषों को पवित्र कर देता है और वे तीन हैं—वक्ता-प्रष्टा (पूछने वाले) और श्रोता। यह कथा जाह्नवी (गंगा) के समान पवित्र करने वाली होती है। जिस तरह गंगा स्मारक-दर्शक और स्नाता को पवित्र कर देती है। (शि.पु. २/१)

कर्मों की गति (परिणाम) को पण्डितों ने अव्यक्त बलवान् तथा गहन बताया है। इसका (कर्म गति का) निवारण कोई भी नहीं कर सकता है। क्योंकि यह भगवान शिव की इच्छा स्वरूपा है। (शि.पु. २/१)

भक्तित्रिकं न यस्यास्ति,
काम मोहादयो मुने।
विकारास्तस्य सद्यो वै,
भवन्त्यखिलदुःखदाः।। (शि.पु. २/१)

घटस्य-



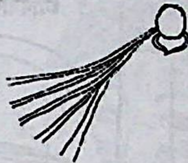
१. शोधनम्-षट् कर्मणा
२. दृढता-आसनैः
३. स्थैर्यम्-मुद्राभिः
४. धैर्यम्-प्रत्याहारेण
५. लाघवम्-प्राणायामैः
६. प्रत्यक्षम्-ध्यानात्
७. निर्लिप्तत्वम्-समाधिना (घेरण्डसंहिता)

हे मुने! जहाँ (जिस व्यक्ति) भक्ति ज्ञान और वैराग्य इन तीनों की उपस्थिति नहीं होती वहाँ सभी दुःखों के मूल काम, क्रोध, लोभ और मोहादि तत्काल उपस्थित हो जाते हैं। (शि.पु. २/१)

१. इस आत्मा (शरीर) का (क) आसन, (ख) मुद्रा, (ग) प्रत्याहार, (घ) प्राणायाम, (ङ) ध्यान और (च) समाधि से शोधन होता है। यहाँ प्रतीक चित्र घट का दिया गया है। यह घट शरीर और कलश दोनों का वाचक है। कलश का भी शोधन षड्कर्म विधि से कुम्भकार करता है और शोधित कुम्भ ही कार्य के सिद्धि (जल संरक्षण) में सार्थक होता है। १. उसी प्रकार साधक भी अपने शरीर की सार्थकता के लिये प्रयत्न करे। २. साधक योगशास्त्रोक्त आसनों के अभ्यास से ध्यान की दृढ़ता करे। ३. खेचरी आदि मुद्राओं से स्थिरता प्राप्त करे। ४. प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को विषय से पृथक् करके धैर्य प्राप्त करे। ५. प्राणायाम (पूरक रेचक कुम्भक) के द्वारा शरीर में लघुता लावे। ६. ध्यान से ध्येय का साक्षात्कार करें। ७. समाधि के द्वारा जगत् प्रपञ्च से निर्लिप्त भाव को प्राप्त करे। (घेरण्ड संहिता)

भक्तिमार्गः, ज्ञानमार्गः, तपोमार्गः, दानमार्गः, तीर्थमार्गः।

(शि.पु.रु. ५)



महाप्रलयकाले तु

आसीत्तमोमयं सर्वमनर्कग्रहतारकम्। (शि.पु.रु. ५)

नारद प्रश्नाः

१. निर्गुणोपि सगुणः कथम्। २. सृष्टेः पूर्वं कथं स्वरूपेण स्थितः। ३. सृष्टिमध्ये कथं क्रीडन्वर्तते। ४. तदन्ते च कथं तिष्ठति। ५. कथं प्रसन्नतां याति। ६. सन्तुष्टः किं फलं प्रयच्छति। ७. सद्यः प्रसन्नो भवतीति श्रूयते। ८. तस्याविभावः। ९. उमाविभावः। १०. गार्हस्थ्यम्।

भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, तपोमार्ग, दानमार्ग, तीर्थमार्ग—ये पाँच यहाँ आत्मोद्धार के साधनभूत कहे गये हैं; किन्तु इन मार्गों के प्राप्तव्य स्थान भगवान् शिव ही हैं। इसलिए कहा है कि, 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णमिव'।

अर्थ है—हे प्रभो शिव! रुचि भेद से अनेक मार्ग शास्त्र में कहे गये है; किन्तु सभी मार्गों के प्राप्तव्य स्थान आप ही हैं जैसे नाना नदियाँ अनेक दिशा से आकर समुद्र में मिलती है और उनके गम्यस्थान समुद्र ही होता है। (शि.पु.रु. ५)

महाप्रलय काल में सभी के नष्ट हो जाने से यह ब्रह्माण्ड सूर्य-चन्द्र-ग्रह-स-तारागणों से रहित तमोमय ही था। उस समय दिनरात और अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल आदि तत्त्व—कुछ भी नहीं थे 'तमस्तदासीद्गहनं गभीरं वातस्य पारेऽभिराजते विभुः' (श्रीमद्भा. गजेन्द्रमोक्ष)।

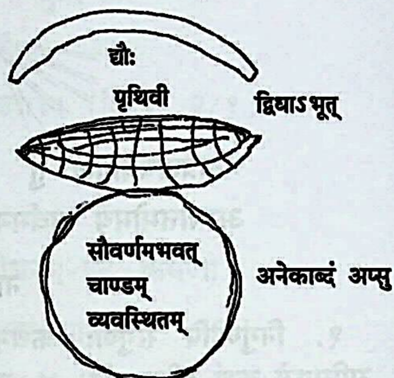
(शि.पु.रु. ५)

नारद के प्रश्न

ब्रह्मा जी से नारद जी के दस प्रश्न—१. भगवान् सदाशिव निर्गुण होने पर भी सगुण कैसे हुए? २. सृष्टि से पूर्व शिव किस स्वरूप से प्रतिष्ठित रहते है? ३. सृष्टि के मध्य में किस प्रकार क्रीडा करते हुए स्थित रहते है? ४. सृष्टि के अन्त में महादेव किस प्रकार निवास करते है? ५. कल्याणकारी शिव कैसे प्रसन्न होते हैं? ६. भगवान् शिव सन्तुष्ट होने पर भक्तों के लिए क्या फल प्रदान करते है? ७. वे आशुतोष अतिशीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं ऐसा सुना है? ८. भगवान् शिव का आविर्भाव कैसे होता है? ९. पार्वती जी का आविर्भाव एवं उनका विवाह कैसे हुआ? १०. उनके गार्हस्थ्य आश्रम की उत्कृष्ट लीलाओं का वर्णन?

अलिङ्गं लिङ्गतां प्राप्तं

ध्यानमार्गेप्यगोचरम्।



अस्य लिङ्गादभूद्बीजं,
अकारोविजिनःप्रभोः।
उकार योनौ निःक्षिप्तम्
उकाराख्यो हरियोनिः।।

अवर्द्धत समन्ततः

प्रधानपुरुषेश्वरः।
मकाराख्यो विभुर्वीजी,
ह्यकारो बीज उच्यते।

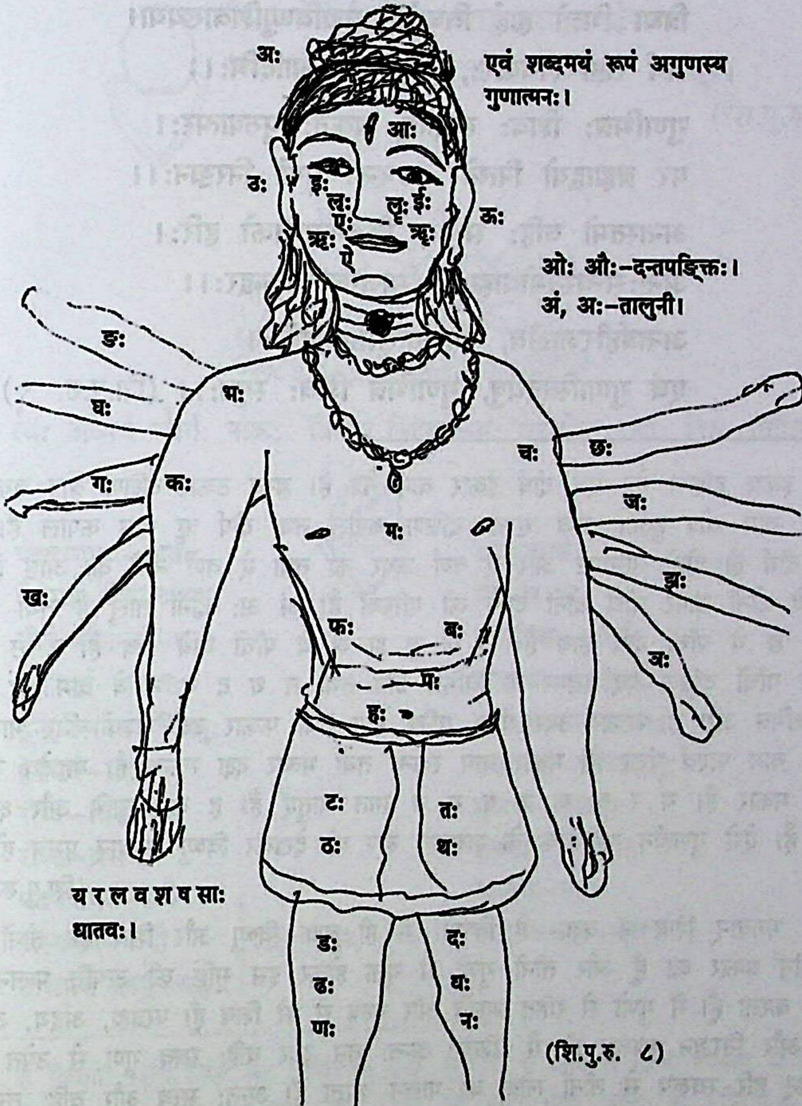
सर्गकर्ता
अकाराद्बीजकोण्डजः।
मकारान्नीलतोहितः।
उकाराद्धरिः मोहकः।



(शि.पु.रू. ८)

अलिङ्ग लिङ्गता को जो प्राप्त हुआ वह ध्यानमार्ग से भी दृष्टिगोचर नहीं होता है—१. उस प्रभु के लिङ्ग से अकार रूप बीज उत्पन्न हुआ। २. वह आकार रूप बीज उकार रूप योनि में पड़कर सब ओर से बढ़ने लगा। ३. उकार रूप प्रधान पुरुष ईश्वर तथा विष्णु की योनि (कारण) है। ४. यह मकार नित्य ही अनुग्रह करने वाला है। मकार ही विभु और बीजी है तथा अकार बीज है। ५. एकाक्षर उकार से भगवान् नीललोहित कहलाते हैं और उकार सृष्टि कर्ता है। उकार मोहने वाला है।

यह दिव्य अण्ड अनेकों वर्षों तक जल में स्थित रहा फिर हजार वर्ष के बाद भगवान् ने इसके दो भाग किये (द्विधाभूत) उसका एक कपाल सुवर्णमय था वह ऊपर जाकर (द्युलोक



में) स्थित हो गया वहीं द्युलोक हुआ। और नीचे का कपाल पञ्चतत्त्वात्मक पृथिवी हुयी और वह वृद्धि को प्राप्त हो गयी। (शि.पु.रु. ८)

भगवान् विष्णु पर सदाशिव प्रसन्न हुए और प्रसन्न होकर दिव्य वर्णमय रूप से स्थित हो गये। उन शब्दमय परमेश्वर का शिर अकार एवं दीर्घ अकार (आ) उनका ललाट है।

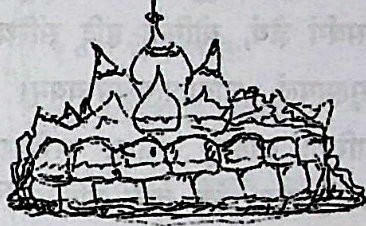
त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो!, ब्रह्मविष्णुशिवाख्यया।
सर्ग रक्षा लयकरः, त्रिगुणैरज आदिभिः।।
गुणभिन्नः शिवः साक्षात्, प्रकृतेः पुरुषात्परः।
परं ब्रह्माद्वयो नित्यो-, ऽनन्तः पूर्णो निरञ्जनः।।
अन्तस्तमो वहिः सत्वः, त्रिजगत्पालको हरिः।
अन्तःसत्त्वस्तमोवाह्य-, स्त्रिजगल्लयकृद्धरः।।
अन्तर्बहीरजाश्चैव, त्रिजगत्सृष्टिकृद्विधिः।
एवं गुणास्त्रिदेवेषु, गुणभिन्न शिवः स्मृतः।। (शि.पु.रु. ९)

ह्रस्व इकार दक्षिण नेत्र एवं दीर्घ ईकार वाम नेत्र है। ह्रस्व उकार दक्षिण श्रोत्र तथा दीर्घ ऊकार वाम श्रोत्र हुआ। ह्रस्व ऋकार दक्षिण कपोल तथा दीर्घ ॠ वाम कपोल है। ह्रस्व और दीर्घ लृ दोनों नासापुट और ए वर्ण ऊपर का तथा ऐ वर्ण नीचे का ओष्ट है। ओ औ ये दोनों ऊपर नीचे दोनों दातों की पक्तियाँ हैं! अं अः दोनों तालु हैं तथा क ख ग घ ङ ये पाँचों दायें हाथ हैं। च छ ज झ ञ ये पाँचों बायें हाथ हैं। ट ठ ड ढ ण ये पाँचों दक्षिण पद स्तम्भ के विभिन्न अंग तथा त थ द ध न ये वाम पद स्तम्भ के विभिन्न अंग हैं। पकार उदर पंजर सन्धि भाग तथा फकार दक्ष पार्श्व पंजर भाग एवं बकार वाम पार्श्व पंजर है। मकार वाम स्कन्ध तथा भकार दक्ष स्कन्ध है। महादेव जी का हृदय मकार है। य र ल व श ष स ये सात धातुएँ हैं। ह कार नाभि और क्ष कार प्राण है। ऐसे गुणहीन गुणात्मक के शब्दमय रूप को देखकर विष्णु भगवान् प्रसन्न हो गये।
(शि.पु.रू. ८)

भगवान् शिव ने कहा—हे विष्णों! मैं ही ब्रह्मा विष्णु और शिव इन तीनों नामों से तीन प्रकार का हूँ और तीनों गुणों से युक्त होकर इस सृष्टि की उत्पत्ति पालन और संहार करता हूँ। मैं गुणों से रहित प्रकृति और पुरुष से परे शिव हूँ। परब्रह्म, अद्वय, अनन्त, पूर्ण और निरञ्जन स्वरूप हूँ। मैं (शिव) अन्तः तम और वहिः सत्त्व गुण से उपेत होकर भगवान् हरि स्वरूप से तीनों लोक का पालन करता हूँ। अन्तः सत्त्व और वहिः तम गुण से उपेत होकर हर स्वरूप से तीनों लोकों का संहार करता हूँ। अन्तः और बहीः रजोगुणोपेत होकर ब्रह्मा स्वरूप से तीनों लोकों का सृजन करता हूँ। इस प्रकार मैं तीनों देवों में त्रिगुणोपेत हूँ और इन तीनों गुणों से रहित शिव स्वरूप हूँ अर्थात् जब त्रिगुणोपेत होता हूँ तो कार्यब्रह्म रूप से सृष्टि-पालन-संहार (ब्रह्मा-विष्णु और हर स्वरूप से) करता हूँ तथा त्रिगुण रहित स्वरूप से कारणब्रह्म निरञ्जन शिव हूँ। (शि.पु.रु. ९)



लिङ्ग वेदिर्महादेवी, लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः।
लयनाल्लिङ्गमित्युक्तं, तत्रैव निखिलं जगत्।।
(शि.पु.रु. ९)



स्वः अव्ययं स्वर्गः नाकः त्रिदिवं त्रिदशालयः सुरलोकः द्यौः दिवं त्रिविष्टपम्।



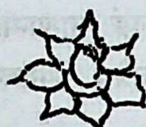
पद्मरागमयं–शक्रः
हेमस्य–वैश्रवणसुतः
पीतं मणिमयं–धर्मः
श्यामलं–वरुणः
इन्द्रनीलमयं–विष्णुः
हेममयं–ब्रह्मा
रौप्यं–विश्वेदेवाः
रौप्यं–वसवः
नवनीतमयं–देवी
भस्ममयं–योगी
दधिमयं लिङ्गं–यक्षाः } (शि.पु.रू. १२)

आकूटमयं
पार्थिवं च } अश्विनौ
स्फाटिकं–लक्ष्मी
ताम्रस्य–आदित्याः
मौक्तिकं–सोमराजः
वज्रलिङ्गं–विभावसुः
मृन्मयं–विप्रेन्द्राः
मृन्मयं–विप्रपत्न्यः
चान्दनं–मयः
प्रवालमयश्च–नागाः

हे विष्णो! शिव लिङ्ग का आधारभूत वेदी महादेवी है और मैं लिङ्ग स्वरूप में साक्षात् महेश्वर हूँ तथा त्रिलोकी का लय स्थान होने से लिङ्ग कहा जाता हूँ। (शि.पु.रु. ९)

ये स्वर्ग के दस नाम हैं—स्वः, अव्यय, स्वर्ग, नाक, त्रिदिव, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यौ, दिव और त्रिविष्टप।

पद्मरागमय लिङ्ग इन्द्र स्वरूप, हेममय वैश्रवण पुत्र स्वरूप, पीतमणिमय लिंग धर्म स्वरूप, श्यामल वर्ण लिंग वरुण स्वरूप, इन्द्रनीलमणिमय लिंग विष्णु स्वरूप, सुवर्णमयलिङ्ग

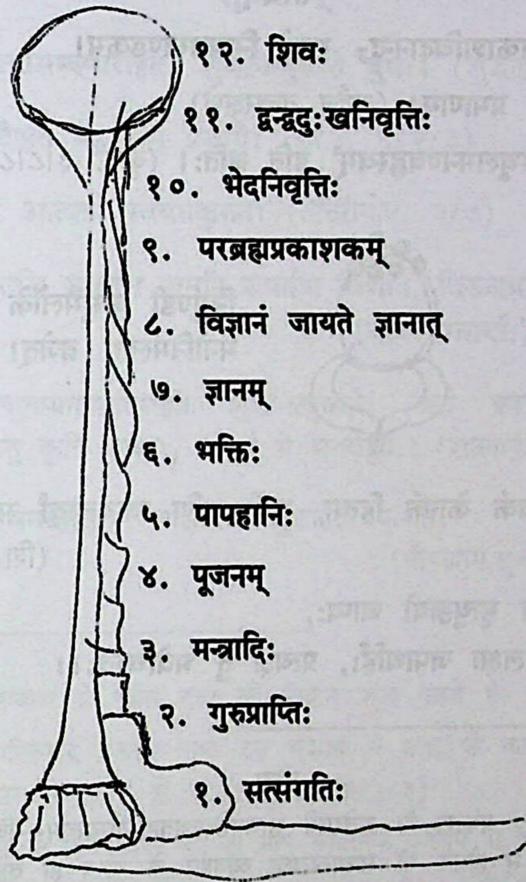


परानन्दकरं लिङ्गं, विशुद्धं शिवमक्षरम्।
निष्कलं सर्वगं ज्ञेयं, योगिनां हृदि संस्थितम्।।
ज्ञानिनां सूक्ष्ममलं, भावात्प्रत्यक्षमव्ययम्। (शि.पु.रु. १२)
हृदि संसारिणः साक्षत्, सकलः परमेश्वरः।
इति विज्ञानयुक्तस्य, किं तस्य प्रतिमादिभिः।।
इति विज्ञानहीनस्य, प्रतिमाकल्पनाशुभा।
निर्गुणप्राप्तये नृणां, प्रतिमालम्बनं स्मृतम्।। (शि.पु.रु. १२)
तावच्च प्रतिमा पूज्या, यावद्विज्ञानसंभवः।
ज्ञानाभावे न पूज्येत, पतनं तस्य निश्चितम्।। (शि.पु.रु. १२)

ब्रह्मा, रौप्यमय लिङ्ग विश्वेदेव और वसुगण स्वरूप है। इसी प्रकार नवनीतमय लिंग-देवी, भस्ममय-योगी और दधिमय लिंग यक्षगण के स्वरूप हैं। आकूटमय और मृन्मय लिंग दोनों अश्विनी कुमार, स्फटिकमय-लक्ष्मी, ताम्रमय-आदित्यगण, मुक्तामय-सोम (चन्द्रमा), वज्रलिंग-विभावसु, मृन्मय-विप्रेन्द्र अर्थात् वशिष्ठ और उनकी पत्नी अरून्धती, चन्दनमय और प्रवालमय लिंग नागगण स्वरूप हैं। (शि.पु.रु. १२)

हे ब्रह्मन्! मेरा लिङ्ग परमानन्द को प्रदान करने वाला साक्षात् शिव स्वरूप और विशुद्ध अक्षर ब्रह्म है। यह लिङ्ग निष्कल-सर्वव्यापी होने से सदा योगियों के हृदय पुण्डरीक में स्थित रहता है, जो सूक्ष्म होने के कारण सर्वगम्य नहीं है। ज्ञानियों के उत्कट भाव के प्रभाव से यह अव्यक्त स्वरूप लिङ्ग प्रत्यक्ष होते हैं। (शि.पु.रू. १२)

संसारियों के हृदय पद्म में कला के सहित लिङ्ग स्वरूप परमेश्वर का निवास है, ऐसा ज्ञान जिसे दृढ़ हो गया हो वह प्रतिमा की पूजा से कोई अपेक्षा नहीं रहता। किन्तु जिसे इस प्रकार का ज्ञान नहीं है उसके लिए प्रतिमा की कल्पना की गयी है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को प्रतिमा का आलम्बन आवश्यक है, किन्तु प्रतिमा का पूजन तव तक करना चाहिए जब तक ज्ञान का उदय न हो जाय, किन्तु जो बिना ज्ञान के प्रतिमा पूजन करते हैं उनका पतन आवश्यम्भावी है। (शि.पु.रु. १२)



(शि.पु.रु. १२)

सत्कर्मों का मूल सद्गुण तथा उसका भी मूल सत्सङ्गति है। सत्सङ्गति से उत्तमगुरु की प्राप्ति होती है। उत्तम गुरु से उत्तम मन्त्रादि की विधि की प्राप्ति होती है तथा विधिपूर्वक मन्त्रज्ञान से देव पूजन की योग्यता प्राप्त होती है। पूजन से पाप हानि होती है। पाप क्षय होने पर भक्ति की प्राप्ति हो जाती है और भक्ति से ज्ञान की प्राप्ति होकर उस ज्ञान से परमात्म विज्ञान की प्राप्ति होती है। परमात्म विज्ञान से परब्रह्म के प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है और उससे भेद निवृत्ति होती है। उसके बाद सर्व द्वन्द्व दुःखादि की निवृत्ति हो जाने पर जीव शिव स्वरूप हो जाता है। यहाँ शिवोपासना के द्वादश सोपान कहे गये हैं जो साधकों को क्रमोपासना ज्ञान को प्रकट करता है। (शि.पु.रू. १२)

तत्त्वम्

स्वप्रकाशचिदानन्द; सत्यं नित्यमखण्डकम्।

अत्र प्रमाणम्। (अद्वैत तत्त्वरक्षणे)

'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इति श्रुतिः। (बृ.उ. ३।८।८)



निर्गुण्डी कुसुमैर्लोके
मनोनिर्मलतां व्रजेत्।

चम्वकं केतकं हित्वा, सर्वपुष्पाणि त्वन्यत्सर्वां समर्पयेत्।
(शि.पु.रु. १४/३६)

तथा मृत्युञ्जयो जाप्यः,
पञ्चलक्षा जपार्थार्हः, प्रत्यक्षं तु भवेच्छिवः।।

तत्त्व

आत्मतत्त्व स्वयं प्रकाश है। अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्त्वम्—किसी भी इन्द्रियादि प्रमाणों से जो वेद्य न होकर भी साक्षात्प्रत्यक्ष व्यवहार के योग्य हो वह स्वयं प्रकाश है तथा सत् चित् आनन्द रूप त्रैकालावाध्यअखण्ड एक रस है।

स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम् यह वृहदारण्यक श्रुति है। जो स्थूल से अन्य है एवं जो अणु नहीं ह्रस्व भी नहीं है तथा दीर्घ भी नहीं। इस प्रकार चारों द्रव्य परिमाण से भिन्न है तथा गुण भी नहीं है। (वृ.उ. ३/८/८)

निर्गुण्डी के पुष्पों से भगवान् शिव के लिङ्ग की पूजा करने से मन निर्मल हो जाता है।

चम्पा और केतकी को छोड़कर सभी पुष्पों से भगवान् शिव की पूजा विहित है और इन पुष्पों से पूजा करने पर भी मन निर्मल होता है। (शि.पु.रु. १४/३६)

कामनाओं की प्राप्ति के लिए मृत्युञ्जय का जप करना चाहिए। पाँच लाख जप करने में जो समर्थ होता है उसे शिव प्रत्यक्ष हो जाते हैं। (शि.पु.रू. १४/३६)

शुद्धाद्वैतम्

मायासम्बन्धरहितं, शुद्धमित्युच्यते बुधैः। (शुद्धाद्वैतमार्तण्डे)

तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायै। (छा.उ. ६/२/३)

स आत्मानं स्वयमकुरुत। (तैत्तिरीयोप. २/७)

एतद्धि सर्वाणि नामनि रूपाणि विभर्ति, विरुद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मणः।
(बल्लभाचार्याः) (छा.उ. १/६१)

प्रकृतिपरमाणुमायाहष्टादिरहितं शुद्धमित्युच्यते। अयं प्रपञ्चः भगवत्कार्यः, परमकाष्ठापन्न वस्तु कृति साध्यः, तादृशं मे भगवद्रूपः। (शास्त्रार्थप्रकरणनिबन्धः २३)

भेदनाशकं भगवद्विज्ञानं, साक्षत्कारे शुद्धाद्वैतं स्फुरति।
(श्रीमद्भाग.सुबो.टी. १०/२/३५)

माया के सम्बन्ध से रहित तत्त्व को विद्वान् शुद्ध कहते है। (शुद्धाद्वैत मार्तण्ड)

एकमेवाद्वतीयमित्यादि प्रकरण प्राप्त उस सद्ब्रह्म ने प्रजा की कामन से ईक्षण किया कि मैं अनेक प्रकार से उत्पन्न हो जाऊँ। (छा.उ. ६/२/३)

उस परमात्मा ने स्वयं अपने को ही नाम रूपात्मक जगद्रूप से रचा। (तै.उ. २/७)

ये सभी नाम और रूप से प्रसिद्ध प्रपञ्च जगत् ब्रह्म के धर्म के विरुद्ध है और इसका आश्रय माया है। (छा.उ. १/६१) (बल्लभाचार्य)

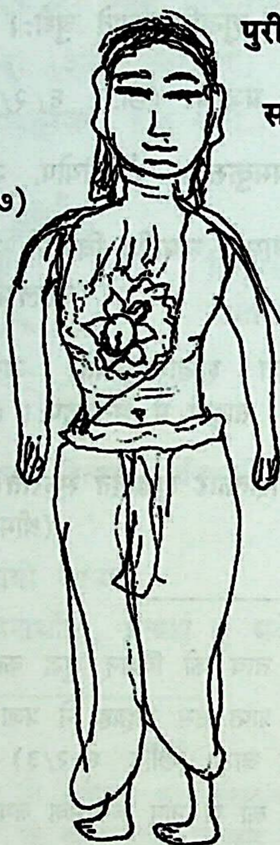
प्रकृति-परमाणु-माया और मृष्टादि से रहित को आचार्य वल्लभ शुद्ध कहते हैं। वे इस संसार प्रपञ्च को भगवत्कार्य मानते हैं। इसलिए भगवान् को प्रपञ्च का कर्त्ता कहतेहैं। जैसे काष्ठापन्न वस्तु (कुर्सी आदि) कृति साध्य होता है और कृतित्व कर्त्तागत धर्म है इसलिए प्रपञ्च रूप कार्य के कृतित्व वाले कर्त्ता भगवान् कृष्ण हैं। वे कहते हैं कि ऐसा ही हमारे भगवान् का स्वरूप है। (शास्त्रार्थप्रकरणनिबन्धः २३)

नाशक भगवान् का विज्ञान भेद का है और भगवान् के साक्षात् दर्शन से शुद्धाद्वैत का स्फुरण होता है। (श्रीमद्भाग.सुबो.टी. १०/२/३५)

'नाडीभ्यः प्रत्यवसृत्यपुरीतति शेते, पुरीततः प्रत्यवसृत्य-

सतिशेते'

तदभावो नाडीषु-
तच्छ्रुते रात्मनि च।।
(ब्र.सू. ३/२/७)



सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे।।

स्वप्नावस्था के पश्चात् सुषुप्ति का वर्णन—उस समय स्वप्नमय जीव में लोभवृत्ति हो जाती है। अतएव बाह्य दोष से रहित कार्य सम्पन्न होता है और स्वप्न नहीं देखता है। इस सुषुप्ति में यह जीव सूर्य के तेज से पूर्ण नाड़ियों में प्रविष्ट होता है। उन नाड़ियों के द्वारा गमन करके पुरीतत नाड़ी में सोता है। जिस समय सोता हुआ स्वप्न नहीं देखता उस समय नाड़ियों में ही रहता है। फिर इसका प्राण के साथ ऐक्य होता है तो यह हृदय के अन्तराकाश में सोता है उस समय हे सोम्य! यह सत् के साथ मिलकर सम्पन्न हो जाता है। (अपने में लीन हो जाता है) इस प्रकार आत्मा के साथ मिलकर बाहर की किसी वस्तु को नहीं जानता है। क्योंकि वह सत् में सम्पन्न हो जाता है। (ब्रह्मसूत्र ३/२/७)



कैलाशनगरं रम्यं,
सर्वोपरि विराजितम्

वैकुण्ठ नगरम्

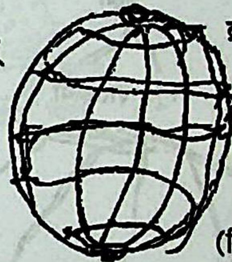


एतयो र्नाशो न।

वहिः

सत्यं पदम्

ब्रह्मात्



ब्रह्माण्डस्य नाशे

(शि.पु.रु. १५)

सनकाद्याः सुता मे हि, मानसा ब्रह्म संमिताः।
महावैराग्यसम्पन्नाः, अभवन्पञ्च सुव्रताः।।
मयाऽऽज्ञप्ता अपि च ते, संसारविमुखा बुधाः।
शिवध्यानैक मनसो, न सृष्टौ चक्रिरे मतिम्।। (शि.पु.रु. १६)

हे नारद! कैलास नामक रम्यनगर सबसे ऊपर सुशोभित है इसे स्वयं पञ्चमुख शंकर ने अपने निवास के लिए ग्रहण किया।

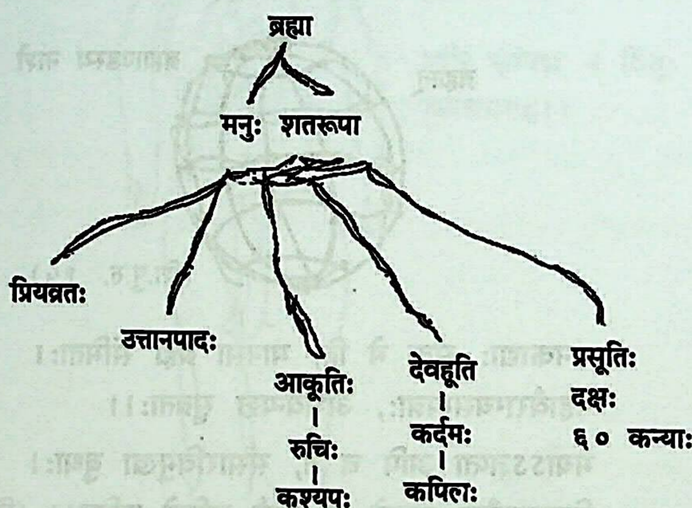
हे देवर्षे! प्रलय काल में ब्रह्माण्ड का नाश होने पर भी इस कैलाश तथा वैकुण्ठ का नाश नहीं होता है।

हे मुनिगणों मैं श्री महादेव जी की आज्ञा से उस सत्यपद से वहिभूत होकर स्थित हो गया और सृष्टि करने लगा। प्रलय काल में इस ब्रह्माण्ड के नाश हो जाने पर पुनः ब्रह्म से ही इसकी उत्पत्ति होती है।

ये सनकादिगण मेरे मानस पुत्र हैं जो ब्रह्मज्ञानी हैं। ये पाँचों सुब्रतधारी एवं महावैराग्य सम्पन्न हैं ये मेरे द्वारा प्रेरित होने पर भी संसार से विमुख रहते हैं तथा सर्वदा शिवध्यान में मग्न रहते हुए सृष्टि की इच्छा नहीं करते हैं। (शि.पु.रु. १६)



अविमुक्तं स्थानम्।
भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यतः।
(शि.पु.रु. १६)



दोनों भृकुटियों और नासिका इन तीनों के मध्य का जो स्थान है वह अविमुक्त काशी है और यहाँ ध्यान करने से मुक्ति प्राप्त होती है। (शि.पु.रू. १६)

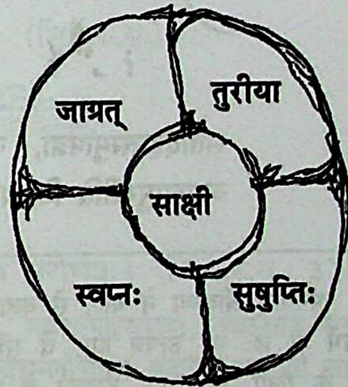
हे मुने! मेरे आधे शरीर से नारी और आधे से पुरुष रूप में जो प्रकट हुआ वह मनु और शतरूपा हुयी। मनु और शतरूपा से प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्यायें भी हुई।

इन तीनों का विवाह इस प्रकार हुआ—उन तीन कन्याओं से जो सन्ततियाँ (वंश) हुई वह इस प्रकार है—आकूति से रूचि का विवाह हुआ और उससे कश्यप पुत्र हुए। देवहूति का विवाह कर्दम से हुआ और उसके कपिल पुत्र हुए। प्रसूति से दक्ष प्रजापति का विवाह हुआ और उससे ६० (साठ) कन्यायें हुई। (शि.पु.रु. १६)

परंब्रह्म शिवः प्रोक्तः
तस्य रूपास्त्रयः
ब्रह्मा विष्णुः रुद्रः गुणभेदानुरूपतः।। (शि.पु.रु. १६/४८)



(पञ्चदशी. १२/६०)



शिवः
निर्द्वन्द्वःक्रीडति सदा, निर्विकारी महाप्रभुः। (शि.पु.रु.स. १/४)

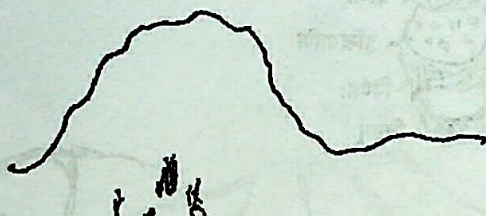
शिव परब्रह्म हैं और उन्हीं के गुण भेद के अनुसार ब्रह्मा विष्णु तथा रूद्र ये तीन देवता हुए।

वित्त (धन) से पुत्र प्रिय होता है, पुत्र से पिण्ड (अपना देह) प्रिय होता है उससे भी आँख आदि इन्द्रियाँ प्रिय होती है, इन्द्रियों से भी अपना प्राण प्रिय होता है तथा प्राण से भी स्वात्मा प्रिय होता है। (पंचदशी १२/६०)

ब्रह्मा-विष्णु आदि देवताओं के सेव्य, सज्जनों की एक मात्र गति, वे योगीश्वर सदाशिव निर्विकार ब्रह्म कैलास में निर्द्वन्द्व होकर क्रीडा करते है। (शि.पु.रू.सं.१/४)

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय इन सभी अवस्थाओं का आत्मा साक्षी है।

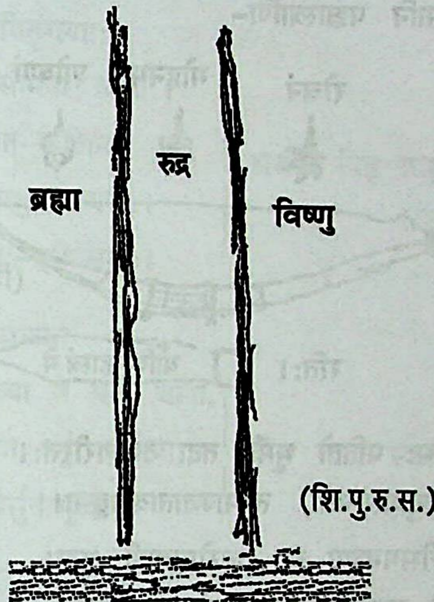
आसन्मरीचेः षट्पुत्रा, ऊणायां प्रथमेऽन्तरे।
दृष्ट्वा कं जहसुर्वीक्ष्य, सुतां यमितुमुद्यतम्।।
तेनासुरीमगन्योनिं, अधुनावद्यकर्मणा।
हिरण्यकशिपोर्जाता, नीतास्ते योगमायया।।
देवक्या उदरे जाता, राजन्कंसविहिंसिताः।
स्मरोद्गीथः परिष्वंगः, पतङ्गः क्षुद्रभृद् घृणी।। (श्रीमद्भा. १०/८५)



सतीदेहात्समुत्पन्ना, ज्वालालोकसुखावहा।
ज्वालामुखीति विख्याता, सर्वकामफलप्रदा।। (शि.पु.रू.सं. १/४२)

भगवान् श्रीकृष्ण ने बलि से कहा कि स्वायम्भुव मन्वन्तर में प्रजापति की पत्नी ऊर्णा के गर्भ से छः पुत्र उत्पन्न हुए, वे सभी देवता थे। ब्रह्मा जी को अपनी पुत्री से समागम करने के लिए उद्यत हुए देखकर वे हँसने लगे। यह देखकर ब्रह्मा जी ने इन्हें शाप दे दिया। वे शाप से असुर योनि में हिरण्यकशिपु के पुत्र हुए, तब उनको योगमाया ने वहाँ से लाकर देवकी के गर्भ में रख दिया और उत्पन्न होते ही इन्हें कंस ने मार डाला। हे दैत्यराज वले! माता देवकी उन पुत्रों के लिए शोकातुर हैं और तुम्हारे पास है। अतः हम आपकी माता का शोक दूर करने के लिए यहाँ से ब्रह्मा के पास ले जायेंगे। इसके बाद वे छहों पुत्र ब्रह्मा जी के शाप से मुक्त हो जायेगें। इनके छः पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं—स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत् और घृणी। (श्रीमद्भा. १०/८५)

भगवान् शिव की प्रिया और अर्धाङ्गिनी सती के देह से जो तीनों लोकों को सुख प्रदान करने वाली ज्वाला (आग की लपट) उत्पन्न हुई वही ज्वाला देवी के नाम से विख्यात हुई। उस ज्वाला देवी की आराधना से सभी काम्य फल प्राप्त होते हैं। अर्थात् वह ज्वाला देवी सभी इच्छित फल को प्रदान करने वाली हैं। (शि.पु.रू.सं. १/४२)



मन्मथः।

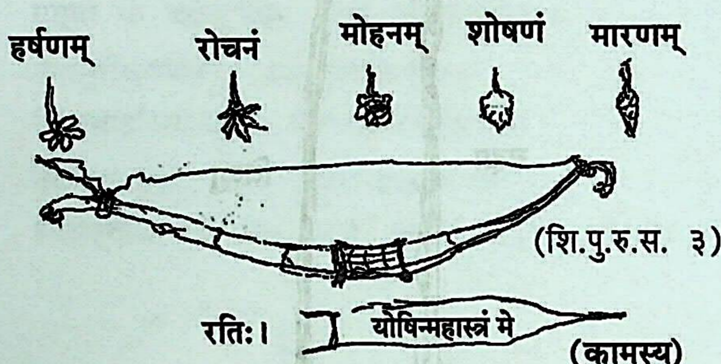
यस्मात्प्रमथसे तत्त्वं, ख्यातो भव मनोभवः। (शि.पु.रु.स. ३)

तस्मान्मन्मथ नामा त्वम्, कामरूपत्वात्कामः, मदनान्मदनाख्यः, स्थानानि सर्वत्र सर्वव्यापी। दर्पात्कन्दर्पः, एषा कन्यका चारु रूपा ब्रह्ममनोभवा। ब्रह्मणो ध्यायतो जाता वराङ्गना सन्ध्या। स्त्री–मदनैधिनी।

उस समय में श्रीशिव के दोनों पार्श्वों से ब्रह्मा विष्णु उत्पन्न हुए। ऋषियों ने कहा कामदेव तुमने उत्पन्न होते ही हम लोगों के तथा ब्रह्मा जी के मन को मथ डाला इसलिए तुम्हारा नाम मनोभव होगा। (शि.पु.रू.सं.)

मन से उत्पन्न होने के कारण तुम्हारा नाम मन्मथ होगा। कामरूप तथा सर्वाधिक सुन्दर होने के कारण तुम्हारा नाम काम होगा। तुम सबको मदोन्मत्त करोगे अतः तुम्हारा नाम मदन होगा। सर्वत्र तुम्हारा स्थान होने से तुम सर्वव्यापी होओगे। अहंकार के कारण तुम्हारा नाम कन्दर्प होगा। ब्रह्मा जी के हृदय में ध्यान से उत्पन्न हुयी यह परम सुन्दरी कन्या सन्ध्या के नाम से प्रसिद्ध होगी। यह श्रेष्ठ वराङ्गना स्त्री रूप से काम वर्धिनी भी होगी। (शि.पु.रु.सं. ३)

कौसुमानि पञ्चास्त्राणि–



धर्माम्भः पतितो भूमौ, तदा दक्षशरीरतः।
समस्तगुणसम्पन्ना, तस्माज्जातावराङ्गना।।
तन्वङ्गीसममध्या च, तनुरोमावली श्रुता।
मृद्वङ्गी चारुदशना, नवकांचन सुप्रभा।।
सर्वावयवरम्या च, पूर्णचन्द्राननाम्बुजा।
नाम्ना रतिरिति ख्याता, मुनीनामपिमोहिनी।।



कामदेव अपने पुष्प के वाणों को लेकर ब्रह्मा जी के पास जाकर और छिपकर यह सोचने लगा कि—हर्षण, रोचन, मोहन, शोषण, मारण ये मेरे पाँच अस्त्र मुनियों को मोहित करने वाले हैं, ऐसा ब्रह्मा जी का आदेश (वरदान) है, तो सर्वप्रथम ब्रह्मा जी के सामने ही मुनियों पर प्रयोग कर इसकी जाँच क्यों न कर ली जाय? कामदेव ने पुनः सोचा योषित् (स्त्री) ही मेरा महा अस्त्र है।

उसी समय दक्ष के शरीर से पसीना निकल कर पृथिवी पर गिरा। उससे समस्त गुण सम्पन्न एक परम मनोहर स्त्री उत्पन्न हुयी उसका शरीर पतला था। कटि प्रदेश उठा हुआ था। उसके शरीर र सूक्ष्म और सुन्दर रोमावली की रेखाएँ थी। उसका शरीर मृदु (कोमल) तथा उनकी दाँतों की पंक्तियाँ तपे सोने के समान चमक वाली थी। उसके शरीर के अवयव मनोहर थे, उसके कमलमुख चन्द्रमा जैसा था। जो रति के नाम से विख्यात हुई तथा जो मुनियों को भी मोहित करने वाली हुई। (शि.पु.रू.सं. ३)

पितृगणाः

क्रतोः–सोमपा. जाताः।	सन्ध्या पितृ प्रसूः
वशिष्ठात्–कलिनः।	(शि.पु.रु.सं. ३)
पुलस्त्यात्–आज्यपाः।	
अङ्गिरसः–हविष्मन्तः।	

सन्ध्या

सा सन्ध्या मे मनो जाता,	सैव जाता स्वरुन्धती
तपस्तप्त्वा तनुं त्यक्त्वा,	(शि.पु.रु.स. ५)
मेधातिथेर्सुताभूत्वा,	

पितृगण

इस रति को देखकर मरीचि आदि छः ऋषि तो धैर्य युक्त रहे, किन्तु क्रतु, वशिष्ठ, पुलस्त्य तथा अङ्गिरा अपनी इन्द्रियों के दमन में असमर्थ रहे। इन चार ऋषियों के सन्ध्या से पितृगणों की उत्पत्ति हुई। जो इस प्रकार हैं—क्रतु से सोमपा नाम के पितृगण उत्पन्न हुए। वशिष्ठ से कालिन नाम के पितृगण उत्पन्न हुए। पुलस्त्य से आज्यपा नामक पितृगण उत्पन्न हुए। अङ्गिरा से हविष्मान् नामक पितृगण उत्पन्न हुए।

सन्ध्या पितरों को उत्पन्न करने के कारण पितृसूः (पितृस्रावी) कहलाती है।

(शि.पु.रू.सं. ३)

सन्ध्या

ब्रह्मा जी बोले—नारद तुम सन्ध्या का चरित्र सुनो। इसके सुनने से स्त्रियाँ पतिव्रता होती है। वह सन्ध्या पूर्वकाल में मेरे मन से उत्पन्न हुयी तथा वहीं तप करके शरीर त्यागने पर मेधातिथि की पुत्री हुई और फिर अरुन्धती हुयी।

ब्रह्मा जी कहने लगे कि—इस प्रकार कामदेव की बातें सुनकर दक्ष प्रजापति और हम विचार करने लगे कि किस प्रकार स्त्री से शिव को मोहित किया जाय। इस प्रकार वशिष्ठ जी चिन्तामग्न हो सन्ध्या को तपस्या की सारी क्रिया विधि बताकर अर्न्तध्यान हो गये। (शि.पु.रू.सं. ५)

वशिष्ठः सन्ध्यायै।

परमं यो महत्तेजः, परमं यो महत्तपः।
परमः परमाराध्यः, शम्भु र्मनसि ध्यायताम्।। (शि.पु.रु.स. ५)

मन्त्रेणनेन—

"ॐ नमः शंकरायोम्"।
मौन तपस्या। ब्रह्मचर्यफलप्रदा।
स्नानं मौनेन कर्तव्यं, मौनेन हर पूजनम्।।

वसन्तः

चिन्ताविष्टस्य मे, निःश्वासो विनिःसृतः।
तस्माद्वसन्तः संजातः, पुष्पव्रातविभूषितः।। (शि.पु.रु.स. ८)

नारदः

नारद! त्वं मनःशम्भोः, लोकानन्यचरो मुने!।
निर्विकारोमहेशान-, मनोवृत्तिकरः सदा।। (शि.पु.रु.स. १३)

वशिष्ठ सन्ध्या सम्वाद

सन्ध्या द्वारा तपस्या की विधि पूँछने पर वशिष्ठ जी ने कहा—हे देवि! जो महान् तेज स्वरूप है तथा जो महान् तप स्वरूप हैं, एवं जो सबका सर्वतो भावेन आराध्य हैं, उस परमेश्वर सदाशिव का मन में ध्यान करों। (शि.पु.रू.सं. ५)

हे सुमुखि! तुम मेरे बताये हुए इस 'ॐ नमः शंकराय ॐ' मन्त्र से सदाशिव का ध्यान करो। इससे तुम्हारी सभी इच्छायें पूर्ण हो जायेगी। इसमें सन्देह मत करो। इस मन्त्र से मौन होकर तपस्या प्रारम्भ करों जैसा कि तुमको बता रहा हूँ। मौन होकर स्नान तथा मौन होकर सदाशिव का पूजन करना चाहिए।

वसन्त

ब्रह्मा जी बोले कि—इस प्रकार चिन्ता मग्न होने पर जो मेरा निःश्वास निकला उससे पुष्प समूहों से विभूषित वसन्त उत्पन्न हुआ जो सुगन्धित पुष्पों से अलंकृत तपस्वी लग रहा था। (शि.पु.रू.सं. ८)

नारद

ब्रह्मा जी बोले—हे नारद! तुम शिव के मन हो और लोक में पर्यटन करते रहते हो। तुम नित्य निर्विकार (निरञ्जन) महेशान (शिव) के चित्तवृत्ति वाले हो अर्थात् उस निर्विकार महेशान शिव को निरन्तर हृदय में ध्यान करते रहते हो। (शि.पु.रू.सं. १३)

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य, यो गृहात्प्रव्रजेत्पुमान्।
मातरं पितरं त्यक्त्वा, मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः।। (शि.पु.रु.स. १३)

६० दक्षकन्याः

१० धर्माय, १३ कश्यपाय, २७ इन्दवे, २ भू., २ अङ्गिरसे, २ कृशश्वाय, २ ताक्ष्र्याय, १ शिवाय।



१. पिङ्गला
२. इडा
३. सुषुम्ना
४. हस्तिजिह्वा
५. गांधारी
६. पूषा
७. यशस्विनी
८. अलम्बुषा
९. कुहू
१०. शाङ्खिनी

तीनों ऋणों से मुक्त हुए विना माता-पिता को छोड़कर जो मोक्ष की इच्छा से निवृत्ति मार्ग में जाता है उसका अधः पतन होता है। (शि.पु.रू.सं. १३)

दक्ष की ६० कन्याएँ

दक्ष की ६० कन्याएँ थीं पूर्व में कहा जा चुका है। उनमें १० कन्याएँ दक्ष ने यथाविधि धर्म को दी। १३ कन्याएँ कश्यप ऋषि के लिए दी। २७ कन्याएँ चन्द्रमा को दी। २ कन्याएँ भूतों को दी। २ कन्याएँ अङ्गिरा ऋषि को दी। २ कन्याएँ कृशाश्व को दी। २ कन्याएँ ताक्ष्र्य (गरुड़) को दी और १ कन्या भगवान् शिव को दी। अर्थात् उन-उन विवाह की।

प्रमुख १० नाड़ी स्थान

यहाँ दश प्रमुख नाड़ियों को प्रतीक चित्राङ्कन के माध्यम से बताया जा रहा है अर्थात् किस नाड़ी का कहाँ स्थान है यह सर्व सामान्य साधक समझ जाए इसलिए उसे कहा जा

वास्तुमन्त्रः

वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् तवावेशो अनवीमो भवानः।
यत्वेमहे प्रतितन्नो जुषस्व शन्नो द्विपदे शं चतुष्पदे।। (ऋ.वे. ७/१४/१)

यावद्वर्णविभागोऽस्ति, यावद्वेदः प्रवर्तते।
संन्यासं चाग्निहोत्रं च, तावत्कुर्यात्कलौ युगे।। (देवलस्मृ.)

रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशन परिमितान् मस्तके विंशती द्वे
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलं कृते द्वादश द्वादशैव।
वाह्वोरिन्दोः कलाभि र्नयन युगकृते एकमेकं शिखायां
वक्षस्यष्टाधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः।। (पदार्थादर्शः)

रहा है—नाक के स्वास नली के वाम भाग में पिङ्गला और दाहिने भाग में इडा नाड़ी का स्थान है। नासाग्र अधोभाग और ऊर्ध्व (ऊपर) ओष्ट के ऊपर भाग में अर्थात् पिङ्गला और इडा के मध्य भाग में सुषुम्ना स्थान है। दाहिनी आँख के भौंह के ऊपर परन्तु नेत्रान्त के वाम भाग में हस्तिजिह्वा का स्थान तथा दाहिना भौंह के ऊपर परन्तु दक्षिण नेत्रान्त में गान्धारी का स्थान है। इसे इस प्रकार भी जानें कि—नाक के मूल के ठीक ऊपर बीचो-बीच के बायें में हस्तिजिह्वा और दक्ष भाग में गान्धारी का स्थान है। पूषा नामक नाड़ी बायें कान के मूल भाग में तथा यशस्विनी दाहिने कान के मूलस्थान में स्थित है। अलम्बुषा नामक नाड़ी कण्ठ के अधोमूल तथा वक्षस्थल के ऊपर (गड्ढे जैसा स्थान) में है। कुहू और शंखिनी नामक नाड़ी गुदा के ऊपर तथा ढ़ोढ़ी के नीच अण्डकोश के समीप में स्थित है अर्थात् गुहय् देश के दाहिने शङ्खिनी और बायें में कुहू नाड़ी का स्थान है।

वास्तुमन्त्र

हे वास्तोस्पते हम लोगों में आपक आवास होने के कारण आप से हम ज्ञात ही हैं परन्तु आपको हम प्राप्त करने के लिए आपकी अर्चना पूजा करते हैं। आप हमारे द्विपद मानवों और चुतष्पद पशुओं को मंगल से पूर्ण कर दो अर्थात् सुखी कर दो।

(ऋ.वे. ७/१४/१)

जब तक वर्ण व्यवस्था का विभाजन विद्यमान है तथा जब तक वेदों का प्रवर्तन है, तब तक सन्यास तथा अग्निहोत्र कर्म का आचरण कलियुग में करते रहना चाहिए।

(देवलस्मृ.)

रूद्राक्ष धारण स्थान

कण्ठ में ३२ रूद्राक्ष धारण करे, मस्तक में ४० धारणा करें। दोनों कानों में छः-छः रूद्राक्ष धारण करें तथा दोनों हाथों में १२-१२ रूद्राक्ष धारण करें। इसी प्रकार दोनो भुजाओं में १६-१६

रुद्रसंख्या शतं धृत्वा रुद्ररूपो भवेन्नरः। (शि.पु.वि. २५)

शतार्धेन युतैः पञ्चशतै वैं मुकुटं मतम्।

त्रिभिःशतैः षष्ठियुतैः, रुद्राक्षैरूपवीतकम्।।

१४ मुखानां क्रमाद्धारण मन्त्राः—

१३, १०, १४ ९

१ ॐ ह्रीं नमः, २. ॐ नमः, ३. ॐ क्लीं नमः, ६ ॐ ह्रीं हुं नमः

४,५ ७-८, ॐ हुं नमः, १२. ॐ क्रीं क्षौं रौं नमः। ११. ॐ ह्रीं हुं नमः।

अष्टांग बुद्धिः सर्वान्दुःखान्दूरयति।

कमठः—मैत्रेयः।

शुद्धभावना शुद्धं द्रव्यं शुद्धं शरीरं-उत्तमोपासना। अशुद्धं-मनः कर्म वाणी-मध्यमा।

रूद्राक्ष धारण करें। दोनों आँखों के लिए एक, शिखा में एक और वक्षस्थल में १०८ रुद्राक्ष धारण करें। इस विधि से रुद्राक्ष धारण करने से प्राणी स्वयं शिव हो जाता है। (पदार्थादर्श)

किन्तु शिवपुराण में इसे इस प्रकार कहा है कि—ग्यारह सौ रुद्राक्ष धारण करने वाला स्वयं रुद्र हो जाता है। (शि.पु.वि. २५)

जो साढ़े पाँच सौ रुद्राक्षों का भक्ति पूर्वक मुकुट बनाकर धारण करता है वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ होता है। तथा जो भक्त तीन सौ साठ रुद्राक्षों की तीन लड़ी का यज्ञोपवीत बनाकर धारण करता है वह शिव समान स्तुति के योग्य हो जाता है।

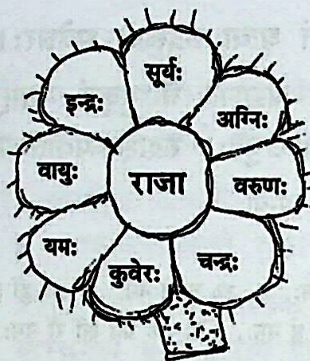
१४ मुख रुद्राक्ष धारण मन्त्र

एक से चौदह मुख के रुद्राक्ष के धारण मन्त्र क्रमशः ये है—एक मुखी का 'ॐ ह्रीं नमः', दो मुखी का 'ॐ नमः', तीन मुखी का 'ॐ क्लीं नमः', चार मुखी का 'ॐ ह्रीं नमः', पाँच मुखी का 'ॐ ह्रीं नमः', छः मुखी का 'ॐ ह्रीं हुं नमः', सात मुखी का 'ॐ हुँ नमः', आठ मुखी का 'ॐ हुँ नमः', नौ मुखी का 'ॐ ह्रीं हुं नमः', दस मुखी का 'ॐ ह्रीं नमः', ग्यारह मुखी का 'ॐ ह्रीं हुं नमः', बारह मुखी का 'ॐ क्रीं क्षौं रौं नमः', तेरह मुखी का 'ॐ ह्रीं नमः', चौदह मुखी 'का ॐ नमः'। (शि.पु.वि. २५)

योग के अष्टाङ्गों का ज्ञान व अभ्यास सभी दुःखों को दूर करता है।

कमठ-मैत्रेय

शुद्धभावना, शुद्ध द्रव्य और शुद्ध शरीर से उत्तम उपासना सम्पन्न होती है और अशुद्ध मन-कर्म और वाणी से की गयी उपासना मध्यम श्रेणी की होती है।



अराजके हि लोकेस्मिन्, सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य, राजानमसृजत्प्रभुः।।३।।
इन्द्रानिलयमार्काणां, अग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्ते शयोश्चैव, मात्रा निर्हृत्य शास्वती।।४।। (मनु. ७)



अनन्तं पूजयेद्यस्तु, मध्याह्ने सुसमाहितः।
अनन्तां लभते सिद्धिं, चक्रपाणिप्रसादतः।।
अनन्तमित्यहं पार्थ?, मम रूपं निबोधय।
आदित्यादि ग्रहात्मा यः, काल इत्यपि पठ्यते।।

अच्छे राजा के अभाव में इस लोक में प्रजा चारों ओर से भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगती है। अतः इन सब की रक्षा के लिए जगन्नियन्ता प्रभु ने राजा को बनाया। इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ देवताओं के शाश्वत अंश को लेकर प्रभु ने राजा को बनाया। अतः राजा के आठों अङ्गों (१. ललाट, २.कान, ३. आँख, ४. नाक, ५. मुख, ६. हाथ, ७. जंघा और ८. पद (पैर) में क्रमशः इन्द्रादि देवताओं का निवास है। (मनुस्मृ. ७/३-४)

जो मध्याह्न में समाहित होकर अनन्त की पूजा करता है। वह भगवान् चक्रपाणि श्रीकृष्ण की कृपा से अनन्त सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। हे पार्थ! इस अनन्त को मेरा

कलाकाष्ठामुहूर्तादि, दिवारात्रिशरीरवान्।
पक्षमासर्तु ऋक्षाणि, युगकालव्यवस्थया।।
योऽयं कालो मयाख्यातः, सोऽनन्त इति कीर्त्यते।

मन्त्रः—

अनन्तसंसारमहासमुद्रे, मग्नं समभ्युद्धर वासुदेव!।
अनन्तरूपे विनियोजयस्व, अनन्त सूत्राय नमो नमस्ते।।

ग्रहाः	अधि-देवताः		प्रत्यधि-देवताः	
१. सूर्यः	शिवः	+	अग्निः	पद्मासनः पद्मकरः, पद्मगर्भसमद्युतिः। सप्ताश्वः सप्तरज्जुश्च, द्विभुजः स्यात्सदारविः।।१।।
२. चन्द्रः	शिवा	+	जलम्	श्वेतः श्वेताम्बरधरः, श्वेताश्वः श्वेतवाहनः। गदापाणिर्द्विबाहुश्च, कर्तव्यो वरदः शशी।।२।।
३. भौमः	स्कन्दः	+	पृथ्वी	रक्तमाल्यम्बरधरः, शक्तिशूलगदाधरः। चतुर्बुजो रक्तरोमा, वरदःस्याद्धरासुतः।।३।।

ही स्वरूप समझो। सूर्यादि ग्रहों में जो आत्मा है वह मैं ही हूँ, इसलिये मुझे लोग काल भी कहते हैं। ये कला-काष्ठा-मुहूर्त-दिवा-रात्रि-पक्ष-मास-ऋतु और नक्षत्र तथा युग आदि जो कालिक व्यवस्थाएँ हैं उन सभी में काल की स्थिति रहती है उसी काल की स्थिति के अनन्त होने से मैं अनन्त कालस्वरूप कहलाता हूँ।

मन्त्रः—हे वासुदेव! अनन्त संसाररूपी महासागर में डूबते हुए मुझको उबारो तथा मुझे अनन्त स्वरूप परमात्मा से मिलाओं। हे सूत्रात्मा अनन्त! आपके लिए मेरा भूयो-भूयो नमस्कार है।

सूर्य—सूर्यग्रह के अधिदेवता शिव तथा प्रत्यधिदेवता अग्नि हैं, ये कमलासन पर विराजमान तथा हाथ में कमल पुष्प लिए हुए हैं और इनकी कान्ति पदुगर्भ के द्युति के समान है। सूर्य के रथ में सात अश्व तथा उनकी सात ही लगाम और उन्हें दो भुजाएँ हैं।

चन्द्र—चन्द्रग्रह के अधिदेवता शिवा भवानी हैं और इनके प्रत्यधिदेवता जल हैं। चन्द्रमा का अङ्ग श्वेत, वस्त्र श्वेत, श्वेत घोड़ा, श्वेत ही रथ तथा हाथ में गदा तथा ये वरद मुद्राधारी हैं।

भौम—भौमग्रह के अधिदेवता स्कन्द और प्रत्यधिदेवता पृथिवी हैं। ये लाल माला

४.	बुधः	विष्णुः	+ विष्णुः	पीतमाल्याम्बरधरः, कर्णिकार समद्युतिः। खड्ग चर्म गदा पाणिः, सिंहस्थो वरदो बुधः।।४।।
५.	गुरुः	ब्रह्मा	+ इन्द्रः	देवदैत्यगुरूतद्वत् पीतश्वेतौ चतुर्बुजौ।
६.	शुक्रः	इन्द्रः	+ इन्द्राणी	दण्डिनौ वरदौ कार्यौ, साक्षसूत्रकमण्डलू।।५,६।।
७.	शनिः	यमः	+ प्रजापतिः	इन्द्रनीलद्युतिःशूली, वरदो गृद्धवाहनः। वाणावाणासनधरः, कर्त्तव्योऽर्कसुतस्तथा।।७।।
८.	राहुः	कालः	+ सर्पः	करालवनः खड्ग, चर्म शूली वरप्रदः। नीलसिंहासनस्थश्च, राहुरत्र प्रशस्यते।।८।।
९.	केतुः	चित्रगुप्तः	+ ब्रह्मा	धूम्रा द्विवाहवः सर्वे, गदिनो विकृताननाः। गृध्रासनगता नित्यं, केतवः स्यु र्वरप्रदाः।।९।।

(मत्स्यपु. ९४)

और लाल वस्त्रधारी, रक्त रोमावलीधारी हैं। चारों भुजाओं में शक्ति-शूल-गदा और वरमुद्रा धारण किये हुए हैं।

बुध—बुधग्रह के अधिदेवता विष्णु और इनके प्रत्यधिदेवता भी विष्णु हैं, ये पीले वस्त्र तथा पीत मालाधारी हैं। बुध पीत कर्णिकार पुष्प के समान वर्ण के हैं और हाथ में खड्ग-चर्म, गदा धारण किये हुए सिंह पर आरूढ़ तथा वरद मुद्राधारी हैं।

गुरु—गुरु के अधिदेवता ब्रह्मा और प्रत्यधिदेवता इन्द्र हैं, ये चार भुजाधारी, हाथ में दण्ड लिये हुए तथा वरद मुद्राधारी, पीताम्बरी और पीतमालाधारी हैं तथा रुद्राक्षमाला एवं कमण्डलु धारण किये हुए हैं।

शुक्र—शुक्रग्रह के अधिदेवता इन्द्र और प्रत्यधिदेवता इन्द्राणी हैं, ये श्वेतवस्त्रधारी तथा चतुर्भुज हैं और हाथ में दण्ड लिये हुए तथा वरद मुद्राधारी, रुद्राक्षमाला तथा कमण्डलुधारी हैं।

शनि—शनि के अधिदेवता यमराज और प्रत्यधिदेवता प्रजापति हैं और ये इन्द्र नीलमणि के समान वर्ण के हैं एवं शूलधारी हैं। शनि के हाथों में बाण-धनुष-शूल तथा वरदमुद्रा है इनका गिद्ध वाहन है।

राहु—राहू के अधिदेवता काल और प्रत्यधिदेवता सर्प हैं, ये कराल मुख वाले खड्ग-चर्म और शूलधारी तथा वरदमुद्रा को धारण किये हुए हैं। ये नीलगिरि पर्वत के वर्ण के सिंहासन पर विराजमान हैं।

स्कन्द कुमारः

षण्मुखः शिखिभूषणः रक्ताम्बरधरः मयूर वाहनः।
कुक्कुटः घण्टा दक्षिण हस्तयोः,
पताका वैजयन्ती शक्तिः वामहस्तयोः। (श्रीतत्त्वनिधिः)

इन्द्रः

श्वेतहस्तिसमारूढं, वज्राङ्कुशलसत्करम्।
सहस्रनेत्रं पीताभं, इन्द्रं हृदि विभावये।। (श्रीतत्त्वनिधिः)

गौः सूक्तं (अथर्ववे. १०/१०)

नमस्ते जायमानायै, जाताया उत ते नमः।
वालेभ्यः शफेभ्यो,रूपायाघ्ने ते नमः।।

यया द्यौ र्यया पृथिवी,ययापो गुपिता रमाः।
वशां सहस्रधारां, ब्रह्मणाच्छावदाभसि।।

केतु—केतु के अधिदेवता चित्रगुप्त तथा प्रत्यधिदेवता ब्रह्मा हैं, इनका स्वरूप धूम्र वर्ण वाला है। ये ग्रह दो भुजा वाले हैं। केतु गदाधारी विकृत मुखवाले गृद्ध के आसन पर स्थित हैं। (मत्स्यपु. ९४)

स्कन्द कुमार

स्वामी स्कन्द छः मुख वाले, मयूरपुच्छ भूषणधारी, रक्तवस्त्रधारी, मयूरवाहन वाले और इनके दक्षिण दोनों हाथों में कुक्कुटास्त्र और घण्टा है तथा दोनों बायें हाथों में पताका तथा वैजयन्ती शक्ति है। (श्रीतत्त्वनिधि)

इन्द्र

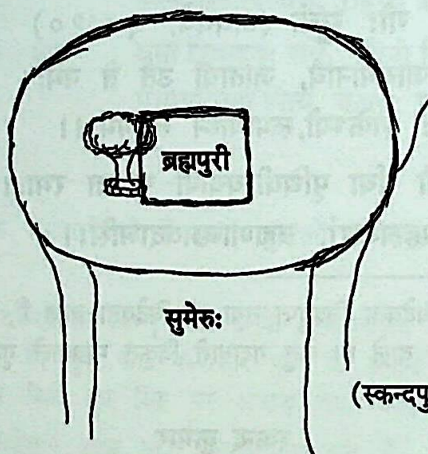
इन्द्र श्वेत हाथी पर आरुढ़ वज्र अङ्कुश से सुशोभित हाथवाले तथा हजार नेत्र वाले एवं पीत आभा से सुशोभित हैं—ऐसा ध्यान करें। (श्रीतत्त्वविधि)

गोसूक्त—जिस गो माता के अमृत रूपी दूध से यह सृष्टि वर्धन प्राप्त करती है और जिसके अमृत दूध से पूर्व में वर्धन हुई है उन गायों को प्रणाम है अथवा जो पूर्व जनी है और वर्तमान में जनी है उन दोनों गो माता को प्रणाम करता हूँ। जिस गौ माता से द्युलोक, पृथिवी, जल और लक्ष्मी रक्षित होती हैं तथा जो अपने अनन्त दूध की धारा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर वर्धित करती हैं उसे नमस्कार है। (अथर्व.वे. १०/१०)

भगवान्कार्तिकेयः

सिन्दूरारुणकान्तिमिन्दुवदनं, केयूरहारार्दिभिः,
दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं, स्वर्गस्य सौख्यप्रदम्।
अम्भोजामयशक्तिकुक्कुटधरं, रक्ताङ्गरागांशुकम्,
सुब्रह्मण्यमुपास्महे प्रणमतां, भीति प्रणाशोद्यतम्।।
(शारदा ति. १३/१२१)

ॐ ह्रीं वचद्भुवे नमः।



(स्कन्दपु. खै.ख.वेंक. १)

सिन्दूर के समान रक्तकान्ति वाले, चन्द्रमा के समान मुख वाले, दिव्य केयूरहारादि से विभूषित शरीर वाले और जो स्वर्ग सुख प्रदान करने वाले हैं तथा जो अपने हाथों में कमलमय शक्ति और कुक्कुट अस्त्र तथा अभय मुद्रा धारण किये हुए हैं लाल रंग का रेशमी वस्त्र एवं अङ्गराग धारण किये हुए हैं ऐसे भगवान् सुब्रह्मण्य कार्तिकेय को हम नमस्कार करते हैं जो प्रणाम करने वालों भक्तों को सदा कल्याण करने को उद्यत है।

(शारदाति. १३/१२१)

श्री कार्तिकेय का बीजमन्त्र 'ॐ वचद्भुवे नमः' है।

सुमेरु पर्वत के उच्च शिखर के शिरोभाग पर ब्रह्मा की वेधस पुरी स्थित है, जिसे ब्रह्मपुरी कहा जाता है। वहाँ ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मचारी-कर्मठ-धर्मात्मा-तपोनिष्ठ महात्मा, अग्नि ब्रह्म की उपासना करके शुद्धान्तःकरण वाले वैदिक, परमात्मा शिव और विष्णु के परमभक्त गण

श्रीमहेश्वर उवाच—

खं वायुरनलो वारि, भूः सूर्यशशिनौ पुमान्।
इति मन्मूर्तिभि र्विश्वं, भासते सचराचरम्।।
कालो हि कलयाम्यर्थान्, सत्वानमध्वन एव च।
तत्त्वातीतः शिवश्चाहं, न मत्तोऽस्तीह किंचन।।
अपर्यन्त चिदानन्द, सिन्धो में केचिदूर्मयः।
वेधोमुकुन्दरुद्रेन्द्र; मुखानाहु रुदित्वराः।।
वाणी लक्ष्मी क्षमा श्रद्धा, प्रज्ञा स्वाहा स्वधादयः।
असंख्येय महाशक्तेः, मम विसृष्टि शक्तयः।।
इयं मम महाशक्तिः, गौरी माया जगत्प्रसूः।
अनया च्छाद्यते विश्वं, शश्वद्विस्तार्यतेऽपि च।।

आदि ब्रह्मा की वेधस सभा में रहते हैं। वेधसपुरी देववृक्ष कल्पतरू की शीतल छाया से परिच्छन्न रहने के कारण शीत और गर्मी से रहित है। उस कल्पतरु के छायाश्रित होकर ब्रह्मविज्ञानी-शिव-दूर्गा-विष्णु-गणेशादि देवों के उपासकगण-तपस्वी-महात्मा-विरक्त और सन्यासी लोग सभा कर उसमें ब्रह्म विचार से उत्पन्न आनन्द में डूबे रहते हैं। उन्हें उस पुरी के प्रभाव से भूख-प्यास-ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध-मोह आदि सांसारिक दुःख कभी नहीं होते। वे ब्रह्म के अमृत स्वरूप के अनुभव से सदा आनन्द ही में स्थित रहते हैं।

(स्क.पु.खै.ख.वे. १)

शिव का वज्राङ्गद को वरदान

प्रसन्न होकर भगवान शंकर बोले वत्स वज्राङ्गद! तुमने मेरी बहुत सेवा की है अतः तुम्हें मैं यह ज्ञान देता हूँ—सुनो! आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथिवी-सूर्य-चन्द्रमा और पुरुष ये मेरी आठ मूर्तियाँ है। इनसे चराचर जगत् व्याप्त होकर प्रकाशित होता है।

मैं इन सब तत्त्वों से परे शिव हूँ। मुझसे भिन्न और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। मेरे स्वरूपभूत चिदानन्द समुद्र से उठी हुयी लहरें ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र और इन्द्रादि सभी देवताओं को आनन्द से परिपूर्ण करती हैं। मैं समस्त जगत् का स्वामी हूँ। यह गौरी देवी मेरी शक्ति माया है। वाणी लक्ष्मी-क्षमा-श्रद्धा-प्रज्ञा-स्वाहा और स्वधा आदि मेरी इस शक्तियों के असङ्ख्य रूप है।

इन सभी के द्वारा सम्पूर्ण जगत् आच्छादित होता हुआ विस्तार को प्राप्त होता है। इन महाशक्तियों के द्वारा सदा सृष्टि रक्षा और संहार रूप लीला विलासों से अत्यन्त विचित्र

शक्त्यानयान्वितः सर्ग, रक्षा संहृति विभ्रमः।
विचित्रमेतत्पश्यामि, जगच्चित्रं निजेच्छया।।
अपवाहितमोहस्त्वं, महिम्ना मे विचारय।
आत्मानमविभिन्नं मे, तरंगमिव वारिधेः।।
(वज्रांगदाय) (स्कन्दपु.मा.अरु. २४)

अम्बु स्त्रवतिचान्द्री सा, पुष्पं स्त्रवति भानवी
वीजं चाग्नेयी। (श्रीविद्यार्णवे १०)



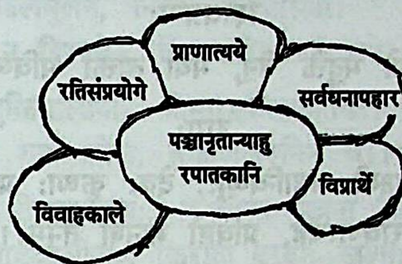


स्वरूप में प्रस्तुत किये हुए इस जगत् को मैं स्वेच्छा से देखता रहता हूँ। तुम मेरी महिमा से अपने को मुझसे अभिन्न देखो! जैसे समुद्र की तरङ्गे समुद्र से अभिन्न होती है वैसी ही जानो। भगवान् शंकर ने अपने भक्त वज्राङ्गद को ऐसा उपदेश देकर उन्हें दिव्यज्ञान प्रदान किया। (स्क.पु.मा.उरु. २४)

यहाँ तन्त्रयोग को दृष्टकूट के द्वारा कहा गया है कि—चन्द्र का किरण जल बरसाता है और सूर्य किरण पुष्प बरसाता है तथा अग्नि बीज 'रं' उससे पुष्ट होकर अंकुरित हो जाता है। यहाँ इडा नाड़ी चन्द्र है और पिङ्गला नाड़ी सूर्य है और यह कण्ठचक्र (घण्टी) के क्रमश वाम और दक्षिण भाग में स्थित हैं तथा बीच में सुषुम्ना है। जब साधक जीभ को उलटा कर कण्ठचक्र के ऊपर रन्ध्र से संभोग कराता है तो अमृतस्राव होता है वही इडानाड़ी पिङ्गला नाड़ी और सुषम्ना नाड़ी के द्वारा आधारचक्र को प्लावित करता है। आधार चक्र को ही ब्रह्मचक्र कहते हैं और वह भगमण्डलाकार है जहाँ पर मूलकन्द है, उसी को यहाँ बीज कहा गया है। वह मूलकन्द त्रिवृत्तकोण के आकार में स्थित है।

(श्रीविद्यार्णवतन्त्र १०)

धन, सम्पत्ति, स्त्री, मान-प्रतिष्ठा, शिष्य, और मठ मन्दिर ये साधुजनों के पाँच शत्रु हैं।



ततः सती महेशानं पतिं प्राप्तुं दृढव्रता।
आश्विने मासि नन्दायां तिथावानर्च भक्तितः।। (शि.प्र.रु.स. १५)

नमो गुणारणिच्छन्नः, चिद्रूपाय महेश्वर। मूढ़दुष्प्राप्तरूपाय, ज्ञानिहृद्वासिने सदा।। हर्यादयोऽखिलादेवाः, तथा लोकाश्चराचराः। नामरूपविभेदेन, फलग्व्या च कलया कृताः।। यच्छक्त्याहं धियाऽत्मानं, हन्त वेद न मूढधीः। तं दुरत्यय माहात्म्यं, त्वां नता स्मो महाप्रभुम्।।	देवस्तुतिः

स्त्रीयों के साथ रति करते समय, प्राणों पर घोर संकट आने पर, सम्पूर्ण धन का नाश उपस्थित होने पर, कन्या के विवाह के प्रसंग में, और गो ब्राह्मण के रक्षार्थ असत्य बोलने में पाप नहीं लगता है।

इसके बाद सती माता महेश्वर को अपना पति स्वरूप से प्राप्ति करने के लिए आश्विन मास की प्रत्येक नन्दा तिथि को दृढ़ भक्ति से गुड़, चावल आदि पूजन सामग्रियों के द्वारा भगवान् शिव की पूजा करने लगी। (शि.पु.रू.सं. १५)

देवताओं ने कहा—हे भगवान् शिव! जैसे अरणि में अग्नि छिपी हुई रहती है परन्तु युक्तिहीन अज्ञानी उसे देख नहीं पाते, उसी प्रकार तुम्हारा चिदानन्द स्वरूप सत्-रज और तमो गुणों से आच्छन्न (ढ़का) रहने के कारण अज्ञानी नहीं देख पाते। आप तो ज्ञानियों के हृदयरूपी कमल के मध्य में वास करते हैं। इसलिए अग्नि स्वरूप चिदात्मा आपको हम नमस्कार करते हैं।

आपकी मिथ्यामायिक कला से अनेक नाम और रूपात्मक हरि ब्रह्मादि देवता और सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि होती है।

आपकी माया की अहं बुद्धि से आत्मा का स्वरूप ढ़क जाता है इसी से मोहित

शिवप्रणः

अविश्वासो मदुक्ते चेन्, मया त्यक्ता भविष्यति।

रामः

सीता लक्ष्मी भवान्विष्णुः, देवः कृष्णः प्रजापतिः।
बधार्थं रावणस्येह, प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।।
शोभा कान्तिः छबिर्वर्णः, लक्षणं लावण्यम्। (वा.रा. ६/११७)
अभिजात्यं सौभाग्यं रागः रूपम्–रामे।।
मृदुता करुणा श्रुतं शीलं इन्द्रियनिग्रहः मनोनिग्रहः–रामे।
अष्टादशसहस्राणि, सुवर्णस्य महात्मनोः।
प्रयच्छ शीघ्रं काकुत्स्थ? यदन्यदभिकाङ्क्षितम्।।

हुआ जीव अपने ह्रदय में आपके स्वरूप को नहीं जान पाता है। ऐसे दुरधिगम्य महिमा वाले आप महाप्रभु को हम नमस्कार करते हैं। (शि.पु.रु.सं. १५ देवस्तुति)

शिव जी का प्रण

भगवान् शिव बोले—हे देवों! मेरी प्रतिज्ञा सुनिए। यदि उस स्त्री का मेरे वाक्यों से विश्वास उठ जायेगा तो मैं उसका तत्काल परित्याग कर दूँगा। अत: आप अनुकूल स्त्री का ही हमारे विवाह के लिए पता लगाकर चयन करें। (शि.पु.रु.सं. १५)

राम

ब्रह्मा जी ने कहा—हे राम! माता सीता साक्षात् लक्ष्मी, आप स्वयं विष्णु और श्रीकृष्ण प्रजापति देवता हैं एवं वे आपके इन मानव शरीरों में प्रविष्ट होकर रावण के वध के लिए इस समय अवतार ग्रहण किये हैं। आप राम में शोभा-कान्ति-छवि-वर्ण (शरीर की सुन्दरता)-लक्षण (स्वभाव) और लावण्यता का समावेश है। (वा.रा. ६/११७)

कुलीनता-सौभाग्य-प्रजा के प्रति अनुराग आदि गुण आप राम में विद्यमान है।

मृदुलता, करुणा, वेद-शास्त्रों का ज्ञान, इन्द्रियों पर दमन और मनोनिग्रह हे राम! आपमें पूर्णतया निवास करते हैं।

जब राम की सभा में लवकुश ने रामायण के बीस सर्ग सुना दिये तो राम बोले कि—इन दोनों बालकों को अठारह हजार सुवर्ण मुद्रा दे दो तथा इसके अलावा इन्हें जो भी अन्य वस्तु अभीष्ट हो वे भी दे दो। (वा.रा. ७)

वन्येन फलमूलेन, निरतौ वनवासिनौ।
सुवर्णो न हिरण्येन, किं करिष्यावहे वने।। (वा.रा. ७)

शनकैस्तुक्रियालोपा, दिमाःक्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके, ब्राह्मणादर्शनेन च।।४३।।

पोण्ड्रकाश्चोण्ड्रद्रविडाः, कम्बोजा यवना स्वपचाः।
पारदाःपाह्लवाश्चीनाः, किराता दरदाः खशाः।।४४।। (मनु. १०)

दक्षिण समुद्रे

१. कुमारेशप्रियं तीर्थम्। २. स्तम्भेश तीर्थम्। ३. वर्करेश्वर तीर्थम्।
४. महाकाल तीर्थम्। ५. सिद्धेशाख्यं तीर्थम्।

पञ्चाप्सराः-१. वर्चा, २. सौरभेयी, ३. सामेयी, ४. बुब्बुदा, ५. लता।

लव-कुश ने अठारह हजार पृथक्-पृथक् मुद्रायें नहीं ली और वे विस्मित होकर कहने लगे—हमदोनों वन के फल मूल खाकर रहने वाले वनवासी हैं, हम इन सुवर्णमय अमूल्य मुद्राओं को लेकर क्या करेंगे? (वा.रा. ७)

आगे आने वाली क्षत्रिय जातियों के शास्त्रोचित कर्त्तव्य क्रियाओं का लोप हो जाने से तथा ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ अध्यापन प्रायश्चित तथा दर्शन दृष्टि आदि के लोप हो जाने से धीरे-धीरे वे लोग शूद्र हो गये। (मनु.स्मृ. १०/४३)

वे शास्त्र विहित कर्म रहित अधर्माचरणरत क्षत्रिय वंशोद्भवगण ही पतित होकर पौण्ड्रक-उण्ड्र-द्रविड़-कम्बोज-यवन-स्वपच-पारद-पाह्लव-चीन-किरात-दरद और खश आदि जातियाँ हुईं। (मनु.स्मृ. १०/४४)

उग्रश्रवा बोले—पूर्व काल में अर्जुन तीर्थ यात्रा को निकले। वे दक्षिण समुद्र के पञ्च तीर्थों में स्नान किया। ये तीर्थ वे ही हैं जिन्हें भयवश तपस्वियों ने स्वयं छोड़ दिया था और दूसरों को भी इनमें स्नान के लिए निषेध किया करते थे। उनमें कुमारेश तीर्थ मुनियों को प्रिय था। उनमें द्वितीय स्तम्भेश तीर्थ सौभद्र मुनि को प्रिय था। तीसरा वर्करेश्वर तीर्थ शची को प्रिय था। चौथा महाकाल तीर्थ करन्धम राजा को और पाँचवाँ सिद्धेश्वरतीर्थ भारद्वाज मुनि को प्रिय था।

अर्जुन ने मुनियों से पूँछा ये तीर्थ बड़े सुन्दर हैं इन्हें क्यों त्यागा? तपस्वियों ने कहा—इन तीर्थों में ग्राह निवास करते हैं जो तपस्वियों को जल में खींच ले जाते हैं, अतः इन तीर्थों को उन्होंने त्याग दिया।

पाँच अपसराएँ

अर्जुन ने निषेध करने पर भी तीर्थ में स्नान किया और उन्हें ग्राह ने पकड़ा। उस

मस्तकस्थायिनं मृत्युं, यदि पश्येदयं जनः।
आहारोऽपि न रोचेत, किमुता कार्य कारिता।। (स्कन्दपु.मा.कौ. १)

न चैताःपरिनिन्दामो, जनि र्याभ्यः प्रवर्तते।
केवलं तान्विनिंदामो, ये च तासु विनिर्गलाः।।

पुरे पञ्चमुखे द्वाः स्थः, एकादशभटै र्युतः।
साकं नार्यः वह्वपत्न्यः, स कथं स्यादचेतनः।। (स्क.पु.मोह.कौ. १)

यश्चस्त्रिया समायोगः, पञ्चयज्ञादि कर्मभिः।
विश्वोपकृतये सृष्टा, मूढै र्हा साध्यतेऽन्यथा।।

षड्धातु सारं तद् वीर्यम्, निःक्षेपे कुयोनौ तु।
तस्येदं प्रोक्तवान्यमः-

ग्राह को वे खींच कर बाहर ले आये और बाहर आते ही वह ग्राह सुन्दर स्त्री हो गया। उससे मकरी बनने का कारण पूँछा तो उसने बताया मेरा पूर्व नाम वर्चा नामक अप्सरा है।

उसने कहा—मेरी चार सखी और हैं जो इस तीर्थ में रहती हैं। वीरेश्वर! हम मुनियों के शाप से ग्राह बन गये। हमारे पाचों अप्सराओं का नाम क्रमशः वर्चा, सौरभेयी, सामेयी, बुदबुदा और लता हैं।

यदि मनुष्य अपने शिर पर खड़ी हुयी मृत्यु को देखे तो उसे भोजन भी अच्छा नहीं लगेगा अन्य क्रिया-कर्मों की तो बात ही क्या है? (स्क.पु.मा.कौ. १)

हम स्त्रीयों की निन्दा नहीं करते हैं, क्योंकि सभी का जन्म इन्हीं से होता है। हम केवल उन पुरुषों की निन्दा करते हैं, जो इनमें आसक्त हैं और उच्छृङ्खलता पूर्वक मर्यादा को भंग करते हैं।

पाँच मुख वाले इस शरीर रूपी नगर में ग्यारह योद्धा द्वार पर पहरा दे रहे हैं। पुरुष बहुत पत्नियों के साथ वहाँ विद्यमान होता है वह अचेतन कैसे हो जाता है? स्त्री के साथ संयोग इसलिए किया जाता है कि उससे पुत्र उत्पन्न होकर पञ्च यज्ञादि कर्मों द्वारा सम्पूर्ण विश्व का उपकार कर सकें। किन्तु खेद की बात है कि मूढ़ मनुष्य उस पवित्र संयोग को किसी अन्य भाव से ग्रहण करते हैं। (स्क.पु.मा.कौ. १)

छः धातुओं में जो सार भूत वीर्य है। उसे अपने समान वर्ण वाली स्त्री को छोड़कर अन्य किसी निन्दित योनि में यदि मनुष्य छोड़ता है तो उसके लिए यमराज ऐसे कहते

प्रथमं चौषधी द्रोग्धा, आत्म द्रोग्धा ततःपरम्।
पितृ द्रोग्धा विश्वद्रोग्धा, यात्यन्धं शस्वतीः समाः।।
मनुष्यं पितरो देवा, मुनयो मानवास्तथा।
भूतानि चोपजीवन्ति, तदर्थं नियतो भवेत्।।
वचसा मनसाचैव, जिह्वया करश्रोत्रकैः।
दान्तमाहु र्हि सत्तीर्थं, काकतीर्थमतः परम्।।

क्रिया-कारक-फलभेद-बुद्धिरविद्या। आत्मैकत्वबुद्धिर्विद्या।

पल-घटी-दिन-मास-वर्ष-युगाः-कालविवर्ताः
अङ्गुल-वितस्ति-हस्ताः-देशविवर्ताः (न परिणामाः)
तोलक-सेटक-मनाः-वस्तुविवर्ताः

अमितात्मानं मितेदेहे महत्वाभिमानो मिथ्या।

हैं कि पहले तो वह अन्न का द्रोही है, द्वितीय आत्मा का द्रोही है, फिर पितरों का द्रोही है तथा अन्ततोगत्वा वह सम्पूर्ण विश्व का द्रोही है। इसलिये ऐसे पुरुष अनन्त काल तक अन्धकारपूर्ण नरक में पड़ा रहता है। देवता-पितर-ऋषि-मनुष्य (अतिथि) तथा सम्पूर्ण भूत (प्राणी) मनुष्य के सहारे से जीविका चलाते है। अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह इन पाँचों के रक्षण के लिए सदा इन्द्रियों को संयत रखे।

जो मन वाणी जिह्वा हाथ और कान को अपने वश में करके जितेन्द्रिय हो गया है, उसे सत्तीर्थ कहते हैं अर्थात् वे नित्य तीर्थ के साथ रहने वाले हैं तथा इससे भिन्न को काकतीर्थ (कथन मात्र का तीर्थ) कहा है।

क्रिया-कारक-फल और भेद वाली बुद्धि अविद्या है। आत्मा एक है उसमें क्रिया कारक आदि कुछ भी विकल्प नहीं है अतः इस एकात्म बुद्धि को विद्या कहते है।

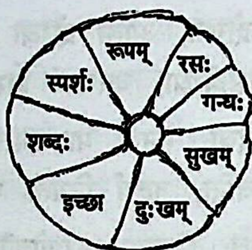
पल-घड़ी-दिन-मास-वर्ष तथा कृत-त्रेता-द्वापर-कलियुग आदि काल भेद बुद्धि, काल के विर्वत हैं। जैसे रज्जु का विवर्त सर्प है वह परिणाम नहीं होता है।

अंगुल-वितस्ति-हस्त-गज-मीटर और किलोमीटर आदि परिमाण भेद, देश के विवर्त हैं।

तोला-मासा-सेर और मन आदि द्रव्य भेद के विर्वत हैं। ये उपर्युक्त भेद विवर्त हैं, परिणाम नहीं हैं।

अपरिच्छिन्न अर्थात् व्यापक आत्मा को सीमित शरीर में महत्त्वाभिमानीत्व मिथ्या है।

तदन्तरस्य सर्वस्य



क्वचिदजया
क्वचिदात्मना
च चेन्नियमः

तदेजति तन्नैजति

तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत्।

लोकाः

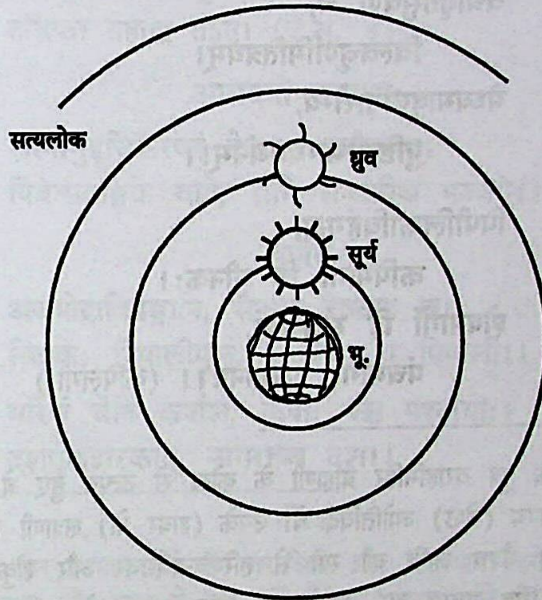
भूमिलोकश्च भूलोकः, पादगम्यः प्रकीर्तितः।
भूमिसूर्यान्तरं तच्च, भुवर्लोकः प्रकीर्तितः।।
ध्रुवसूर्यान्तरं, नियतानि चतुर्दश।
स्वर्लोकः..................।।
ध्रुवादूर्ध्वं तथा कोटि, र्महर्लोकः प्रकीर्तितः।
द्वे कोट्यौ च जनो यत्र, निवसन्ति चतुः सनाः।।
चतुर्भिश्चैव कोटीभिः, तपोलोकस्ततःस्मृतः।
वैराजा यत्र ते देवाः, स्थिता दाहविर्जिताः।।

वह ब्रह्म सभी वस्तु के भीतर और बाहर विद्यमान है। वह शरीर से उपाधियुत् होकर चेष्टा करता है तथा शरीरादि उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म चेष्टा नहीं करता है। कभी वह अपनी माया के द्वारा साकार रूप में आता है और कभी अपने स्वरूप में स्थित रहता है। उसने वीक्षण किया और वह वैसा ही हो गया। उस समय वह अपने आप ही था अर्थात् ब्रह्मरूप मात्र था। वही चक्ष्वेन्द्रिय से रूप का, रसनेन्द्रिय (जिह्वा) से रस का, घ्राणेन्द्रिय (नाक) से गन्ध का (अनुभव कर्त्ता) होता है। वही भोक्ता ब्रह्म ही अन्तछकरण में स्थित होकर सुख-दुःख और इच्छादि का भोक्ता (अनुभव कर्त्ता) होता है।

भूमि लोक ही भूलोक है और वह पादगम्य है। भूमि और सूर्य के मध्य में भुवर्लोक है। ध्रुव और सूर्य के मध्य चौदह नियुत योजन का अन्तर है।

ध्रुव से एक करोड़ योजन ऊपर महर्लोक है और उसके ऊपर दो करोड़ योजन पर जनः लोक है जहाँ सनकादि रहते हैं। ध्रुवलोक से चार करोड़ योजन पर तपः लोक है। जहाँ वैराज नाम के देवगण रहते हैं। वह लोक दाह रहित अर्थात् दुःखों से रहित हैं।

षड्गुणेन तपोलोकात्, सत्यलोको विराजते।
अपुनर्मरका यत्र, ब्रह्मलोको हि सः स्मृतः।।
(स्कन्दपु. माहे. कौ. ३८)



पृथ्वी की चौड़ाई ८००० मील है। पृथ्वी से सूर्य की दूरी ९३० लाख मील है। चन्द्रमा का व्यास २१६० मील। पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी २४०००० मील है। सूर्य की मोटाई ८६४००० मील है। हाइड्रोजन के परमाणु हीलियम में बदलते रहते हैं। सूर्य का संस्कृत में एक नाम 'हेलिः' है।

तपोलोक से छः गुना ऊपर सत्यलोक है। जहाँ पर आकर जीव का पुनरागमन नहीं होता है अर्थात् वहाँ अपुनर्भव (जनन-मरण से मुक्त जन) लोग रहते हैं।
(स्क.पु.माहे.कौ. ३८)

ब्राह्मण्यामभवद् बराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी,
राजाभर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिश्चन्द्र वैद्यतिलको जातश्च शंकुः कृती,
शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः।।

वचाघृतसुवर्णं च,
विल्वचूर्णमितित्रयम्।
मेध्यमायुष्यमारोग्य,
पुष्टिसौभाग्यवर्धनम्।।

पिपीलिकाविहंगश्च,
कपिमार्गो हि मीनकः।
शेषमार्गो हि संख्यायां,
पंचमार्गाः पुरातनाः।। (कपिलगी.)

शबर स्वामी के पुत्र वराहमिहिर ब्राह्मणी के कोख से उत्पन्न हुए थे। वे ज्योतिर्विदों (ज्योतिषियों) में अग्रगण्य (श्रेष्ठ) ज्योतिर्विद थे। उनके (शबर के) क्षत्राणी से राजा भर्तहरि और विक्रमादित्य हुए। वैश्य जाति की स्त्री से हरिश्चन्द्रवैद्यवर और शंकु नामक विद्वान् हुए। शूद्रा से अमर सिंह उत्पन्न हुए। इस प्रकार शवर स्वामी के छः पुत्र हुए थे।

वचा-घृत—सुवर्णलता और विल्व का चूर्ण बनाकर सेवन करने से बुद्धि-आयु-आरोग्य-पुष्टि तथा सौभाग्यवर्धन होता है।

साधकों के लिए प्रथम पिपीलिका मार्ग है। इस मार्ग में क्रमशः शनै-शनै ऊपर चढ़ना होता है, जैसे—चीटी चढ़ती है अर्थात् गृहस्थ से वनगमन और वन से शुक वामदेवादि का विहगंम मार्ग है। जो संसार को असार समझकर सीधे ही निवृत्ति मार्ग में चले जाते है। तीसरा कपिमार्ग है जड़ से शाखा पर जाना और शाखा से भी शाखा पर जाना और शाखा से भी शाखा पर जाना इत्यादि। मूल श्लोक का द्वितीय अर्थ पक्ष को इस प्रकार भी कह सकते हैं—कपिलमुनि ने अपने कपिल गीता में पाँच मार्ग ही परमार्थगामी है ऐसा कहा है। वे मार्ग हैं—१. पिपिलिका मार्ग, २. विहंगम मार्ग (याति मार्ग), ३. कपि मार्ग (न्याय दर्शन), ४. मीन मार्ग (प्रवृत्ति मार्ग) और ५. सांख्य मार्ग (तत्व दर्शन)। (कपिलगी.)

५,८,९९

राशयः

चराः–मेषः, कर्कः, तुला, मकरः।
स्थिराः–वृषः, सिंहः, वृश्चिकः, कुम्भः।
द्विःस्वभावाः–मिथुनः, कन्या, धनुः, मीनः।
तन्निष्ठा ग्रहाश्च तद्वत्। (जै.सू. ४)

आमवाते-क्वाथाः

रास्नागुडूचिकैरण्डं देवदारु महौषधम्।
पिवेत्सर्वाङ्गके वाते, सामे सन्ध्यस्थि मज्जगे।।

चूर्णम्

अजमोदाविडङ्गानि, सैन्धवं देवदारु च।
चित्रकः पिपालीमूलं, शतपुष्पा च पिप्पली।।
मरिचं चेति कर्षांशं, कर्षाः पञ्च पथ्यायाः।
दशवृद्धदारकात्, नागराच्च दश।।

राशियाँ

राशि के तीन स्वभाव होते हैं—चर-स्थिर और द्विस्वभाव। इसे इस प्रकार क्रम से जानें—मेष-कर्क-तुला और मकर ये चार राशियाँ चर स्वभाव वाले हैं। वृष-सिंह-वृश्चिक और कुम्भ ये स्थिर स्वभाव वाली राशियाँ हैं। मिथुन-कन्या-धनु और मीन ये द्विस्वभाव की राशियाँ हैं। द्विस्वभाव की राशियाँ कभी किसी के योग से चर स्वभाव का फल और कभी किसी अन्य से मिलकर स्थिर स्वभाव का फल देने वाली होने के कारण इसे 'द्विस्वभावा' कहते हैं। उपर्युक्त स्वभाव की राशियों के ग्राह्य अर्थात् उन राशियों में स्थित ग्रह उसके (राशियों के) अनुसार फल देने वाले होते हैं। (जै.सू. ४)

आमवात-क्वाथ

रास्ना-गिलोय-एरण्ड (अण्डी)-देवदारु-लशुन (लहसन) इनका क्वाथ पीने से मांस हड्डी मज्जादि गत विभिन्न प्रकार के वातरोग शान्त हो जाते हैं।

चूर्ण

अजमोद-विडङ्ग-सेंधानमक-देवदारु-चित्रक-पीपल (पीपर) मूल-शतपुष्पा (सौंफ) छोटी पीपल का चूर्ण सेवन करने से शरीर निरोग होता है। मरीच एक कर्ष मात्रा, पथ्या का

पिवेत्कोष्णजलेनैव,
समेन गुडेन वटकान्वा कारयेत्।।

(२) अथर्ववे.शौ.सं. १/२४

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तं आसिथ।
तद् आसुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्।।१।।
आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलास भेषजम् इदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपां अकरत् त्वचम्।।२।।
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम त पिता।
सरूपकृत् त्वमौषधे सा सरूपमिदं कृधि।।३।।
श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता।
इदमूषु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय।।४।।

पञ्च कर्ष मात्रा, वृद्धदारक कादश कर्ष मात्रा, नागरमोथा का दश कर्ष मात्रा का चूर्ण कवोष्ण (हलका गरम) जल के साथ लेना चाहिये। यदि वटी (गोली) बनानी हो तो औषध के समान मात्रा में गुढ़ मिला कर वटी बनावे।

हे औषधे! सर्वप्रथम आप सुपर्ण (गरुड़ या सूर्य) के पित्त रूप में थी। उस समय आसुरी (रोग) और सुपर्ण के साथ जो युद्ध हुआ उसे जीतकर उस पित्त को औषधि का स्वरूप आपने प्रदान किया और वही वनस्पति हो गया।।१।।

उस आसुरी माया (रोग) ने नील आदि औषधि को कुष्ठनाशक औषधि के रूप में निर्मित किया था। इसलिए यह औषधि रोग नाश करने वाली है। इसने कुष्ठ दूषित त्वचा को शुद्ध करके रोग शून्य त्वचा के समान रंगवाली सुन्दर कर दिया।।२।।

हे औषधे! तुम्हारी माता तुम्हारे समान वर्णवाली है और तुम्हारे पिता भी तुम्हारे समान रंग वाले हैं और आप भी समान (सुन्दर) रूप करने वाली हो, इसलिए तुम इस कुष्ठ से दूषित मेरे रूप को अपने समान सुन्दर रूपवाला कर दो।।३।।

हे काले रंग वाली औषधे! आप अपने समान रूप बनाने वाली हो इसलिए आसुरी माया ने आपको धरती के ऊपर पैदा किया है। आप इस कुष्ठ रोग से दूषित शरीर को अच्छी तरह रोग रहित करके पूर्ववत् सुन्दर रूपवाला बना दो।।४।।

(अथर्ववे.शौ.सं. १/२४)

भगन्दरे

वटपत्रेष्टिका सुण्डी, गुडूची स पुनर्नवा।
सुपिष्टा पिटिका वक्त्रे, लेपः शस्तो भगन्दरे।।१।।

करवीर निशादन्ती, लाङ्गली लवणाग्निभिः।
मातुलङ्गार्क पयसा, पचेत्तैलं भगन्दरे।।२।।
(लाङ्गली तोयपिप्पल्यां, इति मेदिनी)

त्रिफला पुर कृष्णानां, त्रिपञ्चैककर्ष योजिता गुटिका।
कुष्ट-भगन्दर-नाडी-दुष्टव्रण शोधिनी कथिता।। (योगरत्नाकरे)

ऐरण्डबीजशुद्धिः

गन्धर्व-हस्त-बीजानां, नारिकेलोदकेन च।
याममात्राद् भवेच्छुद्धिः, दन्तीबीजं पचेत्तथा।। (योगरत्नाकरे)

भगन्दर में प्रयोग

वट पत्र के साथ इष्टिका-सुण्डि-गुडूच और पुनर्नवा को पीस कर उसकी पिटिका बना ले और भगन्दर के ऊपर लेप करें तो ठीक हो जाता है॥१॥

करवीर-निशादन्ती लाङ्गली (जल पिंप्पली)-मातुलिङ्ग और अर्क को दूध के साथ धीमी अग्नि से पकाकर तेल निकाले और उसे भगन्दर पर लगाने से वह शान्त हो जाता है॥२॥

त्रिफला-काला पुरना नौ कर्ष की मात्रा में लेकर उसका चूर्ण कर उसकी गुटिका बना लें। उसी वटी के सेवन करने से कुष्ट-भगन्दर-नाड़ीगत दोष-दुष्टव्रण आदि रोगों की शान्ति हो जाती है॥३॥ (योग रत्नाकर)

ऐरण्ड बीज शोधन

गन्धहस्त के बीजों को नारियल के पानी में एक याम (३ घण्टा) तक भींगने दे तो उसकी शुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार दन्ती बीज को भी शुद्ध किया जा सकता है॥४॥
(योग रत्नाकर)

श्रीस्व. करपात्राणाम्
१९६४ श्रा.शु. २, र.पू.फा.

चं.५ ३
४
६ सू.बु.गु.शु.रा. २
७ १
८ १० के. १२ श.
९ मं. ११

सरस्वती योगः

शुक्रवाक्पतिसुधाकरात्मजैः, केन्द्रकोणसहितैर्द्वितीयगैः।
स्वोच्चमित्रभवनेषु वाक्पतौ, वीर्यगे सति सरस्वतीरितः।।
(फल दी. ६)



गरुडः

आकण्ठ्यो तुहिनप्रभम्, आजानुतःसुवर्णभम्।
कुङ्कुमारुणमाकण्ठं, शतं चन्द्रनिभाननम्।।
नीलाग्र नासिकावक्रं, सुमहच्चारुकुण्डलम्।।

कुण्डली सरस्वती योग

शुक्र गुरु बुध ये तीनों केन्द्र में हो और त्रिकोण भाव को प्राप्त हो तथा गुरु स्वग्रही तथा उच्च हो तो सरस्वती योग होता है। उपर्युक्त टीप (चक्र) स्वर्गीय श्री करपात्री महाराज जी की है और इस चक्र में सरस्वती योग बनता है। (फल दीपिका ६)

गरुड़

गरूड़ पक्षी के कण्ठ पर्यन्त वर्ण श्वेत और पैर के पास तक का वर्ण सुवर्ण के समान (पीत) तथा कण्ठ प्रदेश कुङ्कुम (लाल) वर्ण एवं सम्पूर्ण पंख प्रदेश में सैकड़ों चन्द्र के आकार के चिह्न बने होते हैं। गरूड़ की नासिका के अग्रभाग से लेकर मुख तक का वर्ण (रंग) नीला परन्तु वक्र (टेढ़ा) और कर्ण (कान) प्रदेश कुण्डल के समान होते हैं।

ॐ क्षिप स्वाहा। (गरुडोपनि.)

१. श्वेतकुष्ठापनोदनाय-भृङ्गराजेन्द्र वारूणी नीलिकाः लेपायानेन सूक्तेन प्रयोगः।

ॐ नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रञ्जय किलासं पलितं च यत्॥१॥

ॐ किलासं पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय॥२॥

ॐ असितं ते प्रलयन मास्थान मसितं तव।
असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत्॥३॥

ॐ अस्थि जस्य किलासस्य, तनूजस्य च यत्त्वचि।
दूष्यो कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मश्वेतत्रली नशत्॥४॥

'ॐ क्षिप स्वाहा'—इस मन्त्र का जप विष पीड़ा शमन करता है। (गरूडोपनि.)

श्वेत कुष्ठ रोग को दूर करने के लिए भृङ्गराज सुहागा नीला योगराज के लेप तैयार कर इस सूक्त से अभिमन्त्रित करके लेप करें।

हे रामे! कृष्णे! तथा असिक्नी औषधियों! (राम तुलसी श्वेत तुलसी अथवा धृतकुमारी काली तुलसी या काली मूली पुनर्नवा पिप्पली आदि तथा असिशिम्वी) आप सब रात्रि में उत्पन्न होने से रात्रि के सम्बन्धी हो, कृष्ण रंग प्रदान करने वाली हो, अतः हे औषधे! आप गलित कुष्ठ तथा श्वेत कुष्ठ से पीड़ित जनों को शुद्ध रूप प्रदान करके अनुरञ्जित करो॥१॥

हे औषधियों! आप गलित कुष्ठ तथा श्वेत कुष्ठ से उत्पन्न दागों को नष्ट करो। जिससे इस रोग ग्रस्त मनुष्य के शरीर में पूर्ववत् लालिमा प्रवेश करें। आप सफेद दागों को दूर करके इस रोगी को अपने जैसा रंग प्रदान करो॥२॥

हे नील औषधियों! आपके उत्पन्न होने का स्थान तथा समय कृष्णवर्ण का है। तथा जिस पात्र में आप रखी जाती हो वह भी काला है। हे औषधियों! आप स्वयं भी श्याम वर्ण वाली हो इसलिए अपने लेप के द्वारा इस रोगी के श्वेत दागों को मिटाओं॥३॥

शरीर में विद्यमान हड्डी-त्वचा और उसके मध्य के मांस में जो कुष्ठ के निशान हैं, उसे हमने ब्रह्म के द्वारा (ब्रह्म मन्त्रों के द्वारा) विनष्ट कर दिया है॥४॥

अथर्व वे. शौ. १/२/६

ॐ ज॒रा॒यु॒जा प्र॑थ॒म उ॒स्रिया॑ वृषा॑ वाता॒भ्र॒जा स्त॒नय॑न्नेति वृ॒ष्ट्या।
स नौमृडाति त॒न्व ऋ॒जु॒गो रू॒जन् य एक॒मोजस्त्रे॒धा विचक्र॒मे॥१॥

ॐ अङ्गे॑ अङ्गे शो॒चिषा शिश्रिया॒णं नम॒स्यन्त॑स्त्वा ह॒विषा विधेम॒।
अ॒ङ्कान्त्स॑म॒ङ्कान्ह॒विषा विधेम॒ यो अग्र॑भी॒त् पर्वा॑स्या॒ ग्रभी॑ता॥२॥

ॐ मु॒ञ्चशीर्ष॒क्त्या उ॒त का॒स ए॑नं॒ परु॑ष्परुरावि॒वेशा॒ यो अ॑स्य।
यो अ॒ब्जा वा॑त॒जा य॒श्च शुष्मो॒ वन॒स्पती॑न् सचतां॒ पर्व॑तांश्च॥३॥

ॐ शंमे॒ पर॑स्मै॒ गात्रा॑य॒ शम॒स्त्ववरायमे।
शंमे॑ च॒तुर्भ्यो॒ अङ्गे॑भ्य॒ः शमस्तु तन्वै॒३रमम॥४॥

अथर्ववेद शौ.—जरायुजा (जेर) से उत्पन्न शिशु की तरह बलशाली सूर्यदेवता वायु के प्रभाव से मेघों के मध्य से प्रकट होकर हमारे शरीरों को आनन्द प्रदान करते हैं, वे सीधे मार्ग से गगन में बढ़ते हुए अपने एक ही ओज (तेज) को (अध्यात्म अधिदेव तथा अधिभूत) इन प्रकार से प्रसारित करते हैं कि एक ही तेज तीन जगह विभक्त होकर तीनों लोकों में चक्रमण कर जाता है। (अथर्ववे.शौ. १/२/६/१)

अपनी ऊर्जा से अङ्ग प्रत्यङ्ग में व्याप्त हे सूर्य भगवान्! (देवता) सुन्दर स्तवनों से तथा पवित्र हृदय से हम आपका तथा आपके समीपवर्ति किरणों का अर्चन करते है। जिसके शारीरिक सन्धि रोगों ने ग्रस्त कर रखा है, उनके निमित्त भी हम आपकी आराधना करते हैं। (अथर्ववे.शौ. १/२/६/२)

आरोग्यदाता सूर्यदेव! आप हमें सिरदर्द एवं कास (खाँसी) की पीड़ा से मुक्त करें सन्धियों में प्रविष्ट रोगाणुओं को नष्ट करें तथा वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं के प्रभाव से उत्पन्न बात-पित्त एवं कफ रोगों को दूर करें। इसके लिए हम अनुकूल वातावरण के रूप में पर्वत एवं वनस्पतियों का सहारा लेते हैं। (अथर्ववे.शौ. १/२/६/३)

हमारे शिर आदि सभी अंगों का कल्याण हो तथा उदर आदि सामान्य अंगों का भी कल्याण हो। हमारे हाथ, चारों पैरों का कल्याण हो तथा हमारे समस्त शरीरावयवों में आरोग्य लाभ हो। (अथर्ववे.शौ. १/२/६/४)

पथ्या करञ्जसिद्धार्थ, निशाऽवुल्गुज सैन्धवैः।
विडङ्गा सहितैः पिष्टैः, लेपो मूत्रेणकुष्ठनुत्।। (भावप्र.)

सोमराजीभवं चूर्णं, सृङ्गवेरसमन्वितम्।
उछर्तनमिदं हन्ति, कुष्ठमुग्रंकृतास्पदम्।। (भावप्र.)

दशांगलेप

शिरीष यष्ठी नत चन्दनैला,
मांसी हरिद्राद्वय कुष्ठ वालैः।
लेपो दशांगः सघृतः प्रयोज्यो,
विसर्प कुष्ठ ज्वर शोथहारी।। (भावप्र.)

किं करोमि क्व गच्छामि,
किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
यन्मया पूरितं विश्वं,
महाकल्पाम्बुना यथा।। (महावा.र.म.वा.)

पथ्या (हरीतकी विशेष), करञ्ज, पीली सरसों, हल्दी, अवुल्गुज (कण्दूमर), सैंधव (नमक), विडङ्ग (भाभी रंग) का चूर्ण बनाकर उसे गोमूत्र के साथ मिलाकर उसका लेप कुष्ठ रोग स्थान पर लगाने से रोग की शान्ति होती है। (भावप्र.)

सोमराजी, लता, अदरख को पीस कर कुष्ठ रोग के स्थान पर लेप लगाने से उग्र कुष्ठ रोग का ज्वलन शान्त हो जाता है। (भावप्र.)

शिरीष, यष्टि मधु (मुलेठी), तगर, जटामांसी, दारू हल्दी, हल्दी और कूठ, उशीर का दशांग गो घृत के साथ मिलाकर कुष्ठ रोग के स्थान पर लेप लगाने से विसर्प कुष्ठ (गलित कुष्ठ), ज्वर और शोथ (सूजन) दूर हो जाता है। (भावप्र.)

मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, क्या ग्रहण करूँ तथा क्या त्याग करूँ मुझे समझ में नहीं आ रहा है। क्योंकि मैंने इस विश्व को महाप्रलय के जल की तरह चारों ओर से व्याप्त कर लिया है अर्थात् मेरे (आत्मा) से रहित कुछ भी नहीं दीखता है। (महावा.र.म.वा.)

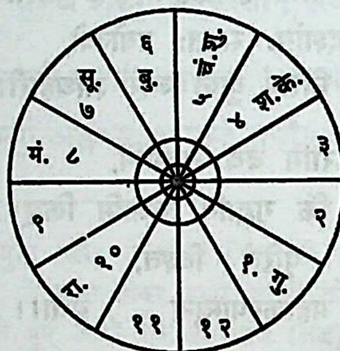
विसर्पे

सर्पिषा शतधौतेन, कृतो लेपो मुहु र्मुहुः।
निहन्ति सर्ववीसर्पं, सर्पं पन्नग्राडिव।। (योगर.)

शतधौतघृतोन्मिश्रः, शिरीषत्वग्रजःकृतः।
लेपः शमयति क्षिप्रं, विसर्पं कर्दमाभिधम्।। (यो.र.)

जीरकस्य पलं पिष्टं, सिन्दूरार्धपलं तथा।
कटुतैलं पचेदाभ्यां, सर्वपामाहरं परम्।। (भाव.प्र.)

व्ययपे लग्नं प्राप्ते विदेशगः सुवचना अपसंवादद्वेषी कुमारोऽथवा षण्डः।
(मानसागरी)



चित्तसुबुद्धि बलिष्ठो मन्त्रारक्षः क्रियालसः सौरः। अतिमति विभवो बालः पाप विमुक्तो निजोच्चगे शशिजे।।
(मानसागरी)

सौ बार धोये हुए गो घृत से बार-बार लेप करने से विसर्प घाव ऐसे ही चला जाता है जैसे गरुड़ को देखकर सर्प भाग जाता है। (योगरत्नाकर)

सौ बार धोये हुए घी में सिरस की छाल का चूर्ण मिला कर लेप करने से कर्दम नाम के विसर्प (चरम रोग) का शीघ्र नाश हो जाता है। (योगरत्नाकर)

एक पल जीरे का चूर्ण तथा आधापल सिन्दूर इन दोनों को कड़वे तेल में पकावे और उसे खुजली पर लगाने से सभी प्रकार की खुजली नष्ट हो जाती है। (भावप्रकाश)

यदि बुद्ध व्ययभाव अर्थात् द्वादशलग्न का हो तो जातक के विदेश जाने का योग बनता है। वह प्रियवादी, दुर्वचन बोलने वाले व्यक्ति से द्वेष करने वाला, अविवाहित जीवन यापन करने वाला अथवा नपुंसक होता है। (मानसागरी)

बुध अपने उच्च (कन्या) में हो तो जातक मनस्वी, बुद्धिमान्, बली, विचार की रक्षा करने वाला, आलसी, सूर्य का भक्त, विभव सम्पन्न, बुद्धिमान् और पापों से रहित होता है। (मानसागरी)

बहुतरां कुरुते समुदारतां चरितानि च वैरि समुन्नतिम्।
विभवता च मरुत्पति पूजितः क्रियगतोऽर्थगतोऽनुमतिप्रदः।
(मेषे गुरौ)

शनौ शशि गृहे–

विरलं रिपुमण्डलम् वृषऽम्बरस्थे प्रकरोति कर्म व्ययात्मकं साधुजनानुकम्पम्
द्विजेन्द्रदेवमतिथिर्विभावभाजकं ज्ञानात्मकं प्रीतिकरं सतां च।

मिथुने लाभे–विबुधप्रसिद्धः।

प्रियवाक्शुभगः कान्तः प्रवृत्तमो यदि सुकृतवान्नृपतिः।
सौख्यं सूरो मन्त्री ज्ञमन्दयोर्मध्यगे च हिमकिरणे।।

जन्म के समय में मेष का गुरु हो तो जातक सम्यग् उदार होता है तथा अच्छे अच्छे कार्य करने वाला, शत्रुओं का भी भला चाहने वाला, वैभवशाली, सोच समझकर कार्य करने वाला तथा अनुमति प्रदान करने वाला श्रेष्ठ अधिकारी होता है।
(मेषगत गुरु का फल)

दशम भाव में राशि होने से मनुष्य साधु जनों के उपकार में खर्च, देव ब्राह्मण आदि के सत्कार और ज्ञानात्मक साधुओं के प्रेमोत्पादक कार्य करने वाला होता है। (शनि के चन्द्रमा के गृह में रहने पर)

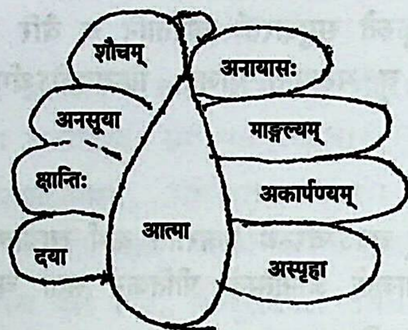
लाभ भाव में मिथुन राशि के रहने पर वह जातक प्रिय वाणी बोलने वाला, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर उत्तम प्रवृत्ति वाला, पुण्यात्मा, राजा के तुल्य, शौकीन, वीर और मन्त्री (गुप्त मनन करने वाला) तथा विद्वानों में प्रसिद्ध होता है। (मिथुन के लाभ में)

चन्द्रमा के घर में यदि शनि हो तो जातक के शत्रु अति स्वल्प होवें।

यदि बुध शनि से दुरुधरा योग हो तो जातक प्रिय वक्ता सुन्दर तेजस्वी प्रवृत्तिमार्ग गामी, पुण्यात्मा, राजा, सुखी, शूरवीर तथा राजमन्त्री होता है।

यह कुण्डली महाराज श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी की है, क्योंकि इन लक्षणों से युक्त महाराज प्रायः समन्वित प्रतीत हो रहे है। किसी का भी नाम न होने से यह कुण्डली स्वामी जी महाराज की है ऐसा अनुमान है। क्योंकि पूर्व में जो कुण्डली दी गयी है उसमें स्वामी करपात्री जी का नाम स्पष्ट है।

इस कुण्डली में जो ग्रह और उनका फल वह प्रायः श्री महाराजश्री लक्ष्वेश्वराश्रम जी में देखा गया है।



अनादि सुखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता निरन्तरमनन्ततास्फुरणरूपता च स्वतः। त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः।

(अद्वैत सि. १)

यह आत्मा शुद्ध, सूयारहित, क्षान्त स्वभाव, दया और आयास रहित, मंगल स्वभावा वाला, सकल कार्पण्यता दोष रहित और स्पृहा रहित है.इसलिए अष्टावक्र ने जनक से कहा—

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण, एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असङ्गो निस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव।। (अष्टा.गी. १/१२)

एको विशुद्धबोधव्यो; ऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखीभाव।। (अष्टा.गी. १/९)

अर्थ है यह आत्मा साक्षी-विभु-पूर्ण-अद्वितीय-मुक्त-चित् और अक्रिय तथा असङ्ग-निस्पृह-शान्त स्वरूप है और भ्रम से संसारवान् के समान दिखाई दे रहा है। इसलिए विचार कर इसे अद्वितीय स्वरूप 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार की विनिश्चय रूपी अग्नि (आत्मज्ञान) को प्रज्वलित करके भेदमूलक अज्ञान रूपी गहन वनको जला कर वीतशोक (चिन्ता रहित) होकर सुखी हो जाओ। यही कोष्ठक चित्राङ्कन का अभिकथन है।

मेरी अनादि सुखरुपता (मै अनादि सुखरूप हूँ) और निखिलदृश्यनिर्मुक्तता (मैं सम्पूर्ण दृश्यो से मुक्त हूँ) तथा मेरी निरन्तरमनन्तता (अर्थात् मैं निरन्तर अनन्त हूँ।) मैं व्यापक होने से देश परिच्छेद से शून्य हूँ तथा अनादि अनन्त होने से काल परिच्छेद से शून्य हूँ, सर्वात्म होने से वस्तु परिच्छेद से शून्य हूँ तथा सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य हूँ एवं मेरी स्वतः स्फुरणरूपता है (मैं स्वयं प्रकाश हूँ) तथा मैं तीनों कालों में परमार्थ स्वरूप हूं। सजातीय-विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदों से रहित आत्मा स्वरूप हूँ। यह सैकड़ों श्रुति वाक्यों से सिद्ध है। इसलिए मैं पूर्ण हरि (परमात्मा) स्वरूप ही हूँ।

(अद्वैत सि. १)

कालि कपालिनि शूलिनि भैरवि
मातङ्गि पश्चिमि त्रिपुरे।
वाग्देवि विन्ध्यवासिनि वाले
भुवनेशि चिरं पालय माम्।। (श्रीललिता स्त.र.)

ॐ (श्री प्रकाशानन्द यतिविरचिता)

।।अथवेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली कारिका संग्रहः।।

अदृष्टद्वयमानन्द; मात्मानं ज्योतिरव्ययम्।
विनिश्चित्य श्रुतेः साक्षात्; युक्तिस्तत्राधिधीयते।।१।।

हे कालि कपालिनि! शूलिनि! भैरवि! हे मतङ्ग कुमारि! पश्चिमि! त्रिपुरसुन्दरि! भुवनेश्वरि! बाला रूपिणि देवि! निरन्तर मेरी रक्षा करो। (श्रीललिता स्त.र.)

१. आत्मा सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य है। उसमें द्वैत प्रपञ्च नहीं है अथवा देशकाल वस्तु के परिच्छेद से शून्य है। अतएव अदृष्ट द्वय है। 'विद्यमानं द्वयं यस्मिन्, तद् अदृष्ट द्वयं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा अदृष्ट द्वय है अर्थात् आत्मा दृष्ट (प्रत्यक्ष) और अदृष्ट (इन्द्रियातीत) उभय रूप है।

२. आत्मा आनन्द स्वरूप है। उसमें दुःख का लेश भी नहीं है। आत्मा ही एक पुरुषार्थ है। 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः' इत्यादि श्रुति से सब कुछ आत्मा ही है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्यात्' 'न विभेति कुतश्चन' इत्यादि श्रुति से आत्मवेत्ता को भयशून्य बताया है। इसलिए आत्मा ही श्रोतव्य है। आत्मा ही मननादि के योग्य है।

३. आत्मा ज्योति (स्वयं प्रकाश) है। उसे अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उसके प्रकाश से सब प्रकासित है' 'न तत्र भासते सूर्यो शशाङ्को न पावक' इत्यादि वचनों से आत्मा प्रकाश रूप है। अतः उसमें असत्व का प्रसंग नहीं है तथा संशय भ्रम आदि कोई दोष नहीं है।

४. 'अव्ययमात्मा' आत्मा अव्यय है। उसमें कोई व्यय नहीं है। अतः देहादियों से भिन्न है। षड् विकार शून्य है। 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' न उत्पन्न होता है और न मरता है। 'आजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराण' इत्यादि वचनों से आत्मा सदा एक रस है।

इस प्रकार विकार रहित आनन्दघन प्रकाशस्वरूप यह आत्मा सकल प्रपञ्च से शून्य है। यह श्रुति प्रमाण के द्वारा सिद्ध है। अब प्रसिद्ध आत्मा के अपरोक्ष ब्रह्म स्वरूप की सिद्धि के लिए युक्ति का आश्रय ले रहे हैं।।१।।

आत्मा नित्योऽथवाऽनित्यो, भेदस्त्वाद्ये स्फुटोमतः।
अन्त्ये तु कृतहानिः स्यात्, प्रकृताभ्यागमस्तथा।।२।।

जीवाश्रया ब्रह्मपदा, ह्यविद्यातत्त्वविन्मता।
तद्विरुद्धमिदं वाक्य, मात्मात्वज्ञानगोचरः।।३।।

प्रत्यक्षादि प्रमाणानां, प्रमात्वं परतो यदि।
अनवस्थास्फुटा तत्र, स्वतस्त्वे दोषसंशयः।।४।।

लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध देहादि को आत्मा मानने पर आत्मसाक्षात्कार में श्रुति प्रमाण की क्या आवश्यकता है? कहते हैं कि—यदि आत्मा को देहादि की तरह अनित्य मानोगे तो उसमें कृत की हानि हो जायेगी अर्थात् परलोक को उद्देश्य करके जो आस्तिक जन जप, तप, व्रत, तीर्थ आदि कर रहे हैं वह व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि पुनर्जन्म तो होगा नहीं। 'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?' भस्मी भूत शरीर का पुनः आगमन कैसे होगा? तो इस समय किये शुभ-अशुभ कर्मों का आगे कोई फल नहीं होगा। वे व्यर्थ परलोकों के उद्देश्य से क्यों किये जा रहे हैं? और दूसरा दोष बताते हैं कि 'आकृताभ्यागमस्तथा' आत्मा को अनित्य मानने पर बिना किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल का भोक्ता आत्मा को माना जायेगा। इसलिए आत्मनित्य है।

संसार में विचित्रता है कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख इत्यादि विचित्रता जगत् में निर्विवाद सिद्ध है। इस विचित्रता का कारण भी विचित्र ही होना चाहिए। इसका कारण अगत्या अदृष्ट (धर्माधर्म) ही हो सकता है, जो पूर्वजन्म सम्बन्धि है। उस अदृष्ट का आश्रय देहादि नहीं हो सकता किन्तु अनादि अव्यय आत्मा ही उसका आश्रय है।।२।।

तत्त्ववेत्ता पुरुषों ने कहा है कि जीव अविद्या का आश्रय है अर्थात् अविद्या जीव निष्ठ है और ब्रह्म को विषय करने वाली है। अतः इस कथन के विरुद्ध आत्मा अज्ञान गोचर है, यह वाक्य है। यहाँ एक देशी का मत है कि आत्म शब्द से जीव कहा जाता है, वह जीव अज्ञान का आश्रय है विषय नहीं है। अज्ञान का विषय तो ब्रह्म ही है। जीव अनेक हैं, यदि एक जीव मानें तो व्यवहार नहीं बनेगा क्योंकि जिसको श्रवण मनन आदि से ब्रह्म साक्षात्कार होता है, वही मुक्त होता है, अन्य नहीं। इस प्रकार वन्ध और मोक्ष व्यवस्था ठीक बन जाती है।।३।।

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों को परतः प्रामाण्य है ऐसा मानें अर्थात् दूसरे के आधीन है प्रामाण्य हैं, तो दूसरे को तीसरे के आधीन तथा उसको चौथे के आधीन इस प्रकार अप्रामाणिकानन्त पदार्थ कल्पनारूप अनवस्था रूप दोष होगा और यदि उन्हें स्वतः प्रमाण

जीवब्रह्मप्रयोगाभ्या; मेकं वस्त्वथवाद्वयम्।
आद्येत्विष्टं ममैवस्याद्, द्वितीयेत्वन्मतक्षतिः।।५।।
अविद्यास्वाश्रयाभिन्नः, विषयो स्यात्तमो यतः।
यथा वाह्यं तमो दृष्टं, तथाचेयं ततस्तथा।।६।।
ब्रह्मात्मनोर्विभिन्नत्वे, भेदः स्वाभाविको यदि।
औपाधिकोऽथवा भेदः, सर्वथाऽनुपपत्तिकः।।७।।

माने तो दोष का सन्देह है। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण 'जन्यज्ञानं दोषवत्करणजन्यं जन्यज्ञानत्वाविशेषात् भ्रमवत्' इत्यादि अनुमान से प्रत्यक्षज्ञान में भी भ्रमज्ञान के तुल्य इन्द्रिय जन्य होने से दोष की सम्भावना हो सकती है।।४।।

सिद्धान्ती का कथन है कि जीव और ब्रह्मपद से एक वस्तु को लेते हो या दो वस्तुओं को? प्रथम पक्ष में हमारे (वेदान्ती) मत की पुष्टि होती है और दूसरे में तुम्हारे मत की हानि होती है।।५।।

अविद्या अपने आश्रय को विषय करती है क्योंकि वह तमोरूपा है। तमः शब्द वाच्य अज्ञान आश्रय तथा विषय के भेद की अपेक्षा नहीं करता। जैसे घर के भीतर का अन्धकार अपने आश्रयरूप घर में भीतर के देश को विषय न करे और उससे भिन्न देश को ढके ऐसी बात नहीं होती है। किन्तु वह जिस आश्रय में रहता है उसी को विषय करता है। इसी प्रकार अज्ञान का भी स्वभाव है। इसीसे दूसरा पक्ष अर्थात् जीव और ब्रह्म शब्द से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का ग्रहण करना भी ठीक नहीं है।।६।।

यदि ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न-भिन्न हैं तो उनका भेद स्वाभाविक है या औपाधिक? प्रथम पक्ष में परस्पर भिन्न होने से दो भेद होंगे—एक तो आत्म प्रतियोगिक ब्रह्मनिष्ठ भेद और दूसरा ब्रह्मप्रतियोगिक आत्मनिष्ठ भेद। यदि प्रथम पक्ष मानो तो आत्मा से भिन्न होने के कारण ब्रह्म जड़ हो जायगा। औपाधिक भेद भी नहीं बन सकता क्योंकि यहाँ प्रश्न है उपाधि जन्य औपाधिक है अथवा उपाधिज्ञेया अथवा उपाधितन्त्र। इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि भेदोत्पत्ति से पूर्व भी आत्मा में अज्ञान सिद्ध है। अतः उसको आश्रय और विषय की क्या अपेक्षा है?

दूसरा पक्ष भी नहीं बनता क्योंकि अज्ञान जड़ है और जड़ किसी का भासक नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपाधितन्त्र यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि तन्त्रतत्त्व तीन प्रकार से होता है—१. जन्यत्त्व से, २. आश्रयत्त्व से और ३. भास्यत्त्व से। इनमें से किसी प्रकार का भी अज्ञान निरूपित तन्त्रत्त्व जीवब्रह्म भेद में सम्भव नहीं है। कहा भी है—

लौकिकीवैदिकी चापि, नाज्ञाने दृश्यते प्रमा।
कार्यदृष्ट्याऽथकल्प्यं चेत्, लाघवादेकमेव तत्।।८।।

बन्धमोक्षव्यवस्थास्या; ज्जीवाभेदे कथं तव।
यथा दृष्टं तथैवास्तु, दृष्टत्त्वात्स्वप्नदृष्टवत्।।९।।

अज्ञाततत्त्वं नेष्टं चेद्, व्यवहारः कथं भवेत्।
नह्यदर्शनमात्रेण, विषण्णो नाशनिश्चयात्।।१०।।

सत्त्व त्रयं वदन् वादी, प्रष्टव्योऽत्राधुना मया।
सत्यं द्वैतमसत्यं वा, नाऽसत्ये त्रिविधं कुतः।।११।।

संक्षेप शारीरक में—'आश्रयत्त्व विषयत्त्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमोनाश्रयो भवति नापिगोचरः'।।७।।

अज्ञान में न तो कोई लौकिक प्रमाण है और न वैदिक प्रमाण है। यदि केवल काम को देखकर कल्पना की जाती है तो लाघवता के कारण एक ही अज्ञान की कल्पना उचित है।।८।।

यदि एक ही जीव है तो एक बद्ध है, एक मुक्त है यह बन्ध मोक्ष व्यवस्था कैसे होगी? समाधान जैसी देखी गयी है, वैसी ही होगी। जैसे स्वप्नद्रष्टा में स्वप्न देखी गयी है और वह कभी देव बनता है, कभी मनुष्य, कभी पशुपति बनता है। इस प्रकार एक स्वप्नद्रष्टा अपने को नाना प्रकार से देखता है। ऐसे ही जाग्रत् भी एक ही जीवरूप 'प्रतिरूपोवभूव' तत्तद्रूपो में परिणत हो जाता है।।९।।

यदि अज्ञात सत्ता नहीं मानते हो तो व्यवहार कैसे होगा। क्योंकि वस्तु के केवल अदर्शन होने पर उसके नाश के निश्चय से कोई दुःखी नहीं देखा जाता।।१०।।

तुम (एक जीववादी) यदि कहो कि स्वप्नवत् जाग्रत् में भी प्रातीतिक सत्ता वाले द्वैत से व्यवहार हो सकता है, इसलिए कुछ विरोध नहीं है, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि तुम्हारा स्वप्न दृष्टान्त ठीक नहीं है। क्योंकि स्वप्न का तो जाग्रत में वाध हो जाता है। परन्तु द्वैत का वाध साक्षात्कार से पहले नहीं होता। इसपर कहते हैं—तीन प्रकार की सत्ता (प्रातिमासिक, व्यावहारिक और परमार्थिक) मानने वाले वादी से हम पूँछते हैं कि—द्वैत सत्य है या असत्य? यदि असत्य है तो तीन प्रकार की सत्ता क्यों नहीं?।।११।।

द्वैतभेदे प्रतिज्ञानं, प्रत्यभिज्ञा कथं वद।
दशानां युगपत्सर्प, भ्रमे यद्वत्तथैव सा।।१२।।
सर्पभ्रमाद्विशेषोऽस्ति, जाग्रद्बोधेऽन्यथा कथम्।
इन्द्रियादेरुपादानं, तदभावे यतो न धीः।।१३।।
इन्द्रियाणां कारणत्वे, भवेच्चोद्यं तदा तव।
स्वप्नभ्रमे यथा तेषां, अन्वयव्यतिरेक धीः।।१४।।

उक्त कथनानुसार ज्ञान भेद से द्वैत भेद मानने पर 'सोऽयं घट' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी?

समाधान—दस पुरुषों को रज्जु में एक साथ सर्प भ्रम होने पर जैसे वे लोग कहते हैं कि—हम सबने एक ही सर्प देखा, बस वही दशा यहाँ पर जानो।

प्रश्न—तो भी स्वप्न से जागे हुए पुरुष को वही यह प्रपञ्च है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। अज्ञात सत्ता के न मानने पर इसकी क्या दशा होगी?

समाधान—मन्दान्धकार में एक ही रज्जु में जैसे सर्प भ्रम होने पर भागते हुए दस पुरुष परस्पर मिलकर कहते हैं कि हम सबने एक ही सर्प देखा है। इस प्रत्यभिज्ञा की जो गति है वही प्रपञ्च की भी समझो, बस इसमें सन्तोष करो वहाँ पर अपने-अपने भ्रम से सिद्ध हुआ पृथक्-पृथक् ही सर्प का दशो पुरुषों ने एक साथ अनुभव किया॥१२॥

पूर्व में पूर्वपक्षी ने कहा था कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भ्रम मात्र है उस भ्रम को दूर हो जाने पर प्रपञ्च की भीति जाती रहती है तो फिर अज्ञात सत्ता किसकी हो सकती है? और प्रपञ्च में जो एकता का अनुभव होता है, वह अज्ञान से ही होता है। जैसे अपने-अपने भ्रम से सिद्ध पृथक्-पृथक् सर्प में दशों लोगों को एकत्त्व भ्रम होता है। इसमें वादी विषमता दिखाते हुए कहता है कि—सर्प भ्रम से जाग्रद् बोध में विशेषता है, नहीं तो इन्द्रियों को कारणता कैसे होती? और इन्द्रियों के बिना जाने हो नहीं सकता?॥१३॥

अभिप्राय यह है कि सर्पादि रज्जु में पहले भी नहीं थे तथा पीछे भी नहीं रहे, केवल मध्य में ही भ्रम से प्रतीत होते हैं। किन्तु जाग्रत् सम्बन्धि घटादि पदार्थ पहले से ही सिद्ध है इन्द्रियाँ उनका प्रत्यक्ष करती है। अतः अन्वय तथा व्यतिरेक से भी इन्द्रियों में प्रपञ्च ज्ञान के प्रति कारणता सिद्ध है। इसलिए प्रपञ्च की अज्ञात सत्ता अवश्य मानी जायेगी अन्यथा विलक्षणता नहीं होगी। इस पर पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के मत को लेकर कहता है—नहीं ऐसा नहीं कह सकते।

मृदादीनां कारणत्वं, न चेदिष्टं घटं प्रति।
अविद्यायाः कारणत्वं, कथं सिध्येत्प्रमां विना।।१५।।
यथा सतो जनि नैंव; मसतोऽपि जनि र्न च।
जन्यत्वमेव जन्यस्य, मायिकत्वसमर्पकम्।।१६।।

प्रपञ्च के प्रति इन्द्रियों में यदि कारणता होती तो तुम्हारा यह पूर्वोक्त प्रश्न ठीक होता, किन्तु इन्द्रियों में कारणता है ही नहीं, किन्तु स्वप्न भ्रम में जैसे उनमें अन्वय और व्यतिरेक है वैसे ही जाग्रद् में भी समझो। क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है। सारांश यह है कि वस्तु की सत्यता प्रमा ज्ञान के आधीन होती है और प्रमाज्ञान यथार्थ वस्तु के आधीन होता है, यहाँ अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित ही है। इसलिए जब प्रमाज्ञान ही दोष युक्त है तो प्रमाज्ञान के प्रति इन्द्रियों की कारणता कैसे हो सकती है?।।१४।।

अविद्या योनयो भावाः, सर्वेऽपि बुद्बुदा इव।
क्षयमुद्भूय गच्छन्ति, ज्ञानमेकजलाधौ लयम्।।

ब्रह्म से अतिरिक्त ज्ञान ज्ञेय रूप समस्त कार्य अविद्याजन्य है, सब प्रातीतिक है। इस बात पर भगवान् वसिष्ठ जी ने कहा है कि—ये सम्पूर्ण ज्ञान-ज्ञेय रूप पदार्थ अविद्यामूलक है और बुद्बुदों की भाँति क्षणमात्र के लिए उदित होकर ज्ञानरूपी सागर में लीन हो जाते हैं। इस पर कहते हैं कि 'मृदादी नामिति' यदि घट के प्रति मिट्टी का कारण होना आपको आभीष्ट नहीं है अर्थात् अविद्या ही सबका कारण है एवं अविद्या ही मिट्टी रूप से परिणत हुइ है तथा अविद्या कल्पित कुलाल ने उसे लेकर आविद्यक घट बनाया है और यह सब स्वप्नावस्था में स्पष्ट ही है—श्रुति भी कहती है—'न तत्र रथा रथ योगा वा' अर्थात् स्वप्न में न रथ है और न रथ योग्य मार्गादि है। इस प्रकार वास्तविक सृष्टि का निषेध किया है। इसी प्रकार जाग्रत् काल में भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से घटादि प्रपञ्च का निषेध किया है। अतः मिट्टी आदि रूप से परिणत हुई अविद्या घटादि का उपादान कारण है। इस पर कहते हैं कि—यदि घट के प्रति मिट्टी कारण नहीं है तो प्रमा के बिना अविद्या में कारणता कैसे सिद्ध होगी?।।१५।।

पूर्व पक्षी का कथन है कि—यदि सभी पदार्थों को आविद्यक नहीं मानते हो तो लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमाणता सिद्ध होती है और यदि इन सबकी प्रमाणता न स्वीकार की जाय तो लोक और वेद से विरुद्ध हुआ वेदान्ती किस पक्ष का आश्रय करेगा? इसलिए केवल अविद्या को जगत् का कारण कह देना वेदान्ती का हठ मात्र है। इस प्रकार सिद्धान्ती के पक्ष को लेकर पूर्वपक्षी कहता है कि सुनो—जैसे सत् की उत्पत्ति नहीं होती

प्रतीतिमात्रं सत्त्वं चेत्, सत्त्वं प्रातीतिकं मतम्।
अविरोधान्मयापीष्टं, तद्भेदे वद का प्रमा।।१७।।

प्रत्येतव्यप्रतीत्योश्च, भेदः प्रामाणिकः कुतः।
प्रतीतिमात्रमेवैतद्, भाति विश्वं चराचरम्।।१८।।

ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन, यथा स्वाप्नं प्रतीयते।
विज्ञानमात्रमेवैतत्, तथा जाग्रच्चराचरम्।।१९।।

तन्तोर्भेदे पदो यद्वत्, शून्य एव स्वरूपतः।
आत्मनोऽपितथैवेदं, भानमात्रं चराचरम्।।२०।।

है वैसे ही असत् की भी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए कार्य का जन्यत्व होना ही मायिकत्त्व का बोध कराता है।।१६।।

सिद्धान्ती कहता है कि पूर्वकाण्ड का भी स्वर्णरूप साध्य साधन द्वारा अथवा अन्त:करण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म में ही तात्पर्य है। क्योंकि तात्पर्य विषयीभूत अर्थ में ही शब्द की प्रमाणता मानी जाती है। इसलिए पदार्थों का जो अविद्या कारणत्व कहा वह ठीक ही है। अत: अविद्या कल्पित जगत् का प्रतीति समकालीन सत्त्व उचित नहीं है। क्योंकि रज्जु-सर्प, शुक्ति रजत, गन्धर्वनगर और स्वप्न प्रपञ्च इन सब में प्रतीति समकालीन सत्त्व ही देखने में आता है। इस विषय में कहते हैं कि—प्रतीति ही यदि सत्त्व है तो सत्त्व प्रातीतिक कहा जायगा तथा इसका निर्दोष होने से हमको भी इष्ट ही है। और यदि ज्ञान और ज्ञेय का भेद मानो तो कहो इसमें क्या प्रमाण है? अर्थात् कोई प्रमाण नहीं है।।१७।।

ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रामाणिक कैसे हो सकता है? यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रतीति मात्र (ज्ञानरूप है) भास रहा है। तात्पर्य यह है कि जड़ प्रपञ्च को अपनी सिद्धि के लिए अवश्य ज्ञानकी अपेक्षा है, परन्तु ज्ञान को विषय की अपेक्षा नहीं है, यह सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए ज्ञान में विषय का अन्तर्भाव हो जाता है।।१८।।

शङ्का करते हैं कि विज्ञान ही जगद् रूप से भासता है ऐसी कल्पना क्यों करते हो? विज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र रूप से जगद् भासता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं?

इस पर कहते हैं कि—जैसे वास्तव में पट और तन्तु भेद से शून्य है। अर्थात् पट तन्तु रूप ही है, उससे भिन्न पट की सत्ता नहीं है। वैसे ही प्रतीति सिद्ध यह चराचर जगत् भी आत्मा से यदि भिन्न होता तो शून्य होता।।१९।।

आशय यह है कि कारण की सत्ता ही कार्य की सत्ता है। स्वतन्त्र रूप से कार्य

रज्जुर्यथाभ्रान्तदृष्ट्या, सर्परूपा प्रकाशते।
आत्मा तथा मूढबुद्ध्या, जगद्रूपः प्रकाशते।।२१।।

आत्मन्येवजगत्सर्वं, दृष्टिमात्रमसत्त्वकम्।
उद्भूय स्थितिमादाय, विनश्यति मुहु र्मुहुः।।२२।।

पूर्णानन्दाद्वयेशुद्धे, पापदोषादिवर्जिते।
प्रतिबिम्बमिवाभाति, दृष्टिमात्रं जगत्रयम्।।२३।।

की सत्ता नहीं है। यदि कार्य की स्वतन्त्र सत्ता होती तो तन्तु के अभाव में पट होता। इसमें भान मात्र होना यह हेतु है। भान प्रकाश को अर्थात् चेतन को कहते हैं। यह प्रकाशता वस्तुतः आत्मा में ही पर्यवसित होती है। इसलिए यह ठीक है कि आत्माभेद (एकत्व) होने पर जगत् असत् है॥२०॥

इस प्रसङ्ग में शङ्का करते हैं कि—यदि चिदात्मा जगद्रूप से भासित होता है तो वह दूध से दधि की भाँति विकारी हो जायगा। इस पर समाधान करते हैं कि—सुनिये विवर्त्तवाद का आश्रय करने से उक्त दोष नहीं आ सकता। यह दोष तो परिणामवाद में ही होता है। उसी को कारिका में दिखाते हैं कि जैसे भ्रान्त दृष्टि से रज्जु सर्परूप से प्रतीत होती है वैसे ही आत्मा भी जगद्रूप से भासता है॥२१॥

अज्ञात रज्जु सर्प रूप से भासती है यह बात ठीक है। क्योंकि सर्प की वह अधिष्ठान है। किन्तु आत्मा तो स्वयं प्रकाश है। अज्ञानवश वह जगद्रूप से भासित नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा जगत् का निमित्तमात्र है, अधिष्ठान नहीं। तो कहते हैं कि—आत्मा जगत् का निमित्त कारण नहीं है। किन्तु उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण होने से जगद् का उपादान कारण है। इसलिए अज्ञात आत्मा को जगत् का अधिष्ठान कहना उचित ही है। इस बात को कारिका से दिखाते हैं कि तत्त्वों के सहित यह समस्त दृष्ट मात्र जगद् आत्मा में उत्पत्ति और स्थिति को प्राप्त होकर बार-बार लय को प्राप्त होता है॥२२॥

पुनः शङ्का करते हैं कि—परिच्छन्न जगद्रूप होने से आत्मा भी तद्रूप होगा तथा जगद् नाम-रूप है तो आत्मा में भी नानारूपता आयेगी तथा अशुद्धि विषमता आदि जगद् धर्म आत्मा में आ जायेंगे और दुग्ध से दही की भाँति आत्मा पुनः अपने स्वरूप में भी नहीं आयेगा। इसलिए शङ्काओं का समाधान करते हैं कि—इन पूर्वोक्त दोषों में से एक भी दोष आत्मा में नहीं आ सकता है। क्योंकि अज्ञानवश आत्मा में परिच्छन्नतादि जगद्रूपता है परन्तु वास्तव में नहीं। इसी बात को आगे की कारिका में दिखाते हैं।

यतत्त्वं वेदगुप्तं परमसुखतमं नित्यमुक्त स्वभावं,
सत्यं सूक्ष्मात्सुसूक्ष्मं महदिदममृतं मुक्तमात्रैकगम्यम्।
यस्यांशे लेशमात्रं जगदिदमखिलं भ्रान्तिमात्रैक देहम्,
प्रत्यग्ज्योतिस्वरूपं शिवमिदमधुना कथ्यते युक्तितोऽत्र।।२४।।

।।इति पूर्वार्धम्।।

ॐ

अथ वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली उत्तरार्द्धः।।

कारिका—

आत्मायं सर्वसग्बद्धो, भानुभासक उच्यते।
नित्योऽयमविनाशित्वात्, उपादेयः कथं भवेत्।।१।।

समस्त पाप दोषादि से रहित शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप, पूर्ण आनन्द एवं आद्वितीय आत्मा में दृष्टि मात्र तीनों जगत् (जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति) कालीन प्रतिबिम्ब के समान प्रतीत होते हैं। अर्थात् जैसे बिम्ब के समीपता से दर्पण में प्रतिबिम्ब प्रतिभाषित होता हुआ भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, वैसे ही आत्मा भी जगदाकार में भासित होता हुआ भी अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता क्योंकि जगद्रूपता उसमें मिथ्या प्रतीत होती है। उक्तञ्च भगवान् वसिष्ठेन—

तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तु दृष्टयः,
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः।
तथा यस्य चिन्मयीलीला जगदेतच्चराचरम्,
तस्य विश्वात्मकत्त्वेऽपि खण्डयते नैकपिण्डता।।

उस चैतन्य रूपी विस्तृत दर्पण में सम्पूर्ण विश्व प्रतिबिम्बित होता है जैसे तालाव में तट के वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं। उसकी विश्वात्मक होने पर भी उसकी अद्वितीयता खण्डित नहीं होती।।२३।।

जो तत्त्व वेदों में गुप्त है, परम सुख स्वरूप है, मुक्त पुरुषों के द्वारा ही जो गम्य है, नित्य मुक्त स्वभाव है, जो सत्य है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, महान् है, अमृतस्वरूप है और जिसके एक अंश में समस्त भ्रान्ति रूप जगत् स्थित है, जो प्रत्यग् तथा ज्योतिःस्वरूप है तथा कल्याणमय है। उस वस्तु को हम युक्तिपूर्वक यहाँ पर कहे हैं।।२४।।

।।इति पूर्वार्धम्।।

अथ वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली उत्तरार्ध

यह आत्मा सर्व व्यापक है। सूर्यादि प्रकाशों का भी प्रकाशक है—'तमेव भान्तमनु

य आत्मा सर्ववस्तूनां, यदर्थं सकलं जगत्।
आनन्दाब्धिः स्वतन्त्रोऽसा, ऽवनादेयः कथं वद।।२।।

यदन्यद्वस्तु तत्सर्वं, यद्भेदे नरशृङ्गवत्।
सत्ता सर्वपदार्थाना, मनादेयः कथं वद।।३।।

यद्वशे प्राणिनः सर्वे, ब्रह्माद्याः कृमयश्च ये।
ईशानः सर्वभूताना, मनादेयः कथं भवेत्।।४।।

यच्चक्षुः सर्वभूतानां, मनसो यन्मनो विदुः।
यज्ज्योति ज्योतिषां देवो, नोपादेयः कथं विभुः।।५।।

मोदप्रमोदपक्षाभ्या, मानन्दात्मा तमोगतः।
जीवयत्यखिलांल्लोकान्, नोपादेयः स्वयं कुतः।।६।।

भाति सर्वम्, तस्यभासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतियों से वह सबका प्रकाशक है तथा अविनाशी होने से नित्य है तो फिर उपादेय कैसे हो सकता है?॥१॥

जो आत्मा सर्ववस्तुओं का आत्मा अर्थात् सर्व वस्तुरूप है और जो आनन्द का समुद्र है एवं जो समस्त पदार्थों की सत्ता अर्थात् जिसके अस्तित्त्व से सबमें अस्तित्त्व है। वह आत्मा अनादेय (अग्राह्य) कैसे हो सकता है?॥२॥

आत्मा से भिन्न घट-पट आदि सम्पूर्ण पदार्थ भी आत्मरूप है। यदि उन्हें भिन्न माना जाय तो वे आत्मसत्ताशून्य होने से नृशृङ्ग के समान तुच्छ हो जायेंगे। इस प्रकार जो सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता है, वह अनादेय कैसे हो सकता है॥३॥

ब्रह्म से लेकर कृमि मशकादि पर्यन्त समस्त प्राणी जिसके वश में रहते हैं और जो सबका नियन्ता है वह आत्मा अनादेय कैसे हो सकता है॥४॥

जो आत्मा सभी प्राणियों का चक्षुरूप है तथा तत्त्ववेत्ता ऋषि जिसे मन का भी मन बताते हैं एवं जो सभी ज्योतियों की ज्योति (प्रकाशक) है। ऐसा स्वयं प्रकाश व्यापक आत्मा अनादेय कैसे होगा?॥५॥

इष्ट वस्तु का स्मरण करने से जो हर्ष होता है उसे मोद कहते हैं और वही निरन्तर अभ्यास करने से उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ प्रमोद कहलाता है। जो अविद्या में प्रतिबिम्बित आनन्दात्मा मोद और प्रमोद रूप दोनों पक्षों से युक्त है और समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करता है वह आत्मा अनादेय कैसे है?॥६॥

यस्यानन्दसमुद्रस्य, लेशमात्रं जगद्गतम्।
प्रसृतं ब्रह्मलोकादौ, सुखाब्धिं कःपरित्यजेत्।।७।।

हैरण्यगर्भमैश्वर्यं, यस्मिन्दृष्टे तृणायते।
सीमा सर्वपुमर्थनां, अपुमर्थः कथं भवेत्।।८।।

यत्कामा ब्रह्मचर्यं त, इन्द्राद्याः प्राप्तसम्पदः।
स्व-स्व भोगं परित्यज्य, अपुमर्थः कथं नृणाम्।।९।।

यद्दिदृक्षा फलाः सर्वा, वैदिक्यो विविधाः क्रियाः।
यागाद्या विहितास्तस्मिन्, उपेक्षा वदते कथम्।।१०।।

यद्दृष्टिमात्रतः सर्वाः, कामाद्याः दुःखभूमयः।
विनश्यन्ति क्षणेनासा, वुपादेयः कथं न ते।।११।।

जिस परमानन्द समुद्र के लेशमात्र से यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दित होता है और जो परमानन्द स्वरूप आत्मा यहाँ से ब्रह्मलोकादि तक व्याप्त है, ऐसे परमानन्द सुख के सागर को कौन छोड़ेगा?॥७॥

जिसके दर्शन मात्र से हिरण्यगर्भ का भी ऐश्वर्य तृण के समान हो जाता है और जो सम्पूर्ण पुरुषार्थों की सीमा है। वह आत्मा परम पुरुषार्थ क्यों नहीं है? अर्थात् अवश्य ही पुमर्थ (परम पुरुषार्थ) है॥८॥

इन्द्रादिक देवताओं ने अपने-अपने स्वर्गीय भोगों को त्याग कर कठोर ब्रह्मचर्य तप द्वारा आत्मज्ञान रूपी परम सम्पदा को प्राप्त किये, वह आत्मा सभी मनुष्यों का पुरुषार्थ रूप क्यों नहीं?॥९॥

नाना प्रकार की समस्त वैदिक यज्ञ-यागादि क्रियाएँ जिस आत्मा के दर्शन रूप फल देने वाली है, अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा परम्परा से मोक्ष है ऐसे आत्मतत्त्व से तुम्हारी उपेक्षा क्यों हुयी?॥१०॥

जिस आत्मा के दर्शन मात्र से दुःख के कारणभूत समस्त काम-क्रोधादि क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं वह आत्मा तुम्हारे लिए उपादेय क्यों नहीं है?॥११॥

अह्लाद रूपता यस्य, सुषुप्ते सर्व साक्षिकी।
तत्रोपेक्षाभवेद्यस्य, तदन्यः स्यात्पशुः कथम्।।१२।।

विरुद्धयोरभेदो हि, न वेदेन प्रमीयते।
अनन्यगतिकत्वेन, मानान्तरस्यवाधनम्।।१३।।

ब्रह्माज्ञानाज्जगज्जन्म, ब्रह्मणोऽकारणत्वतः।
अधिष्ठानत्वमात्रेण, कारणं ब्रह्मगीयते।।१४।।

प्रश्नस्य ज्ञानपूर्वत्वात्, आक्षेपे प्रतियोगिधीः।
अवश्यं भाविनी पूर्वा, विरोधः स्यादितोऽन्यथा।।१५।।

साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने, समनन्तर निश्चितिः।
अध्यस्यमानं नास्तीति, बाध इत्युच्यते बुधैः।।१६।।

उपमर्द्यस्वभावत्व, अविद्याया विरोधिता।
तत्कर्तृत्वं तु विद्यायाः, प्रकाश तमसोरिव।।१७।।

जिसकी आनन्द रूपता और साक्षित्व सुषुप्ति में सबको प्रतीत होती है उस आत्मा की उपेक्षा जो करे उससे बढ़कर पशु कौन होगा?॥१२॥

दोनों विरुद्ध धर्मी पदार्थों का अभेद वेद द्वारा प्रमाणित नहीं है तथा कोई अन्य गति न होने से यह भ्रान्तिमूलक प्रपञ्च श्रुति प्रमाणों से बाधित हो जाता है॥१३॥

जगत् की उत्पत्ति के प्रति ब्रह्म कारण नहीं है। किन्तु ब्रह्म के अज्ञान से जगत् का जन्म होता है (अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्) और यह ब्रह्म तो केवल अधिष्ठान मात्र होने से उपादान कारण कहलाता है॥१४॥

यहाँ शंका पक्ष है कि—अज्ञान ही नहीं है तो उसे जगत् के जन्मादि के उपादान कारण रूप से उपस्थित करना ठीक नहीं है। सिद्धान्त कहता है ऐसा मत कहो क्योंकि यह नियम है कि प्रश्न ज्ञानपूर्वक होता है और अज्ञान निषेध में प्रतियोगी का (अज्ञान का) ज्ञान अवश्य ही पहले रहना चाहिये नहीं तो कथन में विरोध उपस्थित होगा॥१५॥

सिद्धान्ती कहता है कि—अधिष्ठान के साक्षात्कार के अनन्तर जो निश्चय होता है कि अध्यस्यमान रज्जु में सर्पादि कुछ भी नहीं है यही बाध कहलाता है॥१६॥

उक्त विषय पर सिद्धान्ती का कथन—उपमर्द्यत्त्व (उपमर्दन के योग्य) अविद्या का स्वभाव

कल्पितोप्युपदेष्टा स्याद्, यथाशास्त्रं समादिशेत्।
न चाविनिगमो दोषो, ऽविद्यावत्वेन निर्णयात्।।१८।।

उपाधिसंश्रयो ह्यात्मा, आनन्दत्वं तदाश्रयः।
विशिष्ट शक्य पक्षे तु, व्यक्ति र्वा शक्तिगोचरः।।१९।।

आनन्दरूपमात्मानं, सच्चिदद्वय तत्त्वकम्।
अपूर्वादि प्रमाणोक्तं, प्राप्याहं तद्वपुः स्थितः।।२०।।

योऽहमद्वयवस्त्वेव, सद्वये दृढ निश्चयः।
प्राप्तं चानन्दमात्मानं, सोऽयमद्वयविग्रहः।।२१।।

नास्ति ब्रह्म सदानन्द, मिति मे दुर्मतिः स्थिता।
क्वगता सा न जानामि, यदाऽहं तद्वपुः स्थितः।।२२।।

है तथा उपमर्दकत्त्व विद्या (ज्ञान का) स्वभाव है। बस यह ही इन दोनों में विरोधिता है। जैसे प्रकाश और अन्धकार परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक अर्थात् बाध्य-बाधक है। वैसे ही विद्या और अविद्या भी परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक है॥१७॥

आचार्य उपदेश भी कल्पित है और शिष्य भी कल्पित है। इसलिए यथा शास्त्र उपदेश मात्र ही परमार्थ है। ऐसा निर्णीत हो जाने पर इसमें विनिगमना भाव रूप दोष नहीं है। प्रतिबिम्ब जैसे कल्पित होने पर भी प्रतीति का जनक होता है वैसे ही गुरु शिष्यादि के उपदेश को जानना चाहिये॥१८॥

पुनः सिद्धान्ती का कथन है कि—उपाधि से युक्त आत्मा ही आनन्दत्त्व का आश्रय है। यह विशिष्ट शक्य पक्ष में कहा है। अर्थात् आनन्दत्त्व धर्म विशिष्ट आनन्द शब्द के शक्यार्थ मानने में कहा गया है अथवा केवल व्यक्ति को ही शक्यार्थ माने तो भी आत्मा ही कहा जाता है अथवा उभयथा जाति-व्यक्ति दोनों पक्षों में भी—आत्मा ही शक्यार्थ है॥१९॥

मैं सत् चित् अद्वयस्वरूप और 'अपूर्वमनन्तरम्' इत्यादि श्रुति प्रमाणों से कहे गये आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करके तद्रूप स्थित हुआ हूँ॥२०॥

जो मैं अद्वितीय आत्मा वस्तु होने पर भी द्वैतरूप मिथ्या प्रपञ्च को सत्य समझता था परन्तु अब मैं आनन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करके अद्वय रूप से स्थित हो गया हूँ॥२१॥

ब्रह्म सदा आनन्द रूप नहीं है इस प्रकार की मेरी बुद्धि दुर्मति थी जबकि मैं तद्रूप से स्थित हुआ तो न मालूम मेरी वह असद्बुद्धि कहाँ चली गयी?॥२२॥

पूर्णानन्दाद्वये तत्त्वे, मेर्वादि जगदाकृतिः।
बोधेऽबोध कृतैवासी, दबोधः क्व गतोऽधुना।।२३।।

संसाररोगसंग्रस्तो, दुःखराशि रिवापरः।
आत्मबोधसमुन्मेषा, दानन्दाब्धिरहो स्थितः।।२४।।

योऽहमल्पेपि विषये, रागवानतिविह्वलः।
आनन्दात्मनि संप्राप्ते, स रागः क्व गतोऽधुना।।२५।।

यस्य मे जगतां कर्तुः, कार्यैरपहृतात्मनः।
आविर्भूतपरानन्द, आत्मा प्राप्तः श्रुते र्बलात्।।२६।।

परामृष्टोऽसि लब्धोसि, प्रोषितोऽसि चिरं मया।
इदानीं त्वामहं प्राप्तो, न त्यजामि कदाचन।।२७।।

त्वां विना निःस्वरूपोऽहं, मां विना त्वं कथं स्थितः।
दिष्ट्येदानीं मया लब्धो, योसि सोसि नमोस्तु ते।।२८।।

पूर्णानन्द अद्वतीय तत्त्व में ही यह समस्त मेरु (पर्वत) आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अज्ञान से कल्पित है। अधिष्ठान का बोध होने पर वह अज्ञान न जाने कहाँ चला गया?॥२३॥

संसार रूपी रोग से कवलित हुआ मैं पहले दुःख राशिरूप था परन्तु आत्मबोध के उत्पन्न होते ही अब मैं आनन्द का समुद्र बन गया हूँ॥२४॥

जो मैं थोड़े से विषय सुख में अत्यन्त अनुराग करके भाँति-भाँति से विह्वल रहता था, वही अब मैं आनन्द स्वरूप आत्मा के प्राप्त होने पर न जाने राग कहाँ चला गया॥२५॥

पहले संसारिक कार्यों में मेरा चित्त आकर्षित रहता था परन्तु आज श्रुतियों के बल से मुझे परमानन्द आत्मा प्राप्त हो गया है॥२६॥

हे प्रभो! अब तुम सम्यक् प्रकार से जाने गये हो और प्राप्त हो गये हो, बहुत काल से मैंने तुम्हें भुला रखा था अब तुम मुझे मिल गये हो, अतः अब मैं तुम्हें कभी भी नहीं छोडूँगा॥२७॥

तुम्हारे बिना मैं स्वरूप रहित हूँ तुम मेरे बिना कैसे स्थित रह सकते हो? अहो भाग्य से आज मैंने तुम्हें प्राप्त कर लिया है। आप जो भी हो और जैसे भी हो आपको मेरा नमस्कार है॥२८॥

देहेऽहंमाननिगडै, र्बद्धोऽबोधाख्य तस्करैः।
चिरं ते दर्शनादेव, त्रुटितं बन्धनं क्षणात्।।२९।।

विशुद्धोस्मि विमुक्तोस्मि, पूर्णात्पूर्णतमा कृतिः।
असंस्पृश्य तमात्मान; मन्तर्ब्रह्माण्डकोटयः।।३०।।

तत्त्वमादि वचोजाल; मावृत्तमसकृत्पुरा।
इदानीं तत्श्रवादेव, पूर्णानन्दो व्यवस्थितः।।३१।।

आत्मसत्तैव द्वैतस्य, नान्या यतस्ततः।
आत्मन्येव जगत्सर्वं, दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।।३२।।

सत्यं ज्ञानमनन्तं च, पूर्णनन्दसुविग्रहम्।
मान्त्रवर्णिकमात्मानं, विनिश्चित्य विमुच्यते।।३३।।

कर्म मूलमनर्थानां, तच्च ज्ञानेन बाध्यते।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तथा च श्रुति शासनम्।।३४।।

इति यतिवर्यस्वामिश्रीप्रकाशानन्द विरचिता वे.सि.मु. संपूर्णम्।।ॐ तत्सत्।।

अज्ञानरूपी डाकुओं ने देहाभिमान रूपी जंजीरों से मुझे बहुत दिनों से बाँध रखा था परन्तु आज तुम्हारे (आत्मा के) दर्शन मात्र से मेरा बन्धन क्षणभर में टूट गया।।२९।।

मैं विशुद्ध हूँ अर्थात् मुझमें कोई भी आविद्यक दोष नहीं है, अतएव समस्त बन्धनों से विमुक्त हूँ। मैं पूर्ण से भी पूर्णतम हूँ। मेरी आत्मा का स्पर्श न होते हुए भी उसमें करोड़ो ब्रह्माण्ड विराज रहे हैं।।३०।।

पहले मैंने तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य समूह की बहुत बार आवृत्तियाँ करी परन्तु इस समय गुरु मुख से एक बार के श्रवण मात्र से ही मैं पूर्ण आनन्द रूप से स्थित हो गया हूँ।।३१।।

आत्म सत्ता ही द्वैत की भी सत्ता है और आत्म सत्ता से भिन्न द्वैत की सत्ता नहीं है। इसलिए आत्मा के दृष्ट और श्रुत होने पर यह जगत् दृष्ट और श्रुत हो जाता है।।३२।।

सत्य और ज्ञान स्वरूप-अनन्त-पूर्ण आनन्दस्वरूप तथा मन्त्र वर्णों से सिद्ध आत्मा का अभिन्न रूप से निश्चय करके प्राणी मुक्त हो जाता है।।३३।।

समस्त अनर्थों की जड़ कर्म है। इसका ज्ञान से बाध हो जाता है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इस श्रुति की यही आज्ञा है।।३४।।

इति यतिवर्य स्वामिश्रीप्रकाशानन्द विरचिता वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा।।ॐ तत्सत्।।

महाविद्या अनुमानम्–दृष्टान्ते निर्णीतव्याप्तिवलेन पक्षे वाद्यनमिभमत साध्यसाधकम्। यथा–घट ज्ञानयोः सम्बन्ध आत्मनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात् सत्तावत्।

त्रिविधा तन्त्रता–१. कारण तन्त्रता। २. आधार तन्त्रता। ३. प्रकाश तन्त्रता।

अपरोक्षत्वम्–प्रमातुरव्यवहितत्त्वम्। विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वात् गुणेत्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात्। (जैमि.सू. ९/३/१५)

दृष्टि-सृष्टि वादः

१. प्रतीतिमात्रकालीनं जगत्।

महाविद्या का अनुमान

दृष्टान्त में निर्णीत व्याप्ति के बल से पक्ष में वादी जिसे न चाहे ऐसे साध्य का साधक अनुमान यहाँ सत्ता दृष्टान्त है। जिसका आत्म निष्ठत्त्व निर्णीत है तथा घट ज्ञान सम्बन्ध पक्ष है और आत्मनिष्ठत्त्व साध्य है और ज्ञाननिष्ठत्त्व हेतु है। व्याप्ति इस प्रकार है कि—जहाँ-जहाँ ज्ञान निष्ठत्त्व है वहाँ-वहाँ आत्म निष्ठत्त्व है। जैसे सत्ता निर्विवाद आत्मनिष्ठ है।

तन्त्रता तीन प्रकार की है—१. कारण के आधीन होना। २. आधार के आधीन होना और ३. प्रकाश के आधीन होना।

प्रमाता को जिसका व्यवधान शून्य यथार्थ ज्ञान हो उसके ज्ञानकर्मों का वस्तु के साथ स्पष्ट सन्निकर्ष होना चाहिए। सन्देह होने पर यह स्थाणु है अथवा पुरुष है, यह विकल्प होता है। क्योंकि दोनों में भ्रमावस्था समानता है। किन्तु गुणों के प्रत्यक्ष में 'गुणेत्वन्याय-कल्पनैकदेशत्वात्' गुण में अन्याय की कल्पना एकदेशीय होता है॥

(जैमिनिसूत्र ९/३/१५)

दृष्टि-सृष्टिवाद

१. दृष्टि-सृष्टि वादियों का कहना है कि जो जगत्पदार्थ कल्पित माना जाता है उसकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। अतः समस्त जागत्प्रपञ्च की दृष्टि समकालिक सृष्टि मानकर घटादि दृष्टि में चक्षु का सन्निकर्ष का अनुविधान प्रत्यय-दृष्टि से पूर्व घटादिकों का अभाव होने से नहीं हो सकता है। अतः स्वप्न के समान जाग्रत्कालीन घटादिकों का अनुभव भी चाक्षुष नहीं है।

यहाँ यह शंका होती है कि यदि दृष्टि-सृष्टिवाद का आलम्बन करके सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पित माना जाय, तो उसकी कल्पना करने वाला कौन होगा? अविद्यारूप उपाधि से रहित यह आत्मा है अथवा अविद्यारूप उपाधि से उपहित यह आत्मा है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षावस्था में भी अन्य साधकों की अपेक्षा न करने से निरुपाधिक

२. दृष्टिमात्रं सृष्टि।

कल्पक आत्मा की अवस्थिति होने के कारण प्रपञ्च की अनुवृत्ति होगी और इससे मोक्ष और संसार में अन्तर समाप्त हो जायगा। इसलिए अविद्या से उपहित आत्मा संसार का कल्पक है मानना पड़ेगा। परन्तु सिद्धान्तः यह द्वितीय पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अविद्या भी कल्पित ही है। इससे उस अविद्या की कल्पना से पहले ही कल्पक अविद्योपहित आत्मा का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः अविद्या की सृष्टि हो ही नहीं सकेगी।

उपर्युक्त पूर्वपक्षी के उत्तर में दृष्टिसृष्टिवादी का कथन है कि—पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर अविद्या का कल्पक है। यह अविद्या प्रथम कल्पित है, यह सिद्ध नहीं होगा। इससे कल्पक और कल्पना के प्रवाह में अनवस्था दोष नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च कल्पक स्वरूप से श्रुतिसिद्ध अविद्योपहित आत्मा पूर्व-पूर्व अविद्या के विना प्रपञ्च का कल्पक हो ही नहीं सकता।

यदि यहाँ शंका हो कि—अविद्या को अनादि रूप से स्वीकार किया गया है, इसलिए सुक्ति-रजत के समान उसको कल्पित नहीं मान सकते। यदि हठात् उसे मानते हैं तो सादि और अनादि का जो विभाग है वह असंगत होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि—जिस तरह स्वप्न में कल्प्यमान किसी गोपुर-आदि की पूर्वसिद्ध स्वरूप से कल्पना की जाती है और किसी की उसी काल में उत्पद्यमान रूप से कल्पना की जाती है, वैसे ही जागरित अवस्था में भी किसी अविद्यादि पदार्थ की अनादि रूप से कल्पना की जाती है। इस कल्पना से सादि और अनादि पदार्थों के विभाग की उत्पत्ति हो सकती है। सादि-अनादि विभाग की उत्पत्ति के कथन से कार्य-कारणभाव की भी उत्पत्ति हुई समझनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष के प्रति घटादि विषय जो कारण हैं, उनको घटादि प्रत्यक्ष से पूर्व अज्ञात ही मानना होगा, अन्यथा कार्य-कारणभाव का विघात होगा। इसी प्रकार अविद्या से उपहित एक चिदात्मा ही यदि अपने में संसार की कल्पना करता है, तो संसारी जीव के एक होने से गुरु-शिष्य विभाग और देव-तिर्यगादि विभाग अनुपपन्न होगा, ऐसी शंका के उत्तर में कथन है कि—सादि अनादि-विभाग के युक्तिसिद्धत्व का प्रतिपादन करने से यह प्रतीत होता है कि वस्तुतः प्रत्यक्ष के प्रति विषय के कारण न होने पर भी उसकी कारणरूप से कल्पना की गयी है। अतः प्रतीति कालीन मात्र ही जगत् है।

२. सिद्धान्त में द्वितीय पक्ष यह है कि—'दृष्टिमात्रं सृष्टिः' अर्थात् दृष्टिगत जगत् पदार्थ मात्र ही सृष्टि है। दृष्टि शब्द से प्रत्यक्ष प्रतीति ही विवक्षित है परोक्ष नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रतीति ही विषयाभिन्न होने से प्रातिभासिक पदार्थ की साधक हो सकती है। इस परिस्थिति

में वियदादि पदार्थ प्रातिभासिक सिद्ध न होंगे, क्योंकि वे श्रुतिमात्र गम्य हैं। यहाँ शंका है कि श्रुतिमात्र सिद्ध होने से उसका कल्पक कौन होगा? उक्त के उत्तर में कथन है कि वस्तुतः उन आकाशादिकों का कल्पक कोई नहीं है। यदि शंका हो कि 'आत्मनः आकाश सम्भूतः' श्रुति निरालम्ब होगी तो इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष का कथन होगा कि—ऐसा कभी नहीं होगा, क्योंकि उन श्रुतियों का आलम्बन प्रपञ्चशून्य ब्रह्म और जीव का ऐक्य है। अतः उसके प्रामाण्य के विषय में अनुपपत्ति सम्भव नहीं होगी। अध्यारोप और अपवाद से प्रपञ्च शून्य ब्रह्म की अवगति होती है। इसलिए समस्त प्रपञ्च से शून्य ब्रह्म की अवगति के उपायरूप से श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का कथन किया गया है। वस्तुतः सृष्टि आदि का प्रतिपादन श्रुतियों का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं है। इस प्रकार भाष्यादि निबन्धों में प्रतिपादन किया गया है। यदि वियदादि सर्ग और उसके क्रम के प्रतिपादन में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है, तो वियदपाद और प्राणपाद में परस्पर विरोध के परिहार में जिस प्रयत्न का आलम्बन सूत्रकार और भाष्यकार प्रभृति ने किया है, वह व्यर्थ होगा। उत्तर है ऐसा नहीं होगा, क्योंकि न्यायों की व्युत्पत्ति के लिए कथंचित् तात्पर्य को अंगीकार करके वियत्पाद और प्राणपाद में यत्न किया गया है, इसलिए शास्त्रदर्पणकार अमलानन्द ने कहा है—

श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं, स्वीकृत्येदमिहेरितम्।
ब्रह्मात्म्यैक्यपरत्वात्तु, तासां तन्नैव विद्यते।।

'स इमाँल्लोकान् असृजत्' इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य मानकर ही वियत्पाद और प्राणपाद में विरोध का समाधान किया गया है, क्योंकि सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्म्यैक में ही होने से सृष्टि के प्रतिपादन में उसका तात्पर्य नहीं है। इसलिए कहा है—

दृष्टिरेव विश्वस्य, सृष्टिरित्यपरा विधा।
ज्ञानस्वरूपमेवाहु, रित्येतत् स्मृतियानिका।।

अर्थात् सिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थों में दृष्टि-सृष्टिवाद का निरूपण अन्य प्रकार से किया गया है। दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, दृश्य पदार्थ को स्वप्रकाश-ज्ञानस्वरूप पृथक्रूप से मानने में कोई प्रमाण नहीं है और इस अर्थ की प्रतिपादिका स्मृति भी उपलब्ध ही है—

ज्ञानस्वरूपमेवाहु; जगदेतत् विचक्षणः।
अर्थस्वरूप भ्राम्यतः, पश्यन्त्यन्ये कुदृदृष्टयः।।

अर्थात् विवेकी पुरुष इस प्रत्यक्ष सिद्ध जगत् को ज्ञानात्मक ही कहते हैं; परन्तु कुछ भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानस्वरूप जगत् को ज्ञानसत्ता से भिन्न देखते हैं।

विचित्रशक्तिकमेकमज्ञानम्। अज्ञानोपाधिको जीव एकः। (वैदान्तसि.मु.का., पृ.८)

एक एव नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव उपनिषदान्मात्रगम्यो वस्तुतः। स एवाज्ञानमाश्रित्य जीवभावं लब्ध्वा देवतिर्यगादि देहान् परिकल्प्य तदुपकरणत्वेन ब्रह्मण्डादि सृष्ट्वा।

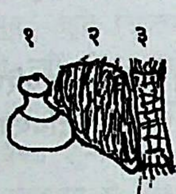
विद्वान् कर्तृ भोक्तृ संसारि जरामरण जन्मादि शून्य स्वप्रकाश सच्चिदानन्दपरिपूर्ण स्वभावाशनाद्यतीतास्थूलानणु नेति नेति सत्यज्ञानादिलक्षण सर्वजगदधिष्ठान-भूतमात्मानमागमाचार्यस्वानुभवैकरूपः।

जैसे रज्जु के अज्ञान होने पर अनेक प्रकार से सर्प धारा माला इत्यादि नाना प्रकार की रचना करती देखी जाती है। वैसे ही अज्ञानवश असङ्ग चिदात्मा ईश्वर भी प्रपञ्च की रचना करता है। अज्ञान के बिना प्रपञ्च की रचना नहीं हो सकती। अतः कलयमान अज्ञान एक है या अनेक? इस विषय में कहते हैं कि जैसे एक निद्रादोष से स्वप्न में अनेक प्रकार के कार्यों की रचना करता हुआ देखा जाता है। इसी प्रकार कार्यों की अन्यथानुपपत्ति विचित्र शक्ति वाले एक अज्ञान को लेकर विश्राम करती है, यही ठीक है। इसीलिए अज्ञान जीवोपाधि है। अज्ञानरूपोपाधि के एक होने से तदवच्छिन्न आत्मा भी जीवभाव को प्राप्त हुआ एक ही है। (वेदान्तसि.मु.का. ८)

देहात्मवाद का आश्रयण करके ही जीव भेद का अनुभव होता है। इसके सिद्ध होने पर यह शङ्का हुयी कि जाग्रत् अवस्था में जीव भेद का अनुभव क्यों नहीं होता है इसका समाधान करते हैं कि—वास्तव में एक ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव यह आत्मा उपनिषद् मात्र गम्य वस्तु है। वह अज्ञान का आश्रय करने से जीव भाव को प्राप्त होकर देव-पशु कीट-वृक्ष-मनुष्यादि शरीरों की कल्पना करके फिर उन-उन शरीरों के भोग साधन रूप से ब्रह्माण्ड से लेकर चौदह भुवनों की रचना करके उक्त देहों में कोई देव, कोई मनुष्य, कोई सबकी सृष्टि करने वाला हिरण्यगर्भ, पालक विष्णु, प्रलय कर्ता रुद्र आदि रूपों में स्वयं बन गया। फिर मैं ब्राह्मण कुमार हूँ, पूजनीय हूँ, भक्ति करके श्रवण मननादि साधनों से सम्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करूँगा इस प्रकार ईश्वर होने पर भी जाग्रत् अवस्था में भ्रान्त होता है।

विद्वान् आत्मा को कर्तृत्व-भोक्तृत्व-संसारी-जरा-मरण-जन्म से रहित-स्वप्रकाश-सत्-चित्-आनन्द से परिपूर्ण स्वभाव वाला और अशनादि धर्मातीत-अस्थूल-अनणु तथा नेति-नेति श्रुति वाक्य तात्पर्यीभूत-सत्य-ज्ञान-अनन्त स्वरूप, सम्पूर्ण जगत् का मात्रैक अधिष्ठानभूत (आत्मा को) आगमाचार्य (ऋषि-महर्षि) गणों के स्वात्मानुभावैक रूप जानता हूँ, इस प्रकार अनुभव करता है।

नह्यात्मपरमात्मनोर्भेद ग्राहकं मानमस्ति, तयोः स्वयं प्रकाशत्वेन मानाविषयत्वात्, विशिष्टिविषयस्य मानस्य विशेषणभेदगोचरत्वेनान्यथासिद्धस्यात्मपरमात्म भेदासाधकत्वात्, विशेष्याभेदग्राहकेन तत्त्वमस्यादि प्रमाणेन बाधितत्त्वात्।



धर्मि[१] प्रतियोगि[२] भेदानां[३] ग्रहे क्रम यौगपद्यादि विकल्प प्राप्तौ अन्योन्याश्रयात्माश्रयानवस्थ प्राग्लोपाविनिगमत्वाद्यनेक-दोषग्रासात्। (वे.सि.मु.का. २०)

१. घटत्वादिना प्रतियोग्यादिग्रहस्य भेदापेक्षत्वेनान्योऽन्याश्रयः।

२. स्वेनैव भेदभिन्ने धर्मिणि स्वयं भेदो वर्तते तदात्माश्रयः स्वभिन्ने स्वस्य वृत्तेः।

यद्भेदनिरूपणार्थं स्वयमागतस्तेन भिन्ने चेत्तदान्योऽन्याश्रयः।

३. द्वितीय भेदस्य भिन्ने धर्मिणि स्थित्यर्थं तृतीयभेदस्वीकारश्चेत् चक्रकम्, द्वयव्यवधानेन स्वस्यापेक्षणात्।

जीव तथा परमात्मा में भेद ग्राहक कोई भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि वे दोनों स्वयं प्रकाश होने से प्रमाण के विषय नहीं हैं। विशिष्ट विषय वाले प्रमाण को विशेषण भेद गोचर मानने पर अन्यथा सिद्ध होने से जीवात्मा परमात्मा में भेद सिद्ध नहीं हो सकता है और विशेष्य चेतन में अभेद ग्राहक तत्त्वमसि आदि प्रमाण से दोनों का भेद बाधित होने से दोनों में भेद ग्राहक प्रमाण नहीं है।

धर्मि अर्थात् आत्मा है प्रतियोगी जिसका ऐसे भेदों के ग्रहण में भेदों का क्रम है? या एक साथ है? इस प्रकार के विकल्प की प्राप्ति होने पर अन्योन्याश्रय-आत्मश्रय और अनवस्था प्राग्विलोप और विनिगमत्व आदि अनेक दोष उपस्थित होंगे अतएव जीवात्मा-परमात्मा में भेद प्रतीति भ्रामक है। (वेदान्तसि.मु.का. २०)

१. घटत्वादि बोधों के द्वारा घटत्व प्रतियोगी आदि बोध भेद के सापेक्ष अन्योन्याश्रय ही होगा।

२. अपने स्वभेद के अभिन्नाश्रयत्व धर्म के होने पर स्वभेद का होना स्वाभाविक होगा, क्योंकि उस आत्माश्रय स्वभिन्न वृत्ति के जो भेद के निरूपणार्थ स्वयमेवागत भेदवृत्ति होने से परस्पर में एक दूसरे के आश्रय होने से अन्योऽन्याश्रय दोष युक्त वाला ही होगा।

३. द्वितीय भेद के भिन्न होने पर धर्मी में तृतीय भेद स्वीकार करने पर अनवस्था (चक्र) दोष आपतित होगा। क्योंकि वे तीसरी वृत्ति के मानने पर पूर्व के दोनों वृत्तियों के व्यपवादन से उस तृतीय की अपेक्षा तो होगी ही।

४. चतुर्थो भेदः स्वीक्रियते चेत् तर्ह्यनवस्था।

५. भेदाः क्रमेण चेद् वर्तन्ते तर्हि धर्मिणोऽनादित्वप्रसंग उत्तरोत्तरभेदेन पूर्वपूर्व भेदे कार्यस्य धर्मिणिभिन्नव्यवहारस्यान्यथासिद्धेः पूर्वपूर्वभेदवैयर्थे प्राग्लोपः।

६. एक विशिष्टेऽपर स्थितिराश्रीयते चेत् तर्हि अविनिगमः। एतद्भेदविशिष्टे एतद् भेदस्थितिरिति नियामकाभावात्।

अज्ञानस्यप्रमाणेन सह तमोदीप न्यायः। (नानाशा. टी.)

महाविद्यानुमानम् (चि.सुखी १)

अयं घट एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः पदार्थत्वात्पटवत्।

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'।

सर्वज्ञत्वम्–स्वरूपचैतन्येन स्वाध्यस्तसकलभासकत्वम्। (वेदान्तसि.मु.)

---

४. यदि उपर्युक्त तीन भेदों से अतिरिक्त चौथा भेद स्वीकार करते हैं तो अवस्था दोष को स्थान प्राप्त होगा।

५. यदि इस प्रकार भेद का क्रम चलता रहेगा तो धर्मी आत्मा का अनादित्व प्रसंग में उत्तरोत्तर भेद होने से पूर्व-पूर्व के भेद स्थल में कार्य का धर्म में भिन्न व्यवहार के अन्यथा सिद्ध होने के कारण पूर्व-पूर्व भेदों की वैयर्थ का प्राग्लोप आवश्यम्भावी होगा।

६. एक विशिष्ट के होने पर यदि दूसरे विशिष्ट को अङ्गीकार करेंगे तो अविनिगम दोष की उपस्थिति होगी। क्योंकि इस भेद विशिष्ट स्थल में यह भेदस्थिति होगी इसका नियामक कौन होगा? क्योंकि नियामकाभाव है।

अज्ञान का प्रमाण के साथ अन्धकार और दीप की तरह परस्पर विरोध है। यदि अज्ञान का प्रमाण के साथ विरोध न हो तो वह वस्तु रूप हो जायगा। उक्तञ्च—'अविद्याया अविद्यातत्त्वमिदमेव हि लक्षणं प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्' अर्थात् अज्ञान प्रमाण को सहन नहीं करता है। (नाना शा.टी.)

महाविद्यानुमान के प्रसंग में ग्रन्थकार का कथन है कि—यह घट है इस ज्ञान से इतर घटान्तर ज्ञान होने से वेद्यत्व का अनधिकरण जो अन्य घट पदार्थ है उसका बोध होगा जैसे घटज्ञानान्तर पट बोध होता है।

आत्मा की परितुष्टि के लिये ही सभी पदार्थ प्रिय होते हैं।

स्वरूप चैतन्य के द्वारा अपने में अध्यस्त सम्पूर्ण जड़ चैतन्य को जो प्रकाशित करे उसे सर्वज्ञ कहते हैं। (वेदान्तसि.मु.)

ब्रह्मान्यत्–सत् परमार्थसद्वा विमतं वा–१. प्रातिभासिकत्त्वानधिकरणत्त्वे सत्यसद्विलक्षणत्त्वात् ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेणशशभृङ्गवत्। २. अनिषेध्यत्त्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्त्वात्। ३. अनिषेध्यत्त्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्त्वात्। ४. सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारिकत्त्वात्। ५. आरोपितमिथ्यात्त्वकत्त्वात् (न्यायामृते)। ६. कल्पक रहितत्त्वात् च। (प्रपञ्चे परमार्थसत्त्वसाधकानुमानानि)

तथैव सत्यत्त्वसाधकान्यनुमानानि–१. विमतं न सद्विलक्षणम् असद्विक्षणत्वा दात्मवत्। २. विमतं न चैतन्या ज्ञानकार्यम्।

धर्मस्त्रिविधः–१. विशेषणम्–स्वतो व्यावर्तकम्–दण्डादि। २. उपलक्षणम्–व्यावर्तकस्योत्तृणत्वादेः परिचायकम्। ३. उपरञ्जकम्–स्वोपरक्तबुद्धिजनकं प्रमेयत्वादि।

(वै.भा.टी.)

ब्रह्म से भिन्न सत् है अथवा असद् है? क्योंकि प्रातिभासिक रजतादिक स्थल में रजत का अनधिकरणत्व प्रसंग में वह सदसद्विलक्षण ही होता है जैसे ब्रह्म का स्वरूप सदसद् विलक्षण होता है तथा व्यतिरेकेण शशभृङ्गबोधवत् होता है। क्योंकि प्रमा ज्ञान के प्रति वह अनिषेध्यत्वेन ग्रहण योग्य है, वह प्रत्यक्ष विषय होता है, जिसका अपलाप सम्भव नहीं है। उसी प्रकार ईश्वर ज्ञान भी अनिषेध्यत्वेन प्रमा है क्योंकि वह साक्षात् बोध का विषय है। सप्रकारक ज्ञान के अबाधितार्थ क्रियाकारित्व हेतु की उपस्थिति होने से। तात्त्विक बात यह है कि आरोपित वस्तु के मिथ्यात्व स्वयमेव सिद्ध है। छठा प्रश्न है कि उक्त स्थिति कल्पक के अभाव होना भी सिद्धा होता है। (प्रपञ्च में परमार्थसत्वसाधक अनुमान)

ऊपर में प्रपञ्च (मिथ्या) में परमार्थ साधक अनुमान कहा अब प्रपञ्च के सत्यत्वसाधक अनुमान पर विचार करते हैं—प्रपञ्च सत्य है अथवा असत्य? अथवा सद्विलक्षण? अथवा असद्विलक्षण? विम चैतन्य अज्ञान का कार्य भी नहीं हो सकता?

वस्तुगत धर्म तीन प्रकार के होते हैं—

१. अपने में विद्यमान रहकर अन्य की व्यावृत्ति जो धर्म करे वह विशेषण है। जैसे दण्डी पुरुष को अन्य दण्ड रहितों से पृथक् करता है इसी प्रकार नीलकमल आदि को जान लेना चाहिए।

२. उपलक्षण व्यावर्तक होने पर भी विद्यमान नहीं रहता। वह अपनी किंचित् सत्ता से लक्ष्य को पृथक् कर देता है जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः'। यहाँ काक देवदत्त के घर को उपलक्षित कर उड़ जाता है। ऐसे धर्म को उपलक्षण कहते हैं।

३. उपरञ्जक धर्म समीप में रहकर अपने गुणों को दूसरे में अर्पित करनेवाला होता है। जैसे जपाकुसुम अपने रोहित्य को स्फटिक मणि में अर्पित कर देता है। यहाँ संयोगादि

असत्प्रातीतिकान्यत्वात् प्रमाणविषयत्वतः।
अर्थक्रियाकारितादेः विश्वं सत्यमिति स्थितम्।।
(न्यायामृतम्, वि.मि.अनु.वा.)

स्वरूप पररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कश्चिद् रूपं किंचित्कदाचन।।
(श्लोकवा. अभाव प्र. १२)

उपाधि-वाध-प्रतिपक्षशून्यं विपक्षवाधागम सत्यपेक्षम्।
दृश्यत्वमव्याहतमम्बरादि, मिथ्यात्वसिद्धौ सुदृढ़ं हि मानम्।।
(अद्वैतसि. १)

के बिना ही स्फटिक में लौहित्य धर्म आ जाता है। समीपस्थ होने से इतर को व्यावृत्ति कर देता है। (वै.भा.टी.)

विश्व सत्य है। क्योंकि असत्प्रीतीति के विषय शशशृङ्गादि से विलक्षण है तथा चक्षु आदि प्रमाणों का विषय होने से भी सत्य है। मिथ्या वस्तुओं में अर्थक्रियाकारिता नहीं देखी जाती है। जैसे चर्म रोमों से पट नहीं बनता किन्तु इसमें व्यावहारिक सत्ता है। अर्थ क्रिया कारिता होने से यह जगत्सत्य है। (न्यायामृत वि.मि.अनु.वा.)

कतिपय आचार्य वस्तु का पररूप से अभाव मानते हैं अर्थात् घट का घटत्त्व स्वरूप है और पटत्त्व पररूप है। जहाँ पर घटत्त्वेन घट सत्रूप है वहीं पटत्त्वेन उसका अभाव भी है। इसे ही व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि घट के रहने पर भी पटत्त्वेन घटत्व का अभाव है। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से अभाव रूप है। (श्लो.वा.अभावप्र. १२)

उपाधि का लक्षण 'साध्यव्यापकत्त्वेसति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः' अर्थात् साध्य में व्यापक रूप से रहता हुआ साधन में जो न रहे उसे उपाधि कहते हैं। तथा बाध यथा 'वह्निरनुष्णः द्रव्यत्त्वात् जलवत्' इत्यादि यहाँ वह्नि में अनुष्णत्व साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है एवं सत्प्रतिपक्ष = साध्याऽभावसाधकं हेत्वन्तररूपं इन तीनों से शून्य तथा विपक्षबाध = अनुकूल तर्क और आगम इन दोनों के सहित व्याघात शून्य = आत्मकार्य करने में समर्थ जो दृश्यतादिरूप मानं = हेतु है, वह आकाशादि के मिथ्यात्त्व सिद्धि में सुदृढ़ ही है। (अद्वैत सि. १)

केवलान्वित्वम्–अत्यन्ताभावीयप्रतियोगितानवच्छेदक धर्मत्वम्। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम् वा।

सामानाधिकरणम् चतुर्धा

१. अध्यासः–इदं रजतम्। २. बाधः–स्थाणुः पुमान्। ३. विशेषणविशेष्यभावः–नीलमुत्पलम्। ४. अभेदः–तत्त्वमसि।

ब्रह्मप्रमान्येन वा, वेदादान्ततात्पर्यज्ञानान्येन वा मोक्ष हेतु ज्ञानोदयेन वा अवाध्यत्वे सति ब्रह्मान्यत्। विमतं वासद् परमार्थिकसद्वा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वात्। ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवद्वा।

अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्म वाले हेतु को केवलान्वयि हेतु कहते हैं। जैसे 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्त्वात्' यहाँ प्रमेयत्त्व रूप हेतु का कहीं भी अभाव नहीं है और यह अभावका प्रतियोगी नहीं है। अतः प्रमेयत्त्व अभिधेयाभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं है अनवच्छेदक ही है।

समान विभक्ति वाले, परस्पर साकाङ्क्ष पदद्वयत्व का नाम समानाधिकरण है। समानाधिकरण चार प्रकार के होते हैं—

१. अध्यास—शुक्ति (सींप) तथा आरोप्य = रजत एतदुभय तादात्म्य बोधक जो पदद्वय इदं और रजतः तन्निष्ठ समानाधिकरण इदं रजतं इत्यादि में समानाधिकरण्य है।

२. बाधलक्षण—बाध में बाध्यमान जो तादात्म्य, तादृश तादात्म्य से उपलक्ष्यमाण जो अधिष्ठान तादृश अधिष्ठानबोधक पदद्वयनिष्ठ समानाधिकरण्य स्थाणु पुरुष है। यहाँ पर स्थाणुत्त्वेन पूर्व में ज्ञात पुरुष ही है और यही अर्थ प्रतीत भी होता है।

३. विशेषविशेषभाव—विशेषणविशेष्यभावेन बाध्य तादात्म्यतिरिक्त जो तादात्म्य बोधक पदद्वयनिष्ठ समानाधिकरण यहाँ नीलमुत्पलम् इत्यादि में सिद्ध है।

४. अभेद—अभेदेन अर्थात् शुद्ध व्यक्ति मात्र बोधक पदद्वयनिष्ठ सामानाधिकरण्य तत्त्वमस्यादि में है। यहाँ पर सत्यत्त्वबोधक वाक्य में तो सत्यत्त्व विशिष्ट बोधक पद के साथ में प्रपञ्चबोधक पद के समानाधिकरण्य की बाधा या अध्यास से उपपत्ति होने से सत्यत्त्वबोधक श्रुति को षड्विध तात्पर्य लिङ्गोपेत की अद्वैत श्रुति उसका बाधकत्त्व नहीं है। अर्थ यह हुआ कि तत्त्व साक्षात्कार हो जाने पर बाधप्रयुक्त सामानाधिकरण्य हो जाने पर और साक्षात्कार से पूर्व आध्यासिक समानाधिकरण्य है।

मोक्ष का हेतु ब्रह्मज्ञान है अथवा वेदान्तज्ञान अथवा अबाधित ज्ञानोदय है अथवा

प्रामाण्यशरीरघटकं तात्पर्यलिङ्गं अर्थनिष्ठं त्रिधा–१. अज्ञातत्वं, २. अबाधितत्वं, ३. प्रयोजनवत्वम् च।

त्रिविधं शब्दनिष्ठम्–अतिप्रसंगकारकम्–१. उपक्रमोपसंहारयोरैकत्वम्। २. अभ्यासः। ३. अर्थवादश्च। (अद्वैतति. १/आगम ३)

प्रमा–अनधिगताबाधित प्रयोजनवदर्थविषयकं ज्ञानम्।

विदुषां निवहैरिहैकमत्याद्, यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्। प्रभवति मयिकल्पनाधिनाथे रघुनाथे, मनुतां तदन्यथैव। (न्या.चि., पृ. १९८५)

रेखातादात्म्येनारोपितानां वर्णानामर्थसाधकत्वम्। (पञ्चपादिका)

ब्रह्म से अन्यत् या विमत या असद् अथवा पारमार्थिक सत्? प्रातिभासिक अनधिकरण में तो असद् विलक्षण ही ब्रह्मवत् मानना होगा अथवा शशशृङ्गवत् होगा।

प्रसिद्ध अद्वैत श्रुति षड्विधतात्पर्य ज्ञापक लिङ्गो से युक्त है। उपक्रम तथा उपसंहार की एकरूपता—अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये छः लिङ्ग तात्पर्य के निर्णायक होते हैं। इस षड् लिङ्गों में से त्रिविध तात्पर्य लिङ्ग प्रामाण्य शरीर का घटक होता हुआ अर्थनिष्ठ होने से तीन प्रकार का है। जैसे प्रमाणान्तर अज्ञातत्त्व, अबाधितत्त्व और प्रयोजनवत्त्व तथा शब्दनिष्ठ भी तीन प्रकार का है—१. उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता, २. अभ्यास तथा ३. अर्थवाद। यह अर्थवाद अतिप्रसङ्ग वारक है। पुनः-पुनः श्रवण का नाम अभ्यास है। जैसे छान्दोग्योपनिषद में श्वेतकेतु को 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का नव बार उपदेश। स्तुति निन्दा इन दोनों में से किसी एक के बोधक वाक्य का नाम अर्थवाद है। जैसे—उपक्रम और उपसंहार इन दोनों पदों से विचार्यमाण वाक्य के आदि तथा अन्त इन दोनों भागों का एकार्थ में पर्यवसान लक्षित होना उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता है। जैसे प्रकृत वाक्यार्थ विषय का ज्ञान के विषय में उक्त ज्ञान से पूर्व अज्ञातत्त्व का नाम अपूर्वता है। उक्त ज्ञाननिष्ठ प्रयोजनवत्त्व का नाम फल है जैसे—उक्त ज्ञान के विषय में अबाधित का नाम जैसे उपपत्ति है। (अद्वैतसि. आगम ३)

अनधिगत-अबाधित और प्रयोजन वाला अर्थ विषयक ज्ञान प्रमा कहलाता है।

विद्वानों के समूह द्वारा एक मत होकर जो अदुष्ट अथवा दुष्ट निर्णय कर दिया जाता है उसे भी कल्पनाओं अधिनाथ मुझसे हे रघुनाथ! मेरा मन उसे अन्यथा कर दिया जाता है। (न्या.चि.पृ. १९८५)

रेखाओं के साथ अभेदरूप से आरोपित वर्ण अर्थ के बोधक होते हैं। (पञ्चपादिका)

नेतिनेतीति निषेधः, स्वप्रतियोगि समर्पणाय न विश्वं सत्यमिति वाक्यमेपक्षते, निषेध-सामान्यत्वात्, न हिंस्या सर्वाभूतानि इति निषेधवत्।

माया

अव्यक्त नाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया,
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।११०।।

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यसङ्गाप्युभयात्मिका नो,
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।।१११।। (विरेकचू.)

नेहनानास्ति किञ्चन इत्यादि वेदोक्त नेतिनेति निषेध के द्वारा जो जगत् प्रपञ्च को मिथ्या बताते हैं वे अपने प्रतियोगी प्रपञ्च के समर्पण के लिये हैं, न कि विश्व प्रपञ्च की सत्यता में वाक्य की अपेक्षा रखता है। क्योंकि वह समान्यतया सम्पूर्ण प्रपञ्च को निषेधित करता है। 'न हिंस्याः सर्वाणि भूतानि' श्रुति वाक्य यथा सम्पूर्ण भूत (जीव) की हिंसा को निषेधित करता है उसी प्रकार 'नेति नेति' श्रुति वाक्य द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्च का सत्यत्त्व निषेधित करता है।

माया

जो अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या है वह परमेश्वर की अपरा शक्ति है वही माया है—जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान पुरुष इसके (माया के) आकाशादि कार्य से ही इसका अनुमान लगाते हैं। इसे सत् नहीं कह सकते, क्योंकि इसका प्रत्यक्ष नहीं हैं तथा असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसके आकाशादि कार्यों के विजृम्भण सर्वत्र व्याप्त है और उभय रूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है।

इसे ब्रह्म से भिन्न नहीं कह सकते, क्योंकि यह ब्रह्म की शक्ति है और शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद होता है। इसे ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह विलक्षण है एवं उभय रूप भी नहीं है। इसे सङ्ग या असङ्ग अथवा उभय रूप कुछ भी नहीं कह सकते अतः यह अनिवर्चनीय रूप है। उक्तञ्च—

अविद्याया अविद्यात्त्वमिदमेव हि लक्षणम्।
यद् विचारासहिष्णुत्त्व-, मन्यथा वस्तु सा भवेत्।। (वि.चू. १११)

ईश्वरसिद्धिः

तदत्रबुद्धिमत्कर्तृ; सिद्ध्या सिद्धेश्वरक्रिया।
नहि तादृश वैचित्र्य; विदुषः स्यादनीशिता।। (उत्पलदेवः)
अन्तःकरणसंभिन्नः; बोधो जीवोऽपरोक्षताम्।
अर्हत्युपाधिसद्भावा; न्नतु ब्रह्मानुपाधितः।।८३।।
नैवं ब्रह्मत्व बोधस्य, सोपाधिविषयत्वतः।
यावद्विदेहकैवल्य; मुपाधेरनिवारणात्।।८४।। (पञ्च. तृ.दी.)
अन्तःकरणसंत्यागा; दवशिष्टे चिदात्मनि।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन, ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते।। (पञ्च.तृ. दी. ८९)

यह जगत् क्रम से चल रहा है तथा इसकी रचना व्यवस्थित है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश अपना-अपना कार्य करते हैं तथा क्रम से ऋतुओं का आगमन प्रत्यागमन से समयानुसार वृक्षों पर फल आता है। समयानुसार पशु-पक्षियों का प्रसव देखा जाता है तथा समय से सब अपने-अपने नियमों का पालन करते हैं। कोयल वसन्त में ही बोलती है। मुर्गा प्रातःकाल ही बोलता है। इससे यह सिद्धा हुआ कि जगत् के घटपटादि के कर्ता के समान ही ईश्वर के बुद्धिपूर्वक कतृत्व से यह जगत् जन्य है। यह नियम है जो जन्य है वह सकर्तृक है तथा इसका कर्ता (अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरः) इत्यादि वचनों से मनुष्यि नहीं हो सकता क्योंकि वह अनीश्वर है। अतः जो इस जगत् का कर्ता है वह ही ईश्वर है। (उत्पलदेवः)

अन्तःकरण से संभिन्न जो जीव का बोध उस बोध की अपरोक्षता ईश्वर सिद्धि का हेतु है। वही बोध उपाधि के सद्भाव से ईश्वर है। परन्तु उपाधि रहित बोध की स्थिति में ब्रह्म पद वाच्य है। अर्थात् शुद्ध निरूपाधिक ब्रह्म ही सोपाधितया ईश्वर पदवाच्यार्थ है। (पञ्चदशी तृप्त. ८३)

ब्रह्म बोध सोपाधिक विषय नहीं है। जब तक उपाधिक का ग्रहण बोध में स्थित है तब तक ब्रह्म का बोध नहीं है ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि उपाधि निवारणपूर्वक ही कैवल्य ब्रह्म बोध होता है। (पञ्चदशी तृप्त ८४)

अन्तःकरण का साहित्य अर्थात् उपाधि ही जीवभाव है और अन्तःकरण उपाधि राहित्य ब्रह्मभाव है अर्थात् साहित्य-राहित्य उभय बुद्धि से पर सकल सविशेषशून्यता ब्रह्मत्व है। इसलिये अन्तःकरण उपाधि के सम्यक् जो अवशिष्ट बचा हुआ आत्मा 'मैं सर्वसाक्षी ब्रह्म है वही हूँ' इत्याकारक अपरोक्ष बोध ही ब्रह्म बोध है। (पञ्चदशी. तृप्त ८९)

अनुपाधिकं ब्रह्म न वृत्तिविषय; असङ्गत्वात्, निरवयवत्वात्, अनुपाधिकजगत्वत्।

मत्कर्मकृन्मत्परमा, मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरःसर्वभूतेषु, य स मामेति पाण्डव।। (गी. ११/५५)



१. देहवेदनात्मकं दुःखम्–संयमः। २. सुहृद् मोहात्मकं दुःखम्–वियोगनिश्चयः। ३. स्वदुरितस्मृतिः दुःखम्–पापत्यागः। ४. भाविचिन्तात्मकं दुःखम्–शरणागति।

उपाधि शून्य ब्रह्म वृत्ति का विषय नहीं हो सकता असङ्ग होने से, अवयव रहित होने से, क्योंकि जो असङ्ग होते हैं वे निरवयव होते हैं, वे वृत्ति के विषय नहीं होते। जैसे उपाधिशून्य आकाश।

इस श्लोक में भगवान् ने अतिकरूणावश सम्पूर्ण गीता शास्त्र का सारभूत अर्थ मोक्षार्थियों के अनुष्ठान के लिए संग्रह करके अर्जुन के लिए कहा है—

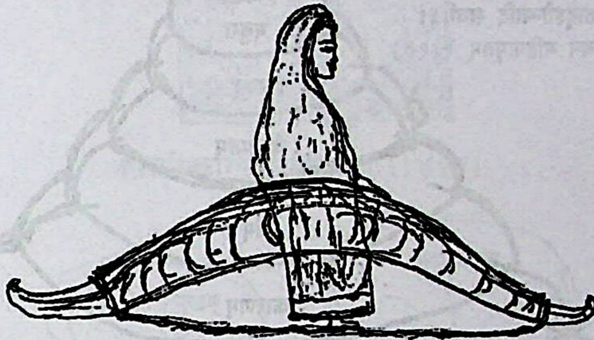
हे अर्जुन! तुम सम्पूर्ण कर्म मेरी प्रीति के लिए करो। जैसे दास स्वामी के लिए करता है। यह कल्याण की सीढ़ी का प्रथम सोपान है। अर्थात् वेदविहित कार्य स्वर्गादि की कामना से मत करो अपितु मेरा परायण हो जाओं। मुझे ही परमगति-परम प्राप्तव्य और परमाश्रय समझो। स्वर्गादि की आशा छोड़ दो। इसलिए मेरी प्राप्ति की आशा से मेरी साधना अर्थात् भजन करो उसे उत्साहपूर्वक सभी प्रकार से करते हुए भक्तिनिष्ठ हो जाओ। धनादि की इच्छा से भजन मत करो। धन, मित्र, पुत्र आदि से वर्जित होकर मेरा भजन करो। किसी से भी राग मत करो अर्थात् बाह्य वस्तुओं में प्रेम मत करो तथा निर्वैर होकर सभी को भगद्रूप समझकर शत्रु आदि अपकारियों से भी वैर मत करो, क्योंकि राग और द्वेष दोनों बन्धन के कारण ही होते हैं। (गी. ११/५५)

१. शरीर को तपाने वाला अभ्यास ही संयम है।

पुत्राणां भावि कर्माणि, विदुस्ते दोहदै जनाः। (आनन्दरा. १/१/१०९)

आविर्भूतौ द्वौ यमलौ, कैकेय्याः शङ्ख चक्रके। (१/२/७)

अश्ववत्तद्धनुःकृत्वा, जानकी क्रीडनं व्यधात्। (आनन्दरा. १/३/५९)



---

२. मित्रादि में उपस्थित मोह दुःख कारक है यही बुद्धि वियोग का निश्चायक है।

३. अपने पापों के स्मरण करने से पापकर्म छूट जाते हैं। पापों के स्मरण के साथ उनके परिणाम पर भी ध्यान जाता है। क्योंकि कहा कि—

रोगशोकपरितापबन्धनं व्यसनानि च,
आत्मापराधबृक्षाणां फलान्येतानि देहिन्नाम्।।

रोग, शोक मन के सन्ताप, नाना प्रकार के बन्धन तथा आपत्तियाँ आदि अपने द्वारा किये हुए पापरूपी वृक्षों के फल होते हैं।

४. आगे आने वाली दुःख की चिन्ता शरणागति भाव है।

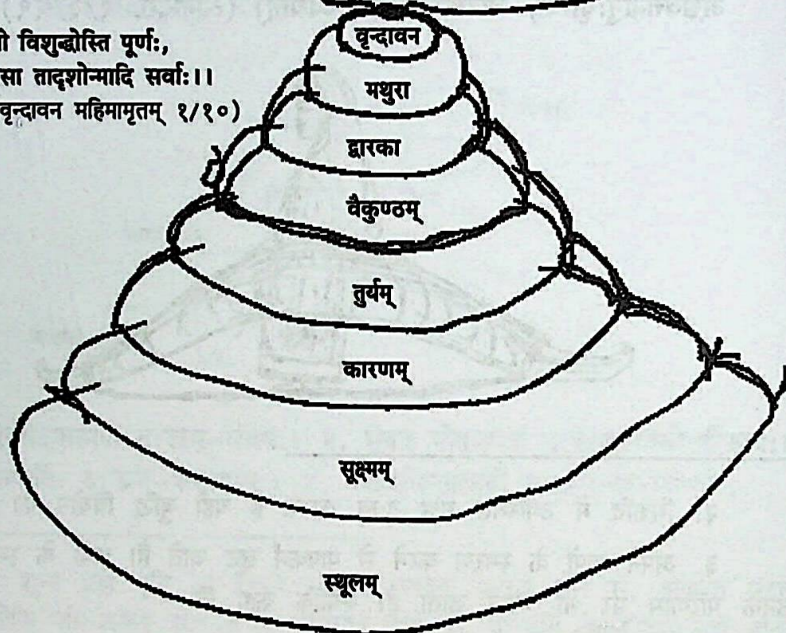
गर्भिणी स्त्रियों के मनोरथो अर्थात् इच्छाओं से गर्भस्थ सन्तान के आगे होने वाले कर्मों का ज्ञान होता है एवं गर्भिणी जिन-जिन वस्तुओं की इच्छा करती है उसका शिशु भी उन-उन वस्तुओं का सेवन करने वाला पैदा होता है। (आ.रा. १/१/१०९)

रामलक्ष्मण के पश्चात् कैकेयी के भी दो पुत्र एक साथ उत्पन्न हुए जो नारायण के शङ्ख और चक्र के अवतार थे।। (आ.रा. १/२/७)

परशुराम जी द्वारा जिस शिव धनुष को जनक के प्राङ्गण में स्थापित किया गया था उसे सीता जी घोड़ा बनाकर उस पर चढ़कर खेला करती थीं। (आ.रा. १/३/५९)

आत्याश्चर्या सर्वतोऽस्माद्विचित्रा,
श्रीमद्राधा कुञ्जवाटी चकास्ति।

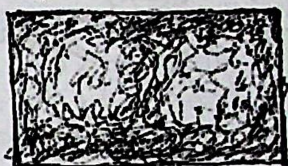
आद्योभावो यो विशुद्धोस्ति पूर्णः,
तद्रूपा सा तादृशोन्मादि सर्वाः।।
(श्रीवृन्दावन महिमामृतम् १/१०)



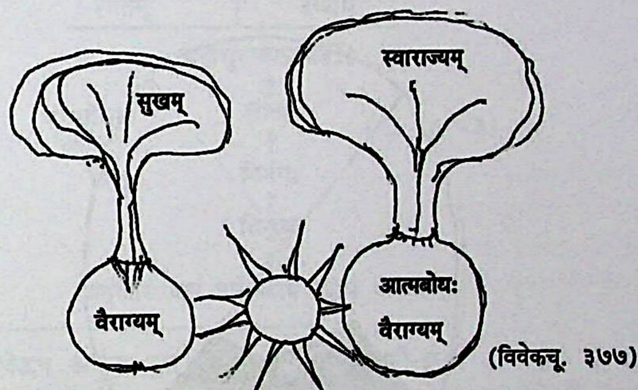
यह अति आश्चर्य और अत्यन्त विचित्र भी है कि श्रीराधा जी कुञ्जवाटिका का अलौकिक विहार कर रही है जिससे उनकी छटा एक विचित्र और विलक्षण प्रतीत हो रही है। उस लीला विहार में जो सखियाँ सम्मिलित हैं वे भावपूर्ण विशुद्ध पुरुष (श्रीकृष्ण) के तद्रूप (श्रीकृष्ण स्वरूपाकार) अर्थात् कृष्णमय होकर उन्माद को प्राप्त हो गयी हैं, अर्थात् उन्हें अपने मन-वाणी-कर्म-चरित आदि का संज्ञान नहीं है। वे तो कृष्ण में तन्मय हो जाने से उन्हीं में सभी कर्मों को होता हुआ अनुभव कर रही हैं। विपरीत आचरणानुभव उन्माद में होना स्वाभाविक है। (वृन्दावन महिमामृत १/१०)

इस चित्र में स्थूल से सूक्ष्म प्रपञ्च श्रेष्ठ है तथा सूक्ष्म से कारणभूत अज्ञान अर्थात् जो सबका कारण है वह श्रेष्ठ है। उससे परे अर्थात् ईश्वर-प्राज्ञ-सूत्रात्मा-तैजस विश्ववैश्वानर आदि से परे तुरीय चैतन्य है। उससे परे वैकुण्ठ, वैकुण्ठ से मथुरा, मथुरा से वृन्दावन को परमधाम दिखाया है।

श्रीराधिकामुरलिमोहनकेलिकुञ्जपुञ्जेन मञ्जुलतराररसिन्धुदोग्ध्री। स्वानन्द-चिन्मय-महाद्भुत-स्वत्त्ववृन्दवृन्दाटवी मम सबीजमघं निहन्तु।। (श्रीवृन्दावनमहिमामृतम् १/३८)



श्रीराधिकारमणरसैककोषः।।४१।।



(विवेकचू. ३७७)

श्रीराधिका और मुरलीमोहन श्रीकृष्ण की रासक्रीडा से उत्पन्न जो अत्यन्त मनमोहक अमृतसिन्धु (क्षीरसमुद्र) जो अमृतत्व को प्रदान करने वाली कहा गया है, वह आत्मानन्द-चिन्मय और अद्भुत तथा स्वत्त्ववृन्दवृन्दावटी (सत्त्वगुणप्रधान स्वात्मा) है। ऐसी वाटिका मेरे बीज सहित अघ (अविद्या) को नष्ट करे अर्थात् बीज सहित अविद्या नाश ही परमात्म साक्षात्कार है। (श्री वृन्दावन अमृतामृत १/१३२)

श्रीराधा जी के रमण से उत्पन्न रसों का एकमात्र स्थान वृन्दावन ही है।

(श्रीवृ.र.म.अ. ४१)

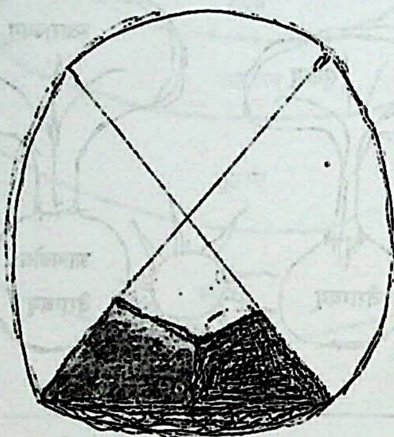
जितेन्द्रिय पुरुष के लिए वैराग्य ही सुखदायक है और यदि वह वैराग्य आत्मज्ञान के सहित हो तो स्वाराज्य अर्थात् स्वात्मस्वरूप कैवल्य सुख को देनेवाला होता है क्योंकि सामान्य लौकिक सुख तथा परमानन्द इन दोनों को मुमुक्षुजन वैराग्य से प्राप्त करते हैं। वैराग्य इनका मूल है यही इस चित्र में दिखाया है। (विवेकचू. ३३७)

घटं जलं तद्गतमर्कबिम्बम्,
विहाय सर्वं विनिरीक्ष्यतेऽर्कः।
तटस्थमेत-, त्रितयाभासकः,
स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा।।



(वि.चू. २२१)

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।

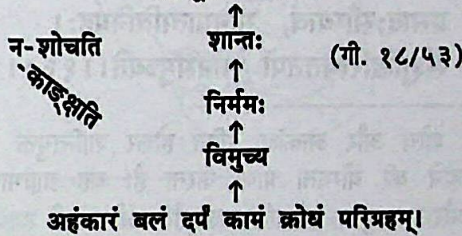


जिस प्रकार घटगत जल में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब में तीन वस्तु है, यथा—घट-जल और सूर्य का प्रतिबिम्ब, उसी प्रकार शरीर में तीन अवस्थाएँ हैं—जग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं के अवभासक (प्रकाशक) साक्षी चैतन्य आत्मा ही है। घट-जल और प्रतिबिम्ब में भी तीनों स्थितियों का प्रकाशक साक्षीभूत सूर्य ही प्रकाशक होता है। इन तीनों में मूढ़ तो तीन वस्तु देखता है, परन्तु विद्वान् (ज्ञानी) पुरुष केवल तीनों के साक्षी सूर्य दर्शन के समान साक्षी चैतन्य आत्मा को ही देखता है। (वि.चू. २२१)

इस परमात्मा के चार पादों में से एक पाद में अर्थात् चौथाई भाग में सम्पूर्ण विश्व स्थित है तथा उस परमात्मा के तीन अमृतमय पाद हैं और वे तीनों पाद दिव्यलोक में स्थित हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्व भूतानि सम्मोहं, सर्गे यान्ति परंतप।। (श्रीगी. ७/२७)

इच्छा	द्वेषः
सुखम्	दुःखम्
धर्मः	अधर्मः
मानः	अवमानः
लाभः	हानिः
जन्म	मरणम्
प्रकाशः	तमः
शीतम्	उष्णम्



हे भरत वंशोद्भव अर्जुन! इस संसार में प्राणी अपनी-इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख और दुःख रूप द्वन्द्व से विमोहित होकर ही अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त होते हैं, अर्थात् इच्छा और द्वेष से ही फलीभूत यह जन्म-मृत्यु का अनन्त आगमा=गमन होता है और वह जन्म और मृत्यु अज्ञानता ही है। क्योंकि—

'न जायते मृयते वा कदाचि-, न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अचो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न जो हन्यमाने शरीरे।। (श्रीमद्भग.गी. २/२०)

यह आत्मा अज-नित्य-शाश्वत और पुराण होने के कारण न तो जन्म लेता है और न ही मरता ही है। यह आत्मा कभी भी इससे पहले न हुआ था, न हुआ है और न ही फिर होगा। अतः यह जीव के इच्छा और द्वेषमूलक अज्ञान से प्रतीत होता हुआ लगता है। सुख-धर्म-मान-लाभ-जन्म-प्रकाश और शीत ये इच्छा का ही विस्तृत स्वरूप है और दुःख-अधर्म-अवमान-हानि-मरण-तम और उष्ण ये द्वेष का विस्तृत रूप है। अर्थात् इच्छा के कारण ही सुखादि उपुर्यक्त सात धर्म और द्वेष से ही दुःखादि उपर्युक्त सात धर्म आत्मा में अज्ञानवश उत्पन्न होते हैं। (श्रीमद्भग.गी. ७/२७)

हे पार्थ अर्जुन! अहंकार-बल-दर्प-काम-क्रोध और परिग्रह को त्याग करके ही ध्यानयोग

लक्ष्मी

लक्ष्म्या चित्तस्य चाञ्चल्यं, भयं शोको बधोऽपि च।
भवत्येव महद्दुःखं, तस्मात्तां परिवर्जयेत्।।
(आनन्द रा. १/३/२१२)

तपः

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरम् तप उच्यते।।१४।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

मनः प्रसादःसौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

परायण साधक ममता, शोच और आकांक्षा रहित होकर शान्तियुक्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने की योग्यता प्राप्त करता है। वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर न तो कुछ सोचता है और न कुछ इच्छा करता है। (श्रीमद्भ.गी. १८/५३)

लक्ष्मी

हे राजन्! लक्ष्मी से चित्त में चञ्चलता आती है तथा चौरादि का भय एवं नाश होने पर शोक होता है तथा धन सम्पत्ति के कारण धनिकों की मृत्यु भी हो जाती है। यह महद् दुःख देने वाली है। इसलिए इसको छोड़ देना चाहिए। (आनन्द रा. १/३/२१२)

तप

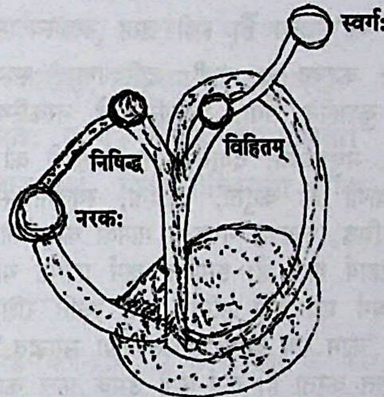
देवता-द्विज-गुरु और विद्वानों (ज्ञानियों) का विधि सम्मत पूजन, कायिक-वाचिक और मानसिक शुद्धता, सरल और उदार स्वभाव, ब्रह्मचर्य पालन और अहिंसा ये शारीरिक (दैहिक) तप (तपस्या) है। (गी. १७/१४)

अनुत्तेजक वाक्य, सत्य-प्रिय और हितकारी वचन, वेद शास्त्रादि का निरन्तर निष्ठापूर्वक चिन्तन और तदनुकूल अभ्यास करना ये वाङ्मय (वाचिक) तप है।
(गी. १७/१५)

मन की प्रसन्नता-सौम्यता (शान्तभाव)-मौनत्व (ईश्वर चिन्तन कर्म)-मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की सम्यग् शुद्धता ये मानसिक तप है। (श्रीमद्भ.गी. १७/१६)

नोट—तप करने से पापों की निवृत्ति तथा इष्ट प्राप्ति होती है। शरीर के तप से शारीरिक पापों से निवृत्ति होती है तथा वाणी के तप से वाङ्मय पापों की निवृत्ति एवं

अफलाकाङ्क्षिभिः परयाशुद्धया–सात्विकम्।
सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन–राजसम्।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया परस्योत्सादनार्थं–तामसम्।
(श्रीमद्भग.गी. १७/१९)



मन के तप से मानसिक पापों की निवृत्ति होती है तदन्तर स्वेष्ट प्राप्ति होती है अर्थात् ज्ञानभक्ति की प्राप्ति होती है। उक्तञ्च—

येषां त्वन्तगतं पापं, जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमीह निर्मुक्ता, भजन्ते मां दृढ़ व्रताः॥

फल को न चाहने वाले निष्काम कर्मयोगियों के द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए शारीरिक, मानसिक, वाचिक त्रिविध तप को सात्त्विक जानना चाहिए। (श्रीमद्भ. १७/१७)

उक्त तीनों तप यदि सत्कार सम्मान तथा पूजा के लिए किये जायँ अथवा अन्यान्य स्वार्थ के लिए किये जायँ एवं दम्भपाखण्डपूर्वक किये जायँ तो उन्हें राजस जानना चाहिये। (श्रीमद्भ. १७/१८)

जो तप मूढतापूर्वक हठ से किया जाय और मन, वाणी, शरीर को पीड़ा पहुँचाते हुए दूसरों के अनिष्ट के लिए किये जायँ वह तप तामस कहलाता है। (श्रीमद्भ. १७/१९)

विहित कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति और निषिद्ध से नरक की प्राप्ति होती है और उसके (स्वर्गवासियों के) लक्षण ये देखे जाते हैं—

स्वर्ग स्थितानामिह जीवलोके, चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी, देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥ (चाणक्यनीति)

पद्मा

गृहस्थाश्रमयुक्तो यः, तथा च विजितेन्द्रियः।
वृद्धिमेष्यति तद्गेहे, कुमारीयं शुभानना।।२४१।।

ये स्वर्गस्थ मानव के लक्षण हैं। इसी तरह नरकस्य मानव के भी हैं—

अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी, दारिद्र्यभावः स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीन सेवा, चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्।। (चाणक्यनीति)

अर्थात् दानशीलता, मधुरवाणी, देवार्चन और ब्राह्मणों को तृप्त करना स्वर्गस्थ मानवों का तथा क्रोधशीलता, वाणी की कटुता, दरिद्रता, स्वजनों से वैरभाव, नीचों का सङ्ग, कुलहीनों की सेवा आदि चिह्न (लक्षण) नरकस्थ मानवों की होती है। कर्म विज्ञान जीवात्माओं के लिए ध्रुव और अपरिहार्य होता है। इसलिए कर्म प्रशंसा या निन्दा शास्त्रों में प्रसंगवश बहुतायत की गई है—'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः', कर्मणैव हि संसिद्धि-, मास्थिता जनकादयः' एवं 'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः'। ये सभी शास्त्रों के वाक्य कर्म विज्ञान को ही प्रदर्शित करता है। कर्म-कर्मी उसके फल का सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है—

यथा धेनु सहस्त्रेषु, वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा यच्च कृतं कर्म, कर्तारमनुगच्छति।।

जिस तरह हजारों गायों के मध्य किसी गाय के बछड़े को छोड़ दिया जाय तो वह बछड़ा अपनी माता (गाय) के पास स्वयं आ जाता है, उसी तरह किये गये कर्म का फल स्वयं कर्मकर्ता को पहचान कर उसके पास आ जाता है। इसीलिये तो शास्त्र का डिम-डिम घोष है कि—

कर्मायत्तं फलं पुसां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधियाचार्याः, सुविचार्यैव कुर्वते।।

कर्म के अधीन ही फल है और उसी के अनुसरण करने वाली बुद्धि भी होती है यह जानते हुए भी कर्मवेत्ता आचार्यगण शास्त्रों को स्मरण करके ही तत्तत् कर्म को करते हैं।

पद्मा

मन्दोदरी ने अपने प्रियतम पति रावण से कहा कि—यह जो आपने जनकजा मैथिली सीता को हरण कर अपने घर में ले आकर रखा है यह अनुचित कार्य है। क्योंकि यह पद्मा (लक्ष्मी) हैं। इन्हें तो वही पुरुषवरण कर सकता है जो गृहस्थ होते हुए भी इन्द्रियों को स्ववश कर रखा हो तथा एक पत्नी निष्ठ तथा शास्त्रानुसार स्त्री सेवन करने वाला हो. परन्तु आपमें यह गुण नहीं है, यह तो श्रीराम में ही गुण है ऐसा ही लोकानुभव

चराचरेषु सर्वत्र, आत्मरूपेण यः स्थितः।
तस्य गेहे चिरंकालं, स्थास्यतीयं न संशयः।।२४२।।

(आनन्दरा. १/३)

तव तस्यार्धदानेन पुण्यं द्वैगुण्यमागतम्।
स्नानेनैव गतं पापं, यदस्या पूर्वकर्मजम्।
हरि जागरणाद्यैश्च, विमानमिदमागतम्।।
दीप दानभवैः पुण्यैः, तैंजसं रूपमाश्रिता।
तुलसी पूजनाद्यैश्च, विष्णुसान्निध्यगा जाता।।

(आ.रा. ४-कलहोपाख्यानम्)

है। यह पद्मा यदि गुणज्ञ-मर्मज्ञ-जितेन्द्रिय और आचारवान् के पास रहेगी तो वह वृद्धि को प्रदान करेगी और यदि उन गुणों से रहित इसे वरण करेगा तो वह विनाश को ही प्राप्त करेगा यह इसका ध्वन्यार्थ है। (आ.रा. ४/२४१)

जो चराचर प्राणियों में आत्मरूप से सर्वत्र-सर्व-देश-काल में विराजमान है, यह कन्या सीता उसके घर में चिरकाल पर्यन्त निवास करेगी इसमें कोई संशय नहीं है।

(आ.रा. १/३)

प्रेतरूप धारिणी कलहा पर दया करके जब धर्मदत्त द्विज ने अपने कार्तिक व्रत का आधा पुण्य उसे (कलहा को) दिया और तुलसी मिश्रित जल को द्वादशाक्षर मन्त्र सुनाते हुये छिड़का तो प्रेतत्त्व से मुक्त हो गयी कलहा उर्वशी के समान दिव्य स्वरूप हो गयी और उसे लेने के लिए देवविमान आ गया। उस देवविमान को देखकर धर्मदत्त विस्मित होते हुए भगवान् के देवगणों को दण्डवत् प्रणाम करने लगे। वे दोनों पार्षद धर्मदत्त को कहा—तुम दीनानुकम्पी हो और तुमने जो बालकपन से लेकर आज तक कार्तिक व्रत किया है तथा उसका जो अर्ध पुण्य इसको दिया एवं इसको जो स्नान कराया उससे कहला का पुण्य दूना हो गया। इसका पूर्वजन्मकृत पाप नष्ट हो गया। हरिदिन अर्थात् एकादशी को जो जागरण किया उसके पुण्य से यह विमान आ गया। अब हम इसे नाना प्रकार के भोगों से युक्त वैकुण्ठधाम ले जा रहे हैं। कार्तिक के महीने में जो दीप दान किया है उसके प्रभाव से इसे तेजोमय दिव्य रूप प्राप्त हुआ है। हे दयालु द्विजदेव! तुम्हारे द्वारा प्रदत्त तुलसी के पूजनादि से उत्पन्न पुण्य के फल से एवं अन्यान्य कार्तिकव्रत जन्य सुन्दर फल से इस कलहा को विष्णु सान्निध्य प्राप्त हुआ। (कलहोयाख्यान आ.रा. ४)

कलहा कैकयी नाम्नी भविष्यति।
शेषोब्जो हरिः शत्रुहा।

आनन्दरामायणम्

	सर्गाः
१. सारकाण्डम्	१३
२. यात्राकाण्डम्	९
३. यागकाण्डम्	९
४. विलासकाण्डम्	९
५. जन्मकाण्डम्	९
६. विवाहकाण्डम्	९
७. राज्यकाण्डम् (पूर्वार्द्धम्)	१२
८. राज्यकाण्डम् (उत्तरार्द्धम्)	१२
९. मनोहरकाण्डम्	१८
१०. पूर्णकाण्डम्	१९

दशरथः

एकदा राघवं राजा, ज्ञात्वा मुद्गलवाक्यतः।
वशिष्ठवाक्यतश्चापि, चरित्रैश्चाप्यलौकिकैः।। (आनन्दरा. १/५)

यही कलहा आगे चल कर कैकेयी नाम से प्रसिद्ध होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। धर्मदत्त तुम बहुत दिनों तक वैकुण्ठ में रहकर पुण्यक्षय होने पर राजा दशरथ बनोगे विष्णु तुम्हारे पुत्र रूप में अवतरित होंगे शेष भगवान् लक्ष्मण होंगे और शत्रुओं के नाश करेंगे।

आनन्द रामायण में सर्गों की संख्या—सारकाण्ड में तेरह सर्ग, यात्राकाण्ड में नौ, यागकाण्ड में नौ, विलासकाण्ड में नौ, जन्मकाण्ड में नौ, विवाहकाण्ड में नौ, राज्यकाण्ड पूर्वार्द्ध में बारह, राज्यकाण्ड उत्तरार्द्ध में बारह, मनोहरकाण्ड में अट्ठारह, पूर्णकाण्ड में उन्नीस सर्ग हैं। इस प्रकार आनन्द रामायण में कुल ११९ सर्ग हैं।

दशरथ

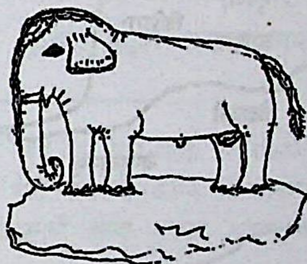
एक समय राजा दशरथ ने मुद्गल ऋषि और वशिष्ठ के उपदेश से तथा श्रीराघव के दिव्य अलौकिक चरित्र लीला को देखकर यह सुनिश्चय किया कि अवश्य ही यह राघव परमात्मा आदिनारायण के अवतार हैं, जो मुझे पुत्ररूप में प्राप्त हुए हैं। दशरथ ने इस आत्म निश्चय के बाद भगवान् राघव (राम) से जो प्रश्न किया उसका उत्तर आगे दिया जा रहा है—

साक्षान्नारायणं मत्त्वा
पप्रच्छ......... (आ.रा. १/५)

रामः

नश्वरं भासते विश्वं, चैतन्मायोद्भवं नृप।
आत्मा शुद्धो निर्व्यलीकः, सच्चिदानन्दलक्षणः।।
सत्यं शौचं दया शान्तिः, क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः।
अहिंसा भगवद्भक्तिः, वेदमार्गानुवर्तनम्।।

निवार्य त्रिजटा नाम्नी, विभीषण प्रियाऽनुगा। (आ.रा. १/९/१०१)



राम

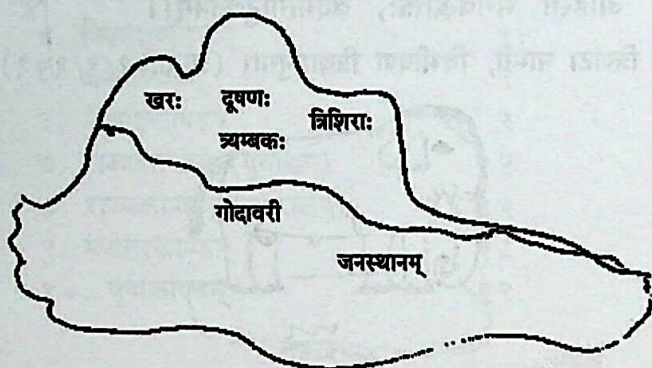
श्रीराम ने प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—हे राजन्! यह सम्पूर्ण विश्व नश्वर है क्योंकि यह परमात्मा की माया से उत्पन्न है और यह आत्मा शुद्ध-अनश्वर-सत्य-चित् और आनन्द स्वरूप है। इस नश्वर-अनित्य और मिथ्या संसार को जानकर जीव को वेदमार्ग का अनुगमन (आचरण) करते हुए सत्य-दया-शौच-शान्ति-क्षमा-इन्द्रिय निग्रह-अहिंसा तथा भगवद्भक्ति का अनुशीलन करना चाहिये। जिससे इस जगत्समुद्र के गंभीर तरङ्ग से उत्पन्न भ्रामक सुख-दुःखादि से निवृत्ति प्राप्त हो सके। (आनन्द रामायण १/५)

विभीषण की पत्नी सरमा की अनुचरी त्रिजटा ने जगदम्बा सीता को भयभीत कर रही उन राक्षसियों को ऐसा करने से मना किया। (आ.रा. १/९/१०१)

यहाँ प्रतीक चित्र द्वारा यह कहा जा रहा है कि यह मन उन्मत्त हाथी के समान है। यदि इस हस्ति को विचार रूपी अंकुश से नियन्त्रण में नहीं रखा तो यह उन्मत्त हो जायगा और अनन्त अनिष्ट को उत्पन्न करेगा, जिससे महान् दुःख को प्राप्त करोगे। अतः इन्द्रियों के सहित उसके अध्यक्ष मन पर विवेक (विचार) रूपी अंकुश से नियन्त्रण करना चाहिये ताकि यह शान्त स्वरूप में रहे।

माघमासे सिते पक्षे, पञ्चम्यां परमेऽहनि।
प्राप्ते ह्यष्टादशे वर्षे, राघवाय महात्मने।।
आसीद्वनप्रयाणं हि स्वपुर्यास्तमसातटम्।। (आनन्दा.रा. १/६/७२)
वीराणां मातरस्ताश्च, जग्मु र्न स्वामिना दिवम्। (आ.रा. १/६/९५)
१ वर्ष चित्रकूटे, ९ वर्षाणि दण्डके भ्रमतः।

त्रिकंटकः



जब श्रीराम अट्ठारह वर्ष के उस समय माघ मास की शुक्लपक्ष पञ्चमी को शुभ दिन में वन के उद्देय से तमसा तट पर प्रस्थान किये। (आ.रा. १/६/७२)

वीरों की माता होने कारण महाराज दशरथ की रानियों ने पति के साथ स्वर्गारोहण नहीं किया अर्थात् सती नहीं हुयी। (आ.रा. ६/९५)

भगवान् राम एक वर्ष चित्रकूट में रहे। नौव वर्ष दण्डकारण्य में भ्रमण किये।

भगवान् राम ने खर और दूषण नामक राक्षस को जो परस्पर में सगे भाई थे तथा त्रिशिरा को वहाँ गौतमी तट पर चौदह हजार सैनिकों के साथ मार कर स्वर्ग पहुँचाया। इस कारण से इस क्षेत्र का नाम त्र्यम्बक[१] हुआ। भगवान् राम ने ब्राह्मणों के लिए इसे (इस स्थान को) अर्पित किया एतावता इसका नाम जनस्थान हुआ। यही इस उपर्युक्त प्रतीक चित्राङ्कन का अर्थ है।

---

१. 'त्रयाणामम्बकानां समाहारः त्रयम्बकः' तीन मुखों के समाहार को त्र्यम्बक कहते हैं। त्रिशिरा को तीन शिर थे इसलिए त्रिशिरा नाम पड़ा। तीन अम्बक (मुँह) होने के कारण त्र्यम्बक कहा जाता है।

सीते त्वं त्रिविधा भूत्वा, रजोरूपा वसानले।
वामांगे मे सत्वरूपा, पञ्चवट्यां तमोमयी।। (आ.रा. १/७/६७)

मातुलं मारीचं तपसि स्थितं ययौ रावणः। (आ.रा. १/७/७९)

मयैतां धनुषोरेखां कृतां त्वत्परितोऽधुना।
त्वद्रक्षणार्थं दुष्टानां, दुर्लङ्घ्यां महत्तमाम्।।

तदेन्द्रो ब्रह्मवाक्येन पायसं वर्ष तुष्टिदम्। (आ.रा. १/७/९९)

नारीसङ्गो नरैस्त्याज्यः, सर्वदात्रेति शिक्षयन्।
नारीविरहजं दुःखं, ईदृशं भ्रमकारणम्।। (आ.रा. १४१)

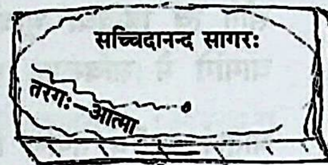
खरदूषण विशिरादि का वध कर राम-सीता से एकान्त में बोले। हे सीते! तुम तीन रूपों को धारण करो अर्थात् रजो रूप से अग्नि में निवास करो तथा सत्त्व गुण से मेरे बायें भाग में रहो और तमोरूपमयी छाया बनकर रावण के मोहन हेतु पञ्चवटी में वास करो। (आ.रा. १/७/६७)

रावण तपस्या में संलग्न अपने मामा मारीच के पास गये और खर-दूषण-त्रिशिरा बध तथा सर्पूरखा के वृतान्त को उन्हें सुनाया। (आ.रा. १/७/७९)

सीता जी के कठोर वचनों को सुनकर लक्ष्मण बोले माता मेरी बात को सुनो— तुम्हारे चारों ओर मैंने धनुष से रेखा खींच दी है, यह तुम्हारी रक्षा के लिए है। इसे कोई भी दुष्ट पार नहीं कर सकता है। तुम प्राण संकट आने पर भी इसको पार मत करना।

जब रावण ने सीता हरण कर अशोक वाटिका में उन्हें रख दिया, तो उस समय ब्रह्मा जी की आज्ञा से इन्द्र ने उन्हें वर्षपर्यन्त तृप्तिप्रद पायस माता सीता को भोजन के लिये देते रहे। उस खीर को खाकर माता सीता नित्य तृप्त हो गयी।

माता सीता का हरण होना और उनके वियोग दुःख से भगवान् राम का विलाप करना, यहाँ लोक शिक्षा हेतु मात्र उद्देश्य है। क्योंकि लोक में स्त्री के संग और वियोग से नाना अनर्थ उत्पन्न होते देखे जाते हैं। अतः भगवान् राम विलाप करते हुए लोक शिक्षा के उद्देश्य से' कहते हैं—नारियों का संग लोगों को सदा त्याग देना चाहिये। क्योंकि नारी के विरह से मुझे इस वन से उस वन तथा इस स्थान से उस स्थान में भटकना पड़ रहा है। अतः नारी का संग भ्रम का कारण है। (आ.रा. १/७/१४१)



माता–बुद्धिः

पिता–शुद्धसत्त्वान्तःकरणम्।

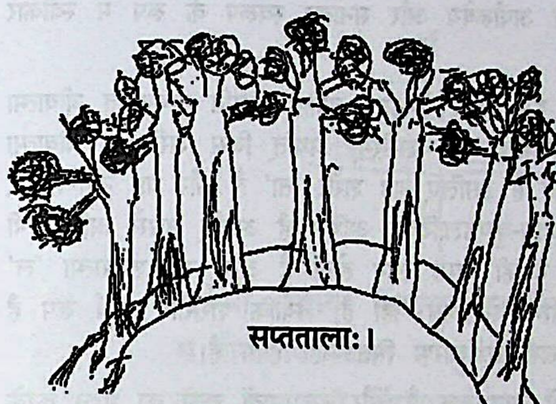
४ भेदाः–१. तुर्यावस्थः वरः–रामः। २. जागृदवस्थः–लक्ष्मणः। ३. स्वप्नावस्थकः–भरतः। ४. सुषुप्त्यवस्थकः–शत्रुघ्नः।

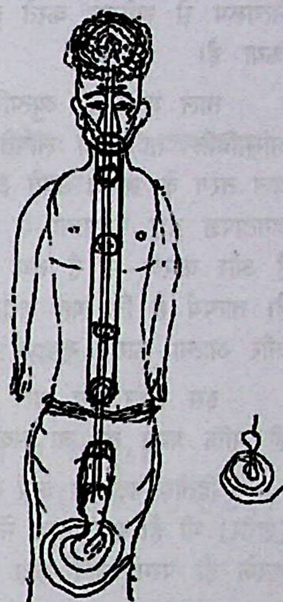
हृदयाकाशः-स्थानम्–अयोध्या। मनोवेगः-वहिर्गमः–विश्वामित्राध्वरे। मनोदुर्वृत्तिकातः–ताडिकावधः। धनुभंगः–मनोवेगभंगः। मायायोगः–सीतापाणिग्रहणम्। पूर्वसंस्कारनिग्रहः–परशुरामनिग्रहः। कुबुद्धिहेतोः–कैकेयाः वरदानतः। भवारण्येऽटनम्–दण्डके। दम्भस्य निग्रहः–विराधवधः। पर्णकुटी–देहः। कामः–खरः। क्रोधः–दूषणः। लोभः–त्रिशिरा। सूर्पणखा–आशा। मोहः–मारीचः। शोकः–कबन्धः। विवेकः–सुग्रीवः। भक्त्युद्रेकः–हनुमान्। अविवेकः–वाली। उत्साहः–विभीषणः। अज्ञानतरणोपायः–सेतु-बंधः। त्रिकूटः–त्रिगुणम्। लङ्का–सूक्ष्मदेहः। मदः–कुम्भकरणः। मत्सरः–मेघनादः। अहंकारः–रावणः। आनन्दः–राज्यम्। (आनन्दरा.वि. ३)

सीता ने श्रीराम जी से अपनी मन में उपस्थित शंका के निवारण के लिए एकान्त में गूढ़ प्रश्न किये थे जिसका उत्तर उपर्युक्त संज्ञानपेटिका चित्राङ्कन द्वारा कहा जा रहा है—

श्रीराम ने कहा हे सीते! सच्चिदानन्द रूप सागर में स्वेच्छया तरंगरूप आत्मबिन्दु उत्पन्न हुआ। आत्मा नामक तरंग में जो यह बुद्धि है, वही जीवात्मा की माता है और यह शुद्ध सत्त्वप्रधान जो यह अन्तःकरण है वही पिता है। इस आत्मा के चार अवस्था भेद ही चारों भाई हैं। उनमें तुर्यावस्थारूप बड़े भाई राम हैं तथा जाग्रदवस्थारूप लक्ष्मण हैं। स्वप्नावस्थारूप भरत हैं और सुषुप्त्यवस्थारूप शत्रुघ्न हैं।

हृदयाकाश ही उनके निवास स्थान अयोध्या हैं। मनोवेग का वहिर्गमन ही विश्वामित्र के यज्ञ में गमन है। मन के दुवृत्ति का नाश ही ताडकावध है। धनुर्भङ्ग ही मनोवेगों का भंग है। सीता का पाणिग्रहण ही माया योग है। पूर्व संस्कार का निग्रह ही परशुराम निग्रह है। कुबुद्धि के हेतु को कैकेयी का वरदान कहा गया है। दण्डकारण्य मे घूमना ही भवाटवी का भ्रमण है। विराधवध ही दम्भनिग्रह है। पर्णकुटी ही यह शरीर है। खर ही काम है और दूषण ही क्रोध है। त्रिशिरा लोभ है। सूर्पणखा ही आशा है। मारीच ही मोह है। कबन्ध ही शोक है। विवेक सुग्रीव है। भक्ति का उद्रेक ही हनुमान् है। अविवेक ही बाली है। विभीषण ही उत्साह है। सेतु बन्ध अज्ञान निवृत्ति के उपाय हैं। तीनों गुण ही त्रिकूट पर्वत है। लंका





सूक्ष्म शरीर है। कुम्भकरण मद है। मेघनाद मत्सर है। अहंकार सी रावण और आनन्द ही राज्य है। (आ.रा.वि. ३)

भगवान् श्रीराम जब वनवास में थे तो सीता के अन्वेषण क्रम में सुग्रीव से भेंट हुई और उनसे मैत्री का प्रस्ताव रखा। सुग्रीव भी अपनी स्त्री को बाली द्वारा छीन लिए जाने के कारण श्रीराम के तरह ही दुःखी थे और बाली से मुक्ति चाहते थे। राम ने उन्हें बालीवध का आश्वासन दिया। परन्तु सुग्रीव बाली के असाधारण बल से परिचित थे और यह जानते थे कि बाली को कोई असाधारण बल-वीर्य सम्पन्न तथा तपस्वी ही मार सकता है। अतः वे सप्तताल के भेदन के व्याज से उनका परीक्षण करते हैं।

अब प्रश्न है कि वे सप्तताल क्या है? और कौन है? यहाँ सप्तताल के पौराणिक कथा में न जाकर उसके आध्यात्मिक पक्ष को कहा जा रहा है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सम्पूर्ण पुराण-स्मृतिग्रन्थ-कथानक-काव्यादि जो भी विद्या के विस्तार के स्वरूप हैं वे सभी परमात्मतत्त्व को ही प्रतिपादित करने के उद्देश्य से प्रवृत्त हैं; इसलिए कहा है कि 'सर्वेषां शास्त्राणां परब्रह्मणि एव तात्पर्यः', 'रूचीनां वैचित्र्यात् त्वमसि पयसामर्णवमिव' सभी शास्त्र वेद के ही तत्त्वानुगामी हैं। वेद-ज्ञान-विज्ञान का वाचक है और ज्ञान-विज्ञान से ही परमात्मा की प्राप्ति सम्भव हो सकता है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञान के बिना मुक्ति (मोक्ष) सम्भव नहीं हो सकता है। अतः वेद की महत्ता को इस आर्यावर्त के आर्यजन ने

नित्यरूप से स्वीकार करते हुए उसे अपौरूषेय और सनातन स्वरूप के रूप में स्वीकार किया है।

ताल शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—तरति उन्मज्जति जीवात्मा अस्मिन्निति 'ता' तथा लीयते जीवात्मात्रेति 'लः' शरीरम्। अर्थात् जिस शरीर में जीवात्मा जल तरंग के समान उगते और डूबते हैं इसलिए यह शरीर 'ता' है और यह नाम-रूपादि जगत्प्रपञ्च ब्रह्म परमात्मा से स्वर्ण-कवच-कुण्डलादिवत् अभिन्न है अर्थात् उससे अभिन्न भी है और कारण भी है तथा कारण में ही प्रपञ्च लीन होता है अतः यह शरीरात्मा 'ल' है। तात्पर्य है कि यह शरीरादि आत्मा से भिन्न नहीं है, क्योंकि शरीरादि कार्य रूप है और आत्मा कारण रूप है और कार्य से कारण भिन्न नहीं होता है।

इस शरीर रूप ताल पिण्ड में सात चक्र हैं और उन सातों चक्रों का भेदन करके ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

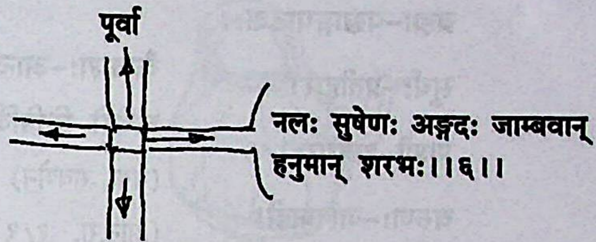
द्वितीय पक्ष का अर्थ है—'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' जैसा ब्रह्माण्ड है वैसा ही पिण्ड (शरीर) भी है। इस पिण्ड में भूलोक आदि सात लोक स्थित हैं और जीवात्मा उसका भेदन करके ही परमपुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त करता है।

तृतीय पक्ष का अर्थ है कि—अविद्यात्मक इस शरीर में—१. काम, २. कर्म, ३. पञ्चभूत, ४. पञ्चप्राण, ५. पञ्चकर्मेन्द्रिय, ६. पञ्चज्ञानेन्द्रिय और ७. अन्तःकरण चतुष्टय; है और यही सप्तताल है, जिससे अतीत परमात्मा है। जीवात्मा का शरीरस्थित इन कामादि सप्ततालों से अतीतभाव प्राप्त करना ही उसका च्छेदन है।

चतुर्थ अर्थपक्ष है—साधकों की साधना क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर सात अवस्था की स्थिति होती है—१ शुभेच्छा-श्रवण, २. विचारणा-मनन, ३. तनुमानसी-निदिध्यासन, ४. सत्त्वापत्ति-तत्त्वबोध, ५. असंसक्ति-विद्वर, ६. पदार्थाभाविनी-वरीयान और ७. तुर्यगा-ब्रह्मविद्वरिष्ठ। इन अवस्थाओं को साधना द्वारा प्राप्त करना ही सप्तताल भेदन है। यह सप्ताल प्रतीक है और विभिन्न अर्थ पक्ष को संगर्भित किया है। अतः इसकी सम्पूर्ण अर्थक्षेत्रीय व्याख्या बहुत विस्तार हो सकता है। अतएव उपनिषद् ने कहा है—

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्,
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होताः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः,
गुहाशया निहिताः सप्त-सप्त॥ (मुण्डकोपनि. २/१/८)

अतः इन पक्षों के भी चिन्तन विद्वानों द्वारा ऊहनीय है। उपर्युक्त सप्तताल और मानव शरीर गत चक्र के प्रतीक चित्राङ्कन द्वारा इन्हीं अभिप्रायों को व्यक्त किया गया है।



भवित्री लङ्कायां त्रिदशवदनग्लानिरचिरात्,
स रामोऽपि स्थाता न युधियुतो लक्ष्मण सखः।
तथा यास्यत्युचै र्विपदमनुजेनात्र जटिलः,
जयः श्रीरामे न मम मम बहुतोषोऽत्र त्र तु भवेत्।।
(आ.रा. १/९/८१)

यास्यां दिशं जाम्बवन्त-, मङ्गदं वायुनन्दनम्।
नवं सुषेणं शरभं, मैन्दं सम्प्रेषयत्तदा।।

भगवान् राम ने वानरों की सेना के सेनापतियों को बुलाया और उनको सीता की खोज के लिए सभी दिशाओं में भेजा। उनमें से नल-सुषेण, अंगद, जाम्वन्त, हनुमान और शरभ को दक्षिण दिशा में भेजा।

जब सीता ने रावण से कठोर वचन कहा कि—तुमने कुत्ते की तरह मेरा हरण किया है। इस वचन को सुनकर रावण ने क्रोधित होकर कहा है—हे सीते! सुनो इसी लङ्का में अतिशीघ्र देवताओं के मुख मलिन हो जायेंगे। लक्ष्मण के सहित यह राम भी युद्ध में देवताओं की रक्षा हेतु ठहर नहीं पायेगा और यह जटाधारी राम छोटे भाई के साथ अत्यन्त विपदग्रस्त हो जायगा। सीते! तेरे कथनानुसार राम की विजय कथमपि नहीं हो सकेगी और मुझे उस समय परम सन्तोष होगा। इस प्रकार रावण ने सीता जी को काकू वाणी से जब जीतना चाहा तो सीता बोली—हे रावण तुम इस श्लोक को सातवें अक्षर छोड़ कर पढ़ोगे तो उसका अर्थ यह होगा—

'भावित्री लङ्कायां दशवदनग्लानि' यह प्रथम चरण का अर्थ होगा दशमुख तुझे ग्लानि होगी त्रिदशवदन ग्लानि न होगा तथा दूसरे चरण में 'सरामोऽपि स्थाता युधि' वह राम भी युद्ध में जीतेगा तथा 'यास्यत्युच्चैः विपद मनुजेनात्र जटिलः' और जटाधारी भाई के साथ उच्च पद को प्राप्त करेगा तथा 'जयः श्रीरामेन' की जगह 'जयः श्री रामे स्यात्' जय श्री राम की होगी। इस प्रकार इस श्लोक में छः से अलग अक्षर छोड़कर पढ़ने से विपरीत अर्थ होगा तथा रावण लज्जित तथा क्रोधित होगा। (आ.रा. १/९/८१)

ब्रह्मा–पञ्चाङ्गपाठकः।

सूर्यः–प्रतीहार।

शशी–क्षत्रधरः।

वरुणः–जलग्राही।

पवनः–मार्जकः।

अग्निः–रजकः।

शचीपतिः–मालाकारः

यमः–दण्डपाणिः।

सुरस्त्रियः–दास्यः।

मार्तण्डो–नापितः।

गणपः–खररक्षकः।

मङ्ग्ह्याग्रहाः सप्त–

देवी–शिशुसेवातत्परा।

कैलाशः–आन्दोलितः।

कुवेरो–विनिर्जितः।

(मया रावणेन)

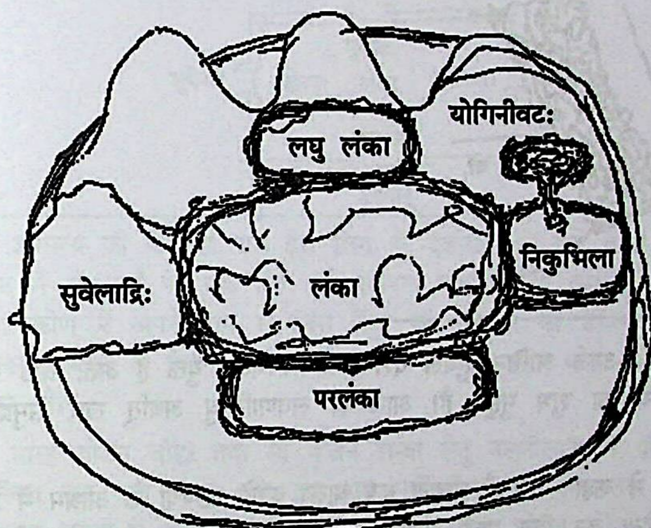
(आन.रा. १/९)



हनुमान् जी के वचन सुनकर रावण बोला कि—हे बन्दर! सुन मेरे पराक्रम को व्यर्थ क्यों कह रहा है। मेरे यहाँ तो ब्रह्मा पञ्चाङ्ग पाठक हैं, पढ़िवाई करते हैं। सूर्य पहरेदार हैं। चन्द्रमा छत्र धारण करते हैं। वरुण जल भरते हैं। वायु झाडू लगाते हैं। अग्नि धोबी का कार्य करते हैं। इन्द्र फूल लाते और माला बनाते हैं। यमराज दण्ड लिये मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करते हैं। देवों की स्त्रियाँ मेरी दासी का कार्य करती हैं। सूर्य नापित (नाऊ) का कार्य करते हैं। गणेश गधाओं की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार बुध, गुरु, शुक्र, शनि, रवि, सोम ये ग्रहगण अपने पीठ को मेरे पैर के तले देकर सीढ़ी का कार्य करते हैं। देवियाँ बच्चों की सेवा करती हैं। मैंने कैलासपर्वत को भी हिला दिया है तथा कुवेर को भी जीत लीया है। (आ.रा. १/९)



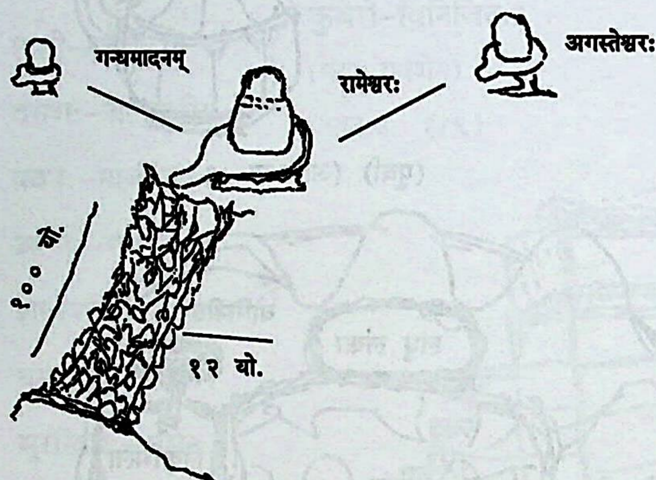
(पूर्वा) (आ.रा.सा. १०)



उपर्युक्त प्रतीक चित्र जीवात्मा के शरीर की ओर संकेत कर रहा है। इसमें आठ खानें बने हैं जो पुर्यष्टक का प्रतीक है। चित्र की टोटी मन के वहिर्गमन का द्वार है। जिस तरह कमण्डलु के जल का अपव्यय करने पर वह रिक्त हो जाता है, उसी तरह मन का दूरूपयोग करने पर मानव का अमूल्य शरीर रिक्त अर्थात् व्यर्थ चला जाता है।

भगवान् राम ने हनुमान् जी से लंका का स्वरूप पूछा तो हनुमान् जी ने विस्तार पूर्वक लंका का वर्णन किया उसी वर्णन के अन्तर्गत हनुमान् जी ने लंका के चारो ओर का वर्णन करते हुए बताया कि—लंका के उत्तर में सुवेलाद्रि अर्थात् सुवेल पर्वत है तथा परलंका पश्चिम में है। निकुंभिला दक्षिण में है। वहीं पर योगिनी वट है तथा पूर्व में शोभायमान लघुलंका है इन चारों के मध्य में मेरी पुच्छ से मुरझायी हुयी त्रिकूट शिखर पर मुख्य लंका में रावण का निवास है।

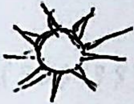
आश्विनीशुक्लदशमी श्रवणार्क्ष समन्विता विजयोमुहूर्तः। गच्छामो लवणार्णवम्।
(रामः) (पूर्वा) (आ.रा.शा. १०)



रामजी ने कहा—आज आश्विन शुक्ल दशमी श्रावण नक्षत्र युक्त है अत: श्रेष्ठ वासर (दिन) है। यह विजय का शुभ मुहूर्त है। आज ही लवणासिन्धु अर्थात् खारे समुद्र की यात्रा करनी है।

भगवान् शंकर ने कहा—जब मैं ब्राह्मण रूप धारण करके ऋषियों के आश्रम में प्रवेश किया था तो मुझे देख कर विप्र पत्नी मोहित हुयी थीं और तब ब्राह्मणों ने मुझे शाप दिया कि मेरा लिंग पृथिवी पर गिर जाय। मेरे लिंग के गिरते ही लिंग बढ़ने लगा और वह आकाश को छूने लगा। अकाल में ही प्रलय होता हुआ देखर मैंने ब्रह्माजी को निवेदन कर उसे काटने के लिए त्रिशूल दिया। ब्रह्माजी ने कहा कि आप ही इसका छेदन कीजिए। तब मैंने स्वयं त्रिशूल से उसके बारह खण्ड किये, वे ही द्वादश लिंग है। वे द्वादश लिंग—ओंकारेश्वर, सोमनाथ, त्रयम्बक, मल्लिकार्जुन, बैजनाथ, काशी विश्वनाथ, केदारेश, महाकाल, भीमेश, घुसृणेश्वर, रामेश्वर ये बारह ज्योर्तिलिंग हुए। गन्धमादन नामक लिंग मेरु से ईशान दिशा में है जो किसी भी मानव के नेत्रों का विषय नहीं है। (आ.रा.स. १०)

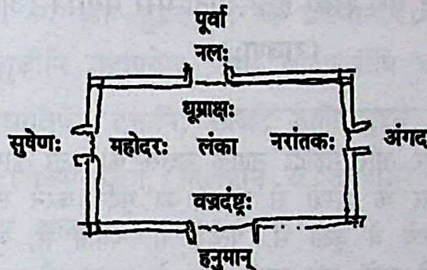
हे राम! इस गन्धमादन लिंग ही मेरी ज्योति है। वह आज तुम्हारे द्वारा स्थापित इस होकर रेत लिंग में समा गयी। अत: यह दुम्हारे द्वारा स्थापित रामेश्वर द्वादश लिंग में से एक होगा। जब रामजी ने रामेश्वर की स्थापना की उसी समय वहाँ अगस्त्य मुनि आ गये उन्होंने शंकर को और रामजी को प्रणाम किया रामजी ने भी उन्हें प्रणाम किया।



२२०२ योजनम् निमेषार्धात् याति।

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परान्, ते प्रस्तरा दुरस्तरे,
वार्धौ येन तरन्ति वानरभटान् सन्तारयन्तेऽपि च।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः
श्रीमद्दासरथेः प्रताप महिमा, सोयं समुज्जृम्भते।।

(आ.रा. १०/२०५)



अगस्त्य जी ने कहा राम इस लिंग के दर्शनादि से मुझे बहुत सन्तोष प्राप्त हुआ। इसलिए मैं भी यहाँ पर एक लिंग की स्थापना करूँगा ऐसा कहकर मुनि ने रामेश्वर लिंग के अग्निकोण में अपने नाम से जिस लिंग की स्थापना की उसका नाम अगस्त्येश्वर है। इस प्रकार रामेश्वर के ईशान कोण में गन्धमादन है और अग्नि कोण में आज भी अगस्त्येश्वर विद्यमान हैं।

बारह योजन चौड़ा तथा सौ योजन लम्बा सेतु नलनीलादि ने पाँच दिन में शिलापर राम लिख कर बना दिया। जब तक राम नहीं लिखा था तब तक शिला परस्पर जुड़ नहीं पाया समुद्र में वे डूब गये थे—प्रथम दिन १४ योजन, द्वितीय दिन २० योजन, तृतीय दिन २१ योजन, चतुर्थ दिन २२ योजन, पञ्चम दिन में २३ योजन, कुल मिला कर १०० योजन का सेतु तैयार हुआ। (आ.रा.स. १०)

भगवान् सूर्य आधे निमेष में दो हजार दो सौ दो योजन चलते हैं।

जो पर्वतखण्ड पाषाण स्वयं जल में डूब जाते हैं तथा दूसरों को भी डुबा देते हैं वे ही पत्थर आज नल, नील के स्पर्श से दुस्तर सागर में तैर रहे हैं और उनके ऊपर होकर वानर वीर भी जा रहे हैं कैसी आश्चर्य की बात है। ये न तो पत्थरों के गुण हैं, और न समुद्र का ही गुण है। किन्तु यह तो श्रीराम के महिमा का ही मात्र प्रभाव है।

(आ.रा. १०/१०५)

रावण ने अपने माल्यवान् अपने मातामह (नाना) के समझाने पर भी उनकी बात न मान कर लंका के पूर्व द्वार पर धूम्राक्ष को भेजा तथा वज्रदंष्ट्र को पश्चिम द्वार पर भेजा,

यस्तु द्वादशवर्षाणिः निद्राऽऽहारविवर्जितः।
तेनैव मृत्युर्निर्दिष्टो ब्रह्मणाऽस्य दुरात्मनः।। (आ.रा. १/११/१७६)

सरमा नाम विभीषस्य भार्या। (आ.रा. १/११/२३७)

रामो विष्णुश्च मा सीता जानामि प्राणवल्लभे।
रामहस्ताद् वधं लब्धुं हृता सीता पुरा मया।। (आ.रा. १/११/२४३)
(रावणः)

नरान्तक को दक्षिण द्वार पर और महोदर नामक राक्षस को उत्तर द्वार पर सेना के सहित भेजा। ये राक्षस नाना प्रकार के शस्त्रों से वानरों का मर्दन करने लगे तो राम सेना के भी बड़े-बड़े वानर भट आये वे वृक्षों से, पत्थरों से, पर्वतों से, मुष्टिका से तथा अन्य उपायों से राक्षसों को मारने लगे। उस समय नल ने धूम्राक्ष को, हनुमान जी ने वज्रदंष्ट्र को, तारापुत्र अंगद ने नारान्तक को तथा सुषेण ने महोदर को मार डाला।

जब मेघनाथ अजेय होने के लिए अशुभ यज्ञ कर रहा था तब विभीषण ने राम से कहा कि—यदि यह यज्ञ पूर्ण हो जायगा तो वह अजेय हो जायगा। अत: इसके यज्ञ में विघ्न डालकर लक्ष्मण द्वारा मरवाया जाय। क्योंकि जो बारह वर्ष तक निद्रा और भोजन एवं स्त्री सेवन से बचा होगा वही इसे मार सकेगा। इसको ब्रह्माजी का ऐसा ही वरदान है। अत: लक्ष्मण में ये सब योग्यता है, उसे मैं जानता हूँ। (आ.रा. १/११/१७६)

राम सेना से त्रस्त और भयभीत रावण ने असुरों के गुरु शुक्राचार्य के कथनानुसार गुप्त गुफा में प्रविष्ट कर मौन भाव से अपने विजय हेतु यज्ञ करने लगा, जिसे देख कर विभीषण ने उस अशुभ यज्ञ को भंग करने के लिए उपाय बताया। श्रीराम की सेना के बानरों ने रावण के परकोटे के दीवारें फाँद कर उस स्थान को खोजने का प्रयत्न किया। यज्ञ स्थल की खोज में व्याकुल उन बानरों को विभीषण की पत्नी सरमा ने हाथ के ईशारे से स्थान का संकेत बताया और श्रीराम की सेनाओं ने रावण द्वारा किये जा रहे अशुभ यज्ञ को भंग कर दिया। (आ.रा. १/११/२३७)

यज्ञ भंग के पश्चात् रामके पराक्रम को देखकर मन्दोदरी ने जब रावण को समझया कि—पतिदेव! ये राम साक्षात् नारायण अवतार हैं। तुम इन्हें सीता देकर तथा विभीषण को राज्य देकर वन में जाकर तप करो, इसी में आपकी भलाई है, तो रावण ने कहा हे प्रिये! मैं जानता हूँ कि राम विष्णु हैं और सीता माँ लक्ष्मी हैं। अत: मैंने राम के हाथ से मरने के लिए ही सीता का हरण किया है। तप से मुझे वह गति प्राप्त नहीं होगी

नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकार संस्थितम्। (आ.रा. २७८)

त्रिजटावरदानम्। (आ.रा. १२)

कार्तिके माधवे माघे, चैत्रे माघचतुष्टये।
कृत्वाग्रे त्रिदिनं स्नानं, न कृतं पौर्णिमोर्ध्वतः।।
तेषां मासकृतं पुण्यं, हरत्वं वचनान्मम।
अशुचीनि गृहाण्येव, तथा श्राद्धहवींषि च।।
क्रोधाविष्टेन दत्तानि, त्रिजटे तानि तुभ्यं हि।।
पादशौचमनभ्यंगं, तिलहीनं च तर्पणम्।
तथा श्राद्धमदक्षिणम्।।

जो राम के हाथ से मरने से होगी। मैं परमपद को प्राप्त करूँगा। तुम मेरी सम्पूर्ण पिण्डदानादि क्रिया करवाकर उसी अग्नि में सती हो जाना, जिससे तुम भी परमगति को प्राप्त करोगी। (आ.रा. १/११/२४३)

जब नाना प्रकार के दिव्य अस्त्र शस्त्रों से रावण न मरा तो विभीषण ने श्रीराम से कहा कि इसके नाभि देश में अमृत का कुण्ड है जो कुण्डलाकार में स्थित है। अतः हे राम! पहले आग्नेयास्त्र के द्वारा इसका शोषण करो तब सफलता मिलेगी। (आ.रा. १/११/२७८)

त्रिजटा के वरदान

सीता जी ने कहा—हे त्रिजटा! कार्तिक, वैशाख, माघ और चैत्र के पूर्व के तीन दिनों में जो पुरुष तुम्हारे उद्देश्य से स्नान करेंगे उससे तुम कृतकृत्य हो जाओगी तथा इन चारों मास की पूर्णमासी के पश्चात् जो स्नान नहीं करेंगे उनका चारों मासों के स्नान का फल तुम्हें मिलेगा अर्थात् तुम उसको ले लेना। हे त्रिजटे! मैं तुम्हें और भी वरदान देती हूँ। अपवित्र घर में जो पुरुष विधिपूर्वक भी श्राद्ध हवन करेंगे उनका फल भी तुम्हें मिलेगा एवं पवित्र ग्रहों के भी विधिपूर्वक किये गये श्राद्ध और हवनादि यदि शान्तभाव से न होकर क्रोधाविष्ट होकर किये जायेंगे तो उनका भी फल तुम हर लेना।

शुद्धि के अभाव, तैलमर्दन, तिल विहीन तर्पण और दक्षिणा से रहित, श्रद्धा से रहित कर्म निष्फल होता है अथवा उपर्युक्त निषेधित विधि के आचरणसे श्राद्धा निष्फल होता है। (आ.रा.सा. १२/६१)

माघशुक्लचतुर्थ्यां वै, पूर्णे वर्षे चतुर्दशे। (आ.रा.सा. १२/६१)

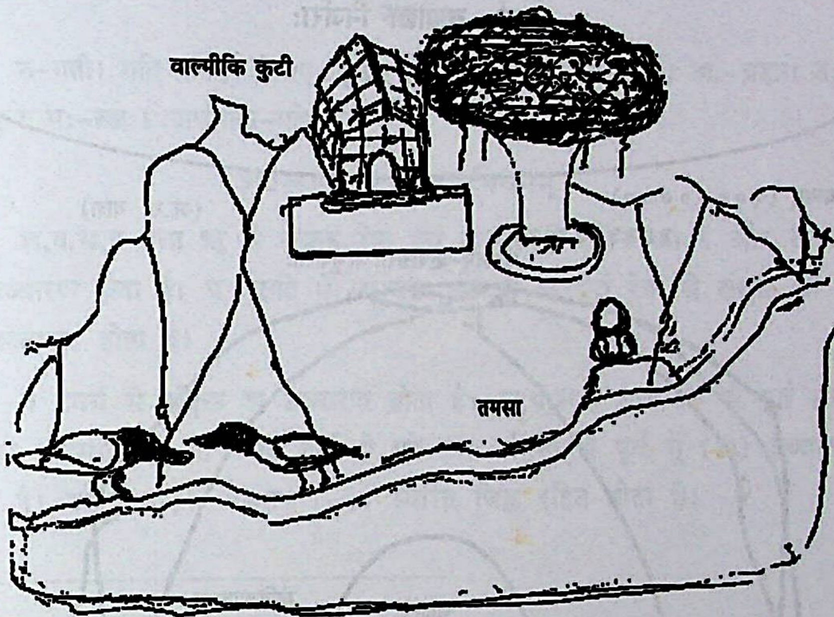
केसरी नाम विख्यातः, कपिरंजन पर्वते।
तस्यास्तां च शुभे पत्न्यौ वानर्यौ।।

भविष्यति त्वममरो,
वज्रदेहो वरान्मम।
ते कुण्ठितागतिर्मास्तु,
कुत्राप्यजनिसम्भव हरौ भक्ति।।
(विधिर्हनुमते) (आ.रा.सा. १३/१७६)

भगवान् राम वनवास के चौदह वर्ष पूर्ण होने पर लंका से लौट कर माघशुक्ल चतुर्थी तिथि को श्री भरद्वाज जी के आश्रम पर आ गये थे। उसी समय श्रीराम ने भरत को सूचना देने हनुमान् जी को अयोध्या भेजा। उस समय भरत चौदह वर्ष बीतने पर चिन्तित थे कि क्या राम युद्ध में मारे तो नहीं गये इत्यादि। श्रीभरत शोक संतप्त होकर अग्नि में प्रवेश करना ही चाहते थे कि हनुमान् जी पहुँच गये और भरत जी को बचा दिया। (आ.रा.सा. १२/६१)

बाली, सुग्रीव के जन्मादि के प्रकरण में श्रीराम से मुनि बोले—हे राम! अञ्जन पर्वत पर केसरी नाम का प्रसिद्ध कपि था उसकी दो पत्नी भी वानरी ही थी। उनमें एक अञ्जनी तथा दूसरी मार्जारास्या थी। अञ्जनी से वायु द्वारा हनुमान् जी का जन्म हुआ।

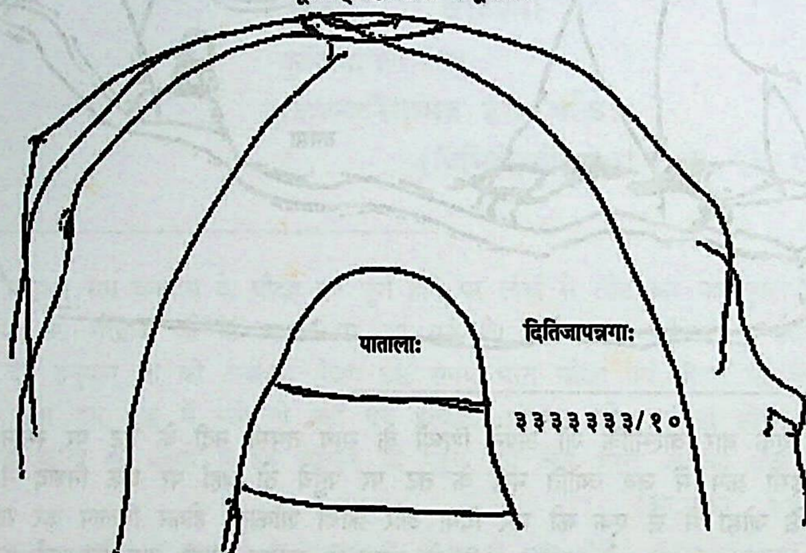
जब पैदा होते ही हनुमान् जी सूर्य को ग्रसा उस समय इन्द्र ने वज्र से मारुति को ठोडी भग्न की इसलिए भग्न हनु (टोडी) के कारण इनका नाम हनुमान हुआ। इसे देखकर वायु ने अपना सञ्चार वन्द कर किया। अपने पुत्र मारुति को सात्वना प्रदान की, वायुदेव के स्तम्भन होने पर सभी प्राणी गिर गये, हाहाकार मच गया तो इन्द्र को धिक्कार ब्रह्मा जी ने वायु को समझाया कि इन्द्र के अपराध को क्षमा करो मैं तुम्हारे पुत्र को वरदान देता हूँ। तब हनुमान जी से ब्रह्माजी बोले तुम देव होओगे तथा मेरे वरदान से तुम वज्रदेह होओगे तुम्हारी गति सर्वत्र व्याप्त होगी। कहीं कुण्ठित नहीं होगी। हे हनुमान्! तुम्हारी हरि में अनन्य भक्ति होगी और तुम इतने गुणी-बलवान् तथा बुद्धिमान् होओगे कि विष्णु की भी सहायता करोगे। (आ.रा. १३/१७६)



एक बार वाल्मीकि जी अपने शिष्यों के साथ तमसा नदी के तट पर स्नान करने गये। इसी क्रम में जब ज्योति नदी के तट पर पहुँचे तो वहाँ पर एक निषाद ने क्रौञ्च पक्षी के जोड़ा में से एक को मार दिया और क्रौंची शोकातुर होकर विलाप कर रही थी। उसकी करुणा क्रन्दन को सुनकर ऋषि के हृदय में करुणा आयी तथा करुणार्द्र हृदय से एक श्लोक सहसा उत्पन्न हुआ जिससे रामायण का प्रारम्भ हुआ वह श्लोक इस प्रकार है—

मा निषाद प्रतिष्ठां, त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेक; मवधीः काममोहितम्।।

हे निषाद तुम बहुत वर्षों तक प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सकोगे अर्थात् अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकोगे। क्योंकि तुम क्रौञ्च जोड़े में से एक काम मोहित को मार डाला। इस श्लोक से पूर्ण रामायण कथा का सृजन हुआ। दूसरे श्लोक की अकस्मात् रचना को देखकर वाल्मीकि जी को आश्चर्य हुआ तो ब्रह्माजी ने कहा कि यह मेरी इच्छा से तुम्हारे हृदय में सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ है, अब तुम राम कथा लिखो। इस प्रसंग कथा की को प्रकट करने के लिए यहाँ प्रतीक चित्राङ्कन किया गया है जिससे तथ्यागम सुलभ हो सके।



भगवान् शंकर अन्य देवताओं से बोले कि—वाल्मीकि द्वारा रचित सौ करोड़ रामायण को मुनियों ने ग्रहण किया है। उसे पढ़ते हुए देख और सुनकर देवताओं ने वाल्मीकि पर पुष्पवृष्टि की, तब यक्ष-किन्नरगन्धर्वों के सहित देवता-बड़े-बड़े भूपति दैत्य-पन्नग आदि ने परस्पर झगड़ा प्रारम्भ किया कि हम इस रामाणय को ले जायेंगे। हे देवि! हम सबको आश्वासन देकर क्षीरसागर गये जहाँ भगवान् विष्णु को जगाया। भगवान् विष्णु ने वृत्तान्त जाना और हँसते हुआ रामायण के तीन भाग करके बाँट दिया। प्रत्येक भाग में तैंतीस करोड़, तैंतीस लाख, तैंतीस हजार, तीन सौ, तैंतीस श्लोक आये। पुनः एक श्लोक ३२ वर्णों का बचा रह गया। जिसे देवता-मनुष्यादि-ऋषि-पातालवासी-दैत्य-पन्नगादि को दस-दस अक्षर बाँट दिये। पुनः दो अक्षर रा और म बच गये। भगवान् शिव को वेदो अक्षर माँगने पर प्राप्त हुए। वे दो अक्षर रा और म जिनका हम काशी में मरते हुए जीवों को अन्तसमय में उपदेश करते हैं। (आ.रा. यात्रा.)

रुद्रः

रु-गतौ। गति र्ज्ञानम्। क्विप्, तुगागमः। रुत्–ज्ञानं, राति–रुद्रः। अः–ब्रह्मा। उः–विष्णुः। मः–रुद्रः। अर्धमात्रा–महेश्वरी।

शुक्लयजुर्वेदोच्चरणनियमम्।

श,ष,स,ह तथा ऋ से संयुक्त रेफ एवं लकार हो तो र का रे और ल का ले उच्चारण होता है। य पदादि में असंयुक्त तथा ह ऋ एवं रेफ से संयुक्त हो तो ज उच्चारण होता है।

ष टवर्ग से संयुक्त श उच्चारण होता है। श,ष,स,ह तथा ऋ से पूर्व ह्रस्व से परे अनुस्वार गुं (ᳪ) एवं दीर्घ से परे तथा संयुक्त से पूर्व गूं (ᳫ) उच्चारण होता है। उदात्त (˩)। अनुदात्त (–)। स्वरित चिह्न रहित होता है।

रुद्र शब्द की सिद्धि इस प्रकार है—रु गतौ धातु से जिसका अर्थ गति अर्थात् ज्ञान है। उससे कर्ता में क्विप् प्रत्यय किया और क्विप् से सर्वापहारी लोप हुआ। पुनः (ह्रस्वस्यपिति कृति तुक्) इस सूत्र से तुगागम हुआ और वुग् का त् शेष रहा। इसी प्रकार रुत् तदन्तर रुतं और राति ददातीति विग्रह में रुद्र शब्द बना। ओम् शब्द में अ उ म तीन अक्षर है। अ ब्रह्मा, उ विष्णु तथा म शिव हैं तथा अर्ध मात्रा महेश्वरी हैं। कहा कि—'समस्तं व्यस्तं त्वां सरणद गृह्णात्योमिति', 'अर्धमात्रा स्थिता निव्या यानुच्चार्या विशेषतः'।

शुक्ल यजुर्वेदोच्चारण नियम

श,ष,स,ह तथा ऋ से संयुक्त रेफ एवं लकार हो तो र को रे और ल को ले उच्चारण होता है। जैसे—सहस्त्रशीर्षा का शी रेषा। पदादि में यदि ह ऋ एवं रेफ संयुक्त हो तो ज उच्चारण होता है। जैसे—यज्जाग्रतोदूर इत्यादि।

ट वर्ग से संयुक्त यदि ष हो तो श उच्चारण होता है और श ष स ह तथा ऋ से पूर्व ह्रस्व से परे अनुसार का गुं (ᳪ) एवं दीर्घ से परे तथा संयुक्त वर्ण से पूर्व ह्रस्व गुँ का दीर्घ गूँ (ᳫ) उच्चारण होता है। उदात्त का चिह्न (˩) अनुदात्त का (-) क्रमशः वर्ण के ऊपर और नीचे अर्थात् र्णा-ण् के समान होता है। स्वरित चिह्न रहित होता है। उदात्त दीर्घ ध्वनि, अनुदात्त निम्न ध्वनि और स्वररित मध्य ध्वनि वाचक होता है।

प्रयागे

अष्टतीर्थी ततो गत्वा। (आनन्दरा. २।६)

त्रिवेणी, वेणीमाधव, सोमनाथ, भरद्वाज, नागवासुकी, अक्षयवट, दशाश्वमेध, झूसी।

ॐ श्रीमद्विश्वाधिष्ठानाय नमः परमहंसाय।।



प्रयाग में राम

भगवान् प्रयाग पहुँचे वहाँ त्रिवेणी तीर्थ है। वहाँ एक कोश तक सीता के साथ पैदल चलकर त्रिवेणी पहुँचे। वहाँ नारियल चढ़ाया और लक्ष्मणादि भाइयों के साथ क्षौर (मुण्डन) कराया तथा माताओं के साथ एक दिन उपवास किया। दूसरे दिन श्राद्ध तर्पणादि किया। इस प्रकार एक मास तक माघ में राम ने कल्पवास किया। पुनः ऊपर मूल में लिखे आठ तीर्थों का सेवन करने वाले राम ने वहाँ से चलकर अनेक प्रकार से दान करके प्रलयकाल के अपने शयन स्थान अक्षय वट को देखा तथा वस्त्र आभूषण आदि से पूजा की। (आ.रा. २/६)

विश्व के अधिष्ठान परम हंस को प्रणाम है। परमहंस कौन है? जो आत्मा को अपने में ब्रह्म ही है ऐसा जाने। यह सब प्रपञ्चजात ब्रह्म ही है इसका अधिष्ठान ब्रह्म है। उसमें प्रपञ्च ऐसे ही क्षणिक दीख रहा है। जैसे रज्जू में सर्प मिथ्या होने से क्षणिक होता है। अतः जिससे जगत् उत्पन्न होता है उसके उपासक परमहंस होता है। जिस प्रकार नदी या समुद्र का जल जब शान्त भाव में होता वैसा ही शान्त स्वभाव ब्रह्म की उपासना करे। इस विधि से उपासना करने वाला परमहंस होता है। अथवा जल के विकार तरंगादि को जिस तरह जल से अभिन्न ही जाना जाता है उसी प्रकार जगत्प्रपंच को भी अधिष्ठान ब्रह्म से अभिन्न बुद्धि से उपासना करने वाला परमहंस है। इस प्रकार से शान्त होकर ब्रह्म की उपासना करें।



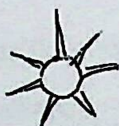
महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत्।
प्रारब्धप्रतिभासपर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत्।। (महावा.र. १)
वेदान्तश्रवणं कुर्वन् योगं समारभेत्।
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।।

महत्पद ब्रह्मपद को कहते हैं। ब्रह्म को ही परमात्मा भी कहते हैं और परमात्मा ही आत्मा है। अविद्योपाधि के कारण वह जीवात्मा कहलाता है। अविद्या के उच्छेद होने पर जीवात्मा परमात्मा का अभेद हो जाता है। उस अभेद बोध के लिए श्रुति वाक्य—'श्रोतव्य: मन्तव्यो निदिध्यासतव्य:' 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति कञ्चन', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सदेव सौम्य इदमग्रमासीत्', 'रूपं-रूपो प्रतिरूपं बभूव' इत्यादि वाक्यों का मनन कर और बार-बार उसका ध्यान-चिन्तन करके आत्मा और परमात्मा का अभेद बोध प्राप्त करना चाहिये। यही 'महत्पदं ज्ञात्वा' का अभिप्रायार्थ है। जब उस परमात्मा का स्वात्मा से अभिन्न अर्थात् अभेदान्वय बोध विनिश्चय हो जाय तो उसी (ब्रह्म) में तस्थ हो जाना चाहिये। यही 'वसेत्' पद (वाक्य) का अर्थ है। प्रतीक चित्र द्वारा इसी अभिप्राय को दर्शा दिया गया है।

जब तक प्रारब्ध कर्मों का प्रतिभास अर्थात् प्रतीति बनी रहे तब तक अपने स्वात्म स्वरूप का अनुसन्धान करता हुआ ही रहे। (महावा.र. १)

वेदान्त का श्रवण करते हुए योग का प्रारम्भ करें।

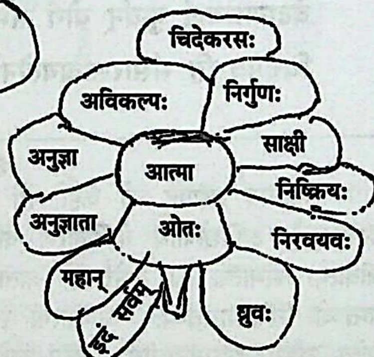
चित्त ही संसार है। 'मन एव मनुष्याणां कारण बन्धन मोक्षयो:' इत्यादि के अनुसार चित्त को ही बस में करें उसका शोधन करें और शोधन योग से ही होता है। इसलिए योग का अभ्यास निरन्तर करना चाहिये।





उदासीनवदासीनः
गुणैर्न विचाल्यते
गुणावर्तन्ते सर्वारम्भ परित्यागी
तुल्य प्रियाप्रियोधीर-, स्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
मानापमानयोस्तुल्य-, स्तुल्योमित्रारिपक्षयोः।।
गुणातीतः।





गुणातीत मुनि के क्या आचार होते हैं? इस प्रश्न की जिज्ञासा में कहते हैं—'उदासीन तदिति' जो किसी पक्ष का आश्रय न ले अर्थात् दोनों में समान रहे वह उदासीन होता है। सन्यासी ऐसे रहता हुआ अपने स्वरूप में स्थित गुणकृत इष्ट-अनिष्ट के स्पर्श आदि का अनुभव करता हुआ भी उन्हें आत्मविपरीत समझकर उनसे विचलित नहीं होता है अर्थात् गुणगुणों में वरत रहे हैं ऐसा जानता है। इस प्रकार जो सभी आरम्भों का अर्थात् कार्यों का त्यागी हो और जिसे प्रिय और अप्रिय तुल्य हो, जो मित्र पक्ष में, शत्रु पक्ष में समान रहे तथा अनन्य भक्ति योग से मेरी (श्रीकृष्ण की) सेवा करे वह सन्यासी गुणातीत कहलाता है।

यहाँ चित्राङ्कन द्वारा आत्मा के स्वरूप लक्षण को कहा जा रहा हैं। उस आत्मा का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न का ही उत्तर है—वह आत्मा चिदेकरस-निर्गुण-साक्षी-निष्क्रिय-निरवयव-ध्रुव-सर्व-महान्-ओत-अनुज्ञाता-अनुज्ञा और अविकल्प स्वरूप वाला है।

संकलासंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते,
संसार मोहमिहिता गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खं स्वं स्वरूपम्,
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः।। (महावा.र.१४)

सर्वातीतस्वभावात्मा, नादान्तर्ज्योतिरेव सः।

पशोः पशुः को? न करोति धर्मम्,
प्राधीत शास्त्रोपि न चात्मबोधः।
किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री,
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः।। (प्रश्नोत्तरी २९)

स्वर्गः–तृष्णाक्षयः। घोरो नरकः–स्वदेहः।

त्यक्तेषणो ह्यनृणः.......। (महवा.र. १/६०)

संसार की वासना राग-द्वेष आदि का नाश होने पर जब मन केन्द्रित हो जाता है तब मन के शान्त मन की दशा में संसारी जन का मैं और मेरा, तुम और तेरा इत्यादि मोह-ममता समूह शिथिल हो जाता है। इस प्रकार मोहादि से जब चित्त शून्य होकर शुद्ध हो जाता है तो उसमें शरद के मेघों के समान अर्थात् शुद्ध आकाश में जैसे नक्षत्रादि स्पष्ट दीखते हैं वैसे ही अन्तःकरण में चिन्मात्र एक रस अनादि अनन्त तत्त्व स्पष्ट भासित होने लगता है। (महावा.र. १४)

सर्वातीत स्वभाव रूप आत्मा नादान्तर्वर्तिज्योतिस्वरूप ही है।

पशुओं का भी पशु कौन है? जो प्रसङ्ग आने पर भी धर्म कार्य न करे और जिसे शास्त्रों के अध्ययन बाद भी आत्माबोध न हो वह भी पशु है। ऐसा विष क्या है जो अमृत जैसा लगता है? ऐसा विष स्त्री है। मित्र की तरह लगने वाले शत्रु कौन हैं? अपने पुत्रादि ही मित्र तुल्य शत्रु हैं।

स्वर्ग क्या है? तृष्णा का नाश ही स्वर्ग है। घोर नरक क्या है? अपना शरीर ही घोर नरक है। (प्रश्नोत्तरी २९)

ऋण से मुक्त कौन है? जिसने सम्पूर्ण तृष्णा का त्याग कर दिया है वही ऋण मुक्त है। (महावा.र. १/६०)

कर्तृत्वाद्यहंकार भावनारूढो मूढः। (" ६२)

अतिवर्णाश्रमं रूपं–सच्चिदानन्द लक्षणम्।
स्वायत्तमेकान्तहितं, स्वेप्सितत्यागवेदनम्।।

दृष्टृदर्शन दृश्यानां विरामो
यत्र तत्र दृष्टिः कर्तव्या।



नान्यत्किंचनमिषत्

हकारः खेचरी प्रोक्तः, त्वं पदं चेति निश्चितम्।
सकारः परमेशः स्यात्, त्वत्पदं चेति निश्चितम्।।

आद्यो रा तत्पदार्थः स्यात्, मकारस्त्वंपदार्थवान्।
तयोः संयोजनमासी-त्यर्थे, तत्त्वविदो विदुः।।

नमस्त्वमर्थी विज्ञेयः, रामस्तत्पदमुच्यते।
असीत्यर्थे चतुर्थी स्यात्, एवं मन्त्रेषु योजयेत्।। (म.वा.र. ६)

कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि अहंकार भावनाओं में जो आरुढ़ है, वह मूढ है। यही बन्धन है और इनकी निवृत्ति मोक्ष है। अहंकार भावनारुढ मृत्यु को प्राप्त होता है। क्योंकि नानारूप दर्शन करता है।

जो अपने को वर्णाश्रमातीत स्वरूप शुद्ध सत्-चित्-आनन्द रूप जानता है वह ही मुक्त होता है।

जहाँ द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इन तीनों का लोप हो जाय और चित्तवृत्ति त्रिपुटी शून्य हो जाय उसी में दृष्टि करनी चाहिए। त्रिपुटी की समाप्ति होने पर वह साधक कुछ भी नहीं देखता है, न सुनता है, अपने स्वरूपमात्र में वह अवस्थित हो जाता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' पद में जो हकार है वह खेचरी मुद्रा है और 'तत्त्वमसि' पद में जो 'त्वं' पद है वह 'मैं ब्रह्म हूँ' इस विनिश्चय अर्थ का वाचक है। 'सोऽहं' में जो सकार है वह परमेश वाचक है। 'राम' शब्द में जो प्रथम 'रा' वर्ण है वह तत्पदार्थ (परमात्मा) वाचक है और अन्तवर्ण मकार 'त्वं' (जीवात्मा) वाचक है तथा तत्त्वमसि में जो 'असि' पद है वह जीवात्मा परमात्मा के संयोजन से उत्पन्न ऐक्य बोध का वाचक है ऐसा तत्त्ववेत्ता लोगों का विचार (मत) है।

इसी प्रकार राम शब्द को भी महावाक्य बनाते हैं यह भी तत्त्वमसि महावाक्य है। इसमें रा तत्पदार्थ है और म त्वं पदार्थ है। इन दोनों का संयोजन असि क्रिया पद का अर्थ था ऐसा

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रा, महं मम स्वप्न मतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तै, गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः।।
प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः, कामै र्वा हन्यतां मनः।
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य, मम दुःखं कथं भवेत्।। (महावा.र. १०)

ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च, नाम सौन्दर्य जातयः-स्थूलदेहगताः। क्षुत्पिासान्ध्यबाधिर्य, कामक्रोधादयोखिलाः-लिङ्गदेह गताः। जडत्व प्रियमोदत्व-धर्मा कारणदेहगाः। साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र, न कुर्वे नापि कारये। (महावा.र. ७)

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात्। भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः। (जी.मु.)

तत्त्ववेत्ता कहते हैं। इस प्रकार रामाय नमः इस मन्त्र में भी तत्त्वमसि वाक्यार्थ का अनुगम करते हैं। यहाँ नमः त्वं पद का अर्थ है तथा राम तत्पद का अर्थ है और चतुर्थी विभक्ति असि क्रिया पदार्थ है। ऐसा ही अन्यत्र (अन्य मन्त्र में) संयोजन कर लेना चाहिए। अर्थात् नमः शिवाय आदि मन्त्र भी महावाक्य ही हैं। सभी मन्त्र जीव और ब्रह्म की एकता में ही पर्यवसित है। सभी का तात्पर्य जीवब्रह्म की एकता में ही है ऐसा जानना चाहिये। (महा.वा.र. ६)

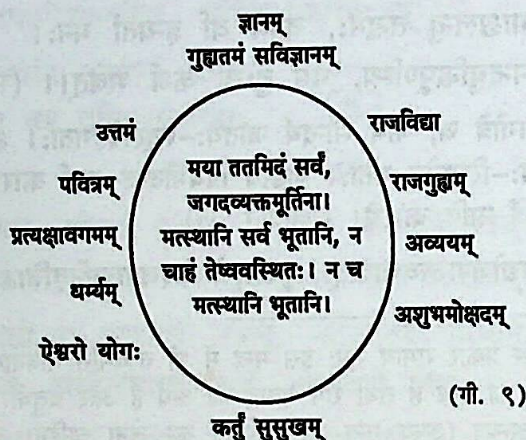
अब तक मैं अनात्म पदार्थों को सत्य समझ रहा था उस मिथ्या अनात्म दृष्टि की अज्ञानरूपी निद्रा में सोकर यह मेरा है और यह मैं हूँ इत्याकारक झूठे स्वप्न देख रहा था। अब श्रीगुरुजी महाराज के संशय शून्य स्पष्ट महावाक्यों के उपदेश (स्वरूपभूतआत्मबोधन) से ज्ञान स्वरूप सूर्य का उदय हुआ और मैं जाग गया हूँ और मैं ब्रह्म स्वरूप ही हूँ, ऐसा जान गया हूँ।

अब मेरे प्राण अपने पुत्र-मित्रादि धर्मों के साथ भले ही चलते रहें तथा नाना प्रकार की इच्छायें भी चाहे मन को व्यथित करे, परन्तु मैं आनन्दसिन्धु में आनन्द बोध से परिपूर्ण हूँ। इसलिये मुझे अब तीनों काल में भी दुःख की सम्भावना नहीं है। (महावा.र. १०)

मैं ब्राह्मण कुल का हूँ, मुझमें ब्राह्मणत्त्व है, मैं उत्तम कुल का हूँ, मेरा उत्तम गोत्र है, मेरा उत्तम नाम है, मैं सुन्दर हूँ, मेरी उत्तम जाति है इत्यादि वर्ण अवस्था रूप गोत्र-जाति का अभिमान अब मुझमें नहीं है। क्योंकि ये सब स्थूल शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं तथा क्षुत्पिपासा-अन्धापन-वधिरता-काम-क्रोधादि सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर के धर्म हैं। जड़ता-प्रिय-मोद-प्रमोद आदि कारण शरीर के धर्म हैं। मैं तीनों शरीरों का द्रष्टा हूँ। मैं साक्षी हूँ, न कुछ करता हूँ, न करवाता हूँ इसलिए न भोक्ता हूँ, न भोग्य हूँ और न भोजयिता हूँ। (महावा.र. ७)

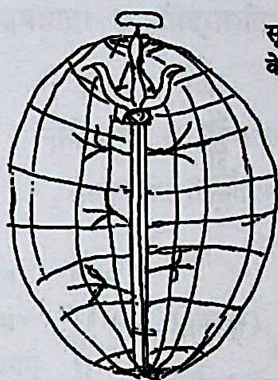
उस परम तत्त्व का नितान्त चिन्तन करने से तथा उसके यथार्थ स्वरूप को निदिध्यासन द्वारा विश्व में घटाते हुए निर्णय करने से जब तत्त्व का भान हो जाता है तो अन्त में सम्पूर्ण रूप से माया समाप्त हो जाती है। (महावा.र.जी.मु. ४)

द्रव्ययज्ञाः–गृहिणः। तपोयज्ञाः–वनिनः। योगयज्ञाः–अपरे। ज्ञानयज्ञाः–यतयः संशितव्रताः। स्वाध्याययज्ञाः–वटवः। (श्रीमद्भव. ४)



द्रव्यसाध्य-वापी-कूप-आराम-इष्टापूर्त-अन्नदान आदि कर्म द्रव्य यज्ञ है। यह गृहस्थाश्रमी का यज्ञ हैं। तप ही को यज्ञ मानने पर तपोयज्ञ, जो वानप्रस्थाश्रम सेवी पापक्षय के लिए अथवा परमात्मा की प्राप्ति के लिए चान्द्रायणव्रत प्राजापत्यादि व्रतों को करते हैं वे तपोयज्ञ कहलाते हैं। योगश्चिवृत्तिनिरोधरूप जो अष्टाङ्गयोग है उसके द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं वे योगयज्ञ हैं। यह यज्ञ सभी प्रकार के साधकों के लिए अनिवार्य है इसलिए कोई विशेष नाम नहीं है। जो यति यत्नशील है जिन्होंने अपने सन्यासियों के व्रतों को तीक्ष्ण बना रखा है, शास्त्रोक्त-नियमों-त्याग-तपस्या यतियों का ज्ञानयज्ञ है। जो नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन करते हैं वे स्वाध्याय यज्ञ बटुकों के यज्ञ कहलाते हैं। यद्यपि यह बटुओं का धर्म है तथापि ब्रह्मचारिव्रत को यतियों को भी करना चाहिए। अतः स्वाध्याय को ज्ञान बताया है। (श्रीमद्भ.गी. ४)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले अर्जुन! तुम समस्त शिष्यों के गुणों से युक्त हो। तुम असूया (गुणों में दोष देखना) से रहित हो। इसलिए अब तुम्हारे लिए इस ब्रह्मज्ञान को कहता हूँ जो साक्षान्मोक्ष प्राप्ति का साधन है। यह गुह्यतम है, अत्यन्तगोपनीय है, क्योंकि यह सविज्ञान अर्थात् आत्मा अनुभवयुक्त है। ऐसे गोपनीय ज्ञान को मैं तुम्हारे लिए कहता हूँ, जिसे जानकर तुम शीघ्र ही सर्व दुखों से मुक्त हो जाओगे। उस ज्ञान की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—यह ज्ञान अत्यन्त दीप्तियुक्त है, अतः सभी विद्याओं का राजा है, क्योंकि सम्पूर्ण अविद्याओं का नाशक है। अन्य विद्यायें तो अविद्या के एक देश का नाशक है। इसलिए यह ज्ञान राजविद्या है और यह ज्ञान सर्व गुह्य ज्ञानों का राजा है क्योंकि यह अनेक जन्मकृत सुकृत साध्य है। हर कोई नहीं जान सकता है।



सूली ऊपर सेज पिया की
केहि विधि मिलना होय।

'पवित्रमिदं' अर्थात् यह अत्यन्त पवित्र है। प्रायश्चितादि जितने भी पवित्रता के कारण हैं यह ज्ञान उनका भी कारण है। यह ही उत्तम है क्योंकि इसमें अन्य बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा नहीं है। यह अनेक जन्म सञ्चित कर्मों के फल को क्षणमात्र में भस्म कर देता है और इसकी यह भी श्रेष्ठता है कि यह प्रत्यक्षावगम है। सुख-दुख की भाँति इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा अन्वेषणादि अनेक गुणों से युक्त होने पर भी जगत् धर्म विरोधि है किन्तु यह ज्ञानरूप है। लेशमात्र भी इसमें आत्म धर्म विरोध नहीं है और यह सुखपूर्वक करने के योग्य है। इसमें अन्य साधनों की तरह नाना प्रकरणों की आवश्यकता तथा उपवासादि की आवश्यकता नहीं है और यह अव्यय है, क्योंकि अनायास साधनसाध्य होने पर भी इसका स्वर्गादि की तरह नाश नहीं होता है। यह अक्षय फल है। इसका व्यय नहीं होता है।

इस प्रकार ज्ञान की महिमा बताकर अर्जुन को अभिमुख करके भगवान् कहते हैं कि—अर्जुन! ये सब भूत समूह अधिष्ठानभूत अव्यक्त मूर्ति द्वारा व्याप्त है। उस अगोचर मूर्ति में ही ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब भूत रह रहे हैं। क्योंकि बिना आत्मसत्ता के कोई भूत व्यवहार में समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य जैसा दीखता है उसी प्रकार वास्तव में उन कल्पित भूतों में मैं ही हूँ। क्योंकि कल्पित और वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता है। कहा भी है कि—जो जिसमें अध्यस्त होता है उसमें उसका लेशमात्र भी गुण-दोष नहीं आते हैं। इस प्रकार सभी भूत मेरे में स्थित होने पर भी मैं उनसे पृथक हूँ। अर्जुन! इस अघटित घटना चातुर्य से युक्त मेरे इस अद्भुत प्रभाव को तुम देखो। (श्रीमद्भग.गी. ९)

उपर्युक्त प्रतीक ब्रह्माण्ड का है और ब्रह्माण्डान्तर्गत त्रिशूल प्रविष्ट है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसका सम्पूर्ण तात्पर्य है कि समष्टि ब्रह्माण्ड आधिभौतिक-आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों से सम्पृक्त है और इसी तीनों दुःखों से परिपूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि में परमात्मा का वास है तथा उसे (परमात्मा को) प्राप्त करने के लिए जो उपाय है उसका

निर्ममो–ममतायुक्तः।
निर्धनो–सदातुष्टः।
अभुञ्जानो–नित्यतृप्तः।
असमः–समदर्शनः।
कुर्वन्नपि–अकुर्वाणः।
फलभोग्यपि–अभोक्ता।
शरीर्यपि–अशरीरः
परिच्छिन्नोपि–सर्वगः। (महावा.र. ८)

(जीवन्मुक्तः)

अन्वेषण भी कठिन ही है। विना अन्वेषण से दुःख की निवृत्ति नहीं होगी और दुःख से निवृत्ति के विना परमानन्द स्वरूप परमात्मा का मिलन सम्भव नहीं है। उस त्रिशूल प्रतीकभूत तीनों दुःखों से निवृत्ति गुरू के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वमस्यादि श्रुति वाक्योंत्थित बोध 'अहं ब्रह्मास्मि से ही सम्भव हो सकेगा। क्योंकि जब तक जीव स्वयं को शरीरादि मानता है तभी तक दुःख है और शरीरादि धर्मातीत हो जाने पर इन त्रिशूल से मुक्ति मिल जायगी तथा आत्म-परमात्म अभेद बोध होने पर प्रिय आत्मा के यथार्थ स्वरूप मिलने से दुःखत्रयरूप त्रिशूल (संसार धर्म) से मुक्ति मिल सकेगी।

जीवन्मुक्ति दशा की महिमा

जो जीवनमुक्त है वह निर्मम अर्थात् आत्मा में उसकी ममता (अपनापन भाव) होती है। वह निर्धन होने पर भी सदा सन्तुष्ट रहता है, विना भोजन के भी नित्य तृप्त रहता है। संसार की विषमताओं में समभाव से देखता है और सांसारिक सभी कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ भी वह कर्तापन के अहंकार से रहित होता है। जीवन्मुक्त कृतकर्म से प्राप्त भोगों के भोक्ता होते हुए भी अपने को अभोक्ता अनुभव करता है। वह शरीरी होते हुए भी शरीर में स्वात्मा का अहंकार नहीं करता। वह परिच्छिन्न (एक देश-एक काल अर्थात् विभक्त) होते हुए भी स्वात्मना मैं व्यापक हूँ ऐसा जानता और अनुभव करता है। (महावा.र. ८)

जीवनमुक्त लक्षण

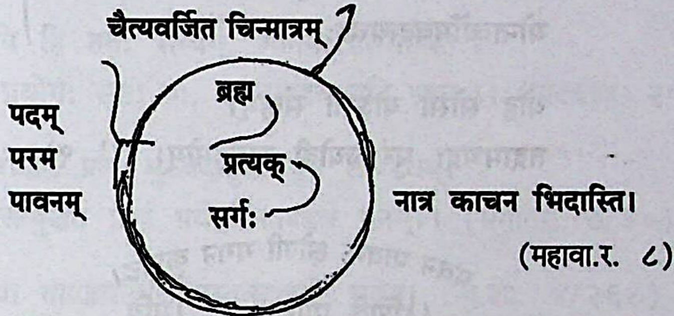
यहाँ जीवन मुक्त साधक के आठ लक्षण क्रमशः दिये गये हैं—

१. जो निर्मम होते हुए भी जगत्प्रपञ्च में ममता का भाव रहता हो, वह जीवन मुक्त होता है अर्थात् सभी में स्वात्मभाव दृष्टि हो वह, जीवन मुक्त है।

२. जो निर्धन रहते हुए भी सदा आत्मतुष्ट हो, वह जीवनमुक्त है।

३. जो विना भोजन के भी नित्य आत्मतृप्त हो, वह जीवनमुक्त पुरुष है।

अहमन्नमहमन्नाद। ब्रह्मविद्गसतिसर्वम्। (महावा.र. ८)



४. जो असम (समानता रहित) होते हुए भी सबमें केवल परमात्मभाव अर्थात् सर्वात्म्यैक्यभाव रखता हो, वह जीवनमुक्त है।

५. जो कर्म करता हुआ भी स्वात्मा में अकर्तृता का भाव रखता हो, वह जीवन मुक्त है।

६. जो प्रारब्ध कर्म का फल भोगता हुआ भी स्वात्मना अभोक्ता बुद्धि से वर्तता हो, वह जीवन मुक्त है।

७. जो शरीर होते हुए भी स्वात्मा का अशरीरी ज्ञानवाला हो, वह जीवनमुक्त पुरुष है।

८. जो स्वयं शरीरादि से परिच्छिन्न होते हुए भी सभी जीवात्माओं तथा अन्य वस्तुओं में स्वात्मना अपनी उपस्थिति का दर्शनभाव बुद्धि वाला हो, वह जीवन्मुक्त पुरुष है।

अथवा उपर्युक्त लक्षण ही जीवन्मुक्त का है। जो जीवनन्मुक्ति चाहता है, वह गुरुपरम्परा और श्रुतिमन्त्र के आश्रय से चिन्तन-मनन-निदिध्यासनादिपूर्वक उपासना के द्वारा उपयुक्त निर्मल बोध को प्राप्त करें। (महावा.र. ८)

जैसे रवि सभी रसों का भोग करते हैं और जैसे अग्नि सबका भक्षण करते हैं ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता योगी भी 'अहमन्नमहमन्नादः' इस श्रुति के अनुसार मैं ही अन्न हूँ, मैं ही अन्नभोक्ता हूँ इस प्रकार सर्वथा भोक्ता होता है।

सर्वाधिष्ठान निर्विकल्पक चिदात्मा में वृत्ति का स्थित होना ही प्रज्ञा है। जब सभी चित्तगत मनोरथों का त्याग कर परब्रह्म में ही चित्तक्षोभ रहित (नात्रकाचनभिदस्ति) यहाँ कोई सजातीयादि भेद नहीं, इस परमपावन प्रत्यगभिन्न चेतनस्वरूप में स्थिति ही चिन्मात्र वृत्ति है। (महार.वा.र. ८)

यो जागर्तिसुषुप्तिस्थो, यस्यजाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः,

रागद्वेषभयादीना; मनुरूपं चरन्नपि।
योन्तर्व्योमवदत्यच्छः,

सजीवन्मुक्तः (म.वा.र. ८)

योहं सोसौ योऽसौ सोहम्।
तद्रामभद्रः परं ज्योती रसोहमोम्। ('' ९)

पवन पावक क्षोणी गगन कृपीट।
।।शिवे पाहि।। ।मयि
रवि शशि दिङ् समाद्य प्राण।। (श्रीललिता स्तवन)

सोऽहमर्कः परं ज्योति; रर्कज्योति रहं शिवः।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः, सर्व ज्योतिरसोऽहमोम्।। (महावा.र. ९)

जिस योगी को सुख और दुख में समान स्थिति है जो सुषुप्ति में भी जागता रहता है तथा जिसकी दृष्टि में दृश्य शून्यता के कारण द्वैत की प्रतीति ही नहीं है उसकी जाग्रदवस्था नहीं होती तथा जिसका चित्त वासना शून्य है वह जीवन्मुक्त ही कहलाता है। (महा.वा.र. ८)

रागद्वेष, भय, शोक, मोह आदि के प्राप्त होने पर यथोचित तदनुरूप चेष्टा करते हुए भी जो अपने को आकाश की तरह निर्लेप शुद्ध अर्थात् उससे अपने को लिप्त नहीं समझता है वह जीवन्मुक्त है। जिसे ऐसा बोध हो कि वह जो परमपुरुष है वह ही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वह ही परमपुरुष है, मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही रामभद्र परम ज्योति है। अत: मैं परमज्योतिरूप आनन्दैक रस ब्रह्म हूँ।।ओम्।। (महा.वा.र. ९)

मुझमें वायु, अग्नि, भूमि, व्योम, रवि, शशि, दिशा, काल एवं प्राण रूप से जो देवी है वह मेरी रक्षा करो। (श्रीललिता स्तवन)

वह मैं ही परम ज्योति सूर्य हूँ और अर्क में जो ज्योति है वह शिव है। मैं नित्य शुद्धबुद्ध आत्मज्योति शुक्र हूँ तथा सर्वज्योतिस्वरूप परब्रह्म मैं ही हूँ।।ओम्।। (महा.वा.र. ९)

ताण्डवः

रेचका अङ्गहाराश्च, पिण्डीबन्धास्तथैव च।
सृष्ट्वा भगवता दत्त, स्तण्डवे मुनये तदा।।

तेनापि हि ततः सम्यग्, गानमाण्डसमन्वितः।
नृत्त प्रयोगः सृष्टो यः, स ताण्डव इति स्मृतः।। (नाट्यशा. २५९)

प्रायेरोद्धत प्रायं पुरुषकर्तृकं नृत्तं ताण्डवम्।
तण्डूक्तमुद्धत प्रायं प्रयोगं ताण्डवं मतम्।। (संगीतर. ७/३०)

प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत्। (ना.शा. ४/२६८)

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणात पत्रः। (श्रीमद्भा. १०/१६/३०)

सृष्टि स्थिति संहाराभ्यामन्तः स्थितपदार्थस्यैव प्रकाशनतिरोभावे उक्ते, तिरोभावः– सूक्ष्मता, वहि प्रकाशनं–स्थूलता। (सौन्दर्यल.डि.टी.)

रेचक, अङ्गहार और पिण्डिबन्ध का सर्जन करके भगवान् ने तण्डुमुनि को दिया। उसके बाद तुण्डुमुनि ने भगवान् प्रदत्त उन विद्याओं (गान की मूल विद्या) को सजाकर और नृत्त के साथ प्रयोग साध्य सृजित कर अपने शिष्यों को दिया।। इसलिए इस नृत्त का नाम ताण्डव पड़ा। (नाट्यशा. २५९)

ताण्डव नृत्त उद्धत प्राय होने से इसका अवरोह-आरोह-ताल-स्वरादि-अंग-प्रत्यंगों का प्रक्षेपप्राय पुरुषकृत है। तण्डु मनि द्वारा उद्धृत विशिष्ट नृत्य प्रयोग का नाम ताण्डव हुआ (संगीतर. ७/३०)

ताण्डव नृत्य विधि में प्रायः देवता के स्तुति का आश्रयण होता है। (ना.शा. ४/२६८)

भगवान् के अद्भुत ताण्डव नृत्य में पैरों के आघात से कालिय नाग के फण रूप छत्ते (छत्र) छिन्न-भिन्न होकर घायल हो गये। (श्रीमद्भा. १०/१६/३०)

सृष्टि-स्थिति तथा संहार के द्वारा अन्तः स्थित पदार्थ का प्रकाशन तथा तिरोभाव के कथन से तिरोभाव का अर्थ सूक्ष्मता और बहि प्रकाशन का अर्थ स्थूलता है। (सौन्दर्यल.डि.टी.)

पादतलाहतिपातितशैलं, क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम्।
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते, पातु जगत्सुखदायि हरस्य।।
(नाट्यशा. ५/१२७)

प्रपञ्च ला स्युत्मुख लास्यकायै,
समस्तसंहारक ताण्डवाय।
जगज्जनन्यै जगदे पित्र्ये,
नमः शिवायै च नमः शिवाय।। (अर्धनारीश्वरस्तोत्रम्)

क्रियैव ताण्डवमुच्यते। (महाविद्यासूत्रकालीपटलम् १५)

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं, रागद्वेषो रजः स्मृतम्। (मनुस्मृ. १२/२६)

तपो च विद्या

विप्रस्य निःश्रेयत्करं परम् तपसा किल्विषं हन्ति,
विद्ययाऽमृतमश्नुते। (म.स्मृ. १२/१०४)

जिस भगवान् शंकर के ताण्डव नृत्य के पादाघात से बड़े-बड़े शैल उखड़ जाते हैं और आश्रय में रहने वाले जीवों के सहित समुद्र क्षोभित हो जाते हैं ऐसे भगवान् शिव के प्रलयकालीन सुखदायी ताण्डव नृत्य हमारी रक्षा करे। (ना.शा. ५/१२७)

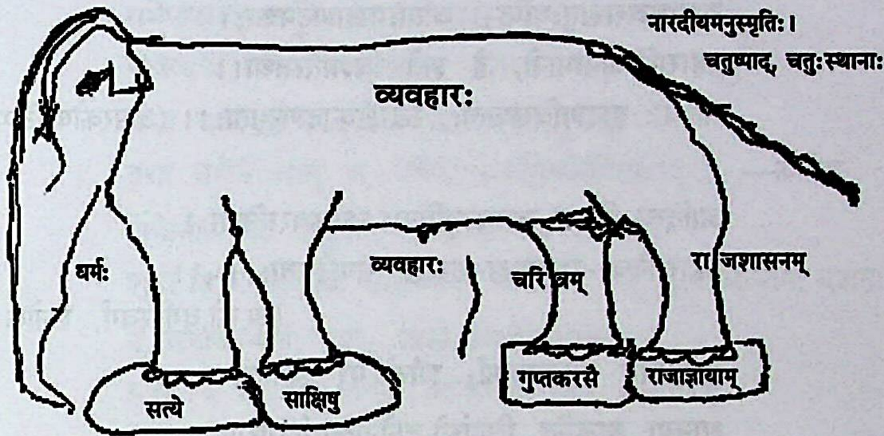
(नृत्त)

जिस प्रपञ्चला (उमा) का लास्य सृजन हेतु उन्मुख होते हैं और जिस भगवान् रूद्र के ताण्डव संहार करने के लिये उद्यत होते हैं; ऐसे जगत् के एकमात्र माता-पिता उमा और शिव को नमस्कार करता हूँ। (अर्धनारीश्वस्तोत्र)

ताण्डव नृत्य हाथ-पैरों का प्रक्षेप रूप क्रिया ही है। (महाविद्यासूत्रकालीपटल-१५)

सत्वात्संजायते ज्ञानं इसके अनुसार सत्त्व गुण ही ज्ञान रूप से परिणत होता है तथा तमोगुण अज्ञान रूप से परिणत होता है और रजोगुण रागद्वेष रूप है। (मनु.स्मृ. १२/२६)

विद्या और तप ब्राह्मण के परम कल्याणकारी कर्म हैं। क्योंकि तप से पापों का नाश होता है और विद्या से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। (मनु.स्मृ. १२/१०४)



साम दानं भेदो दण्ड इति चतुःसाधनः। चतुर्णामाश्रमाणां हितः–चतुर्हितः। कर्तृसाक्षिसभ्यराजव्यापित्वात्–चतुर्व्यापी। धर्मस्यार्थस्य यशसः लोकापत्तेश्चकरणात्–चतुःकारी। कामक्रोधलोभाः–त्रियोनिः। भूतछलानुसारित्वात्–द्वियोनिः। धर्मोऽर्थः कीर्तिः लोकापक्तिरूपग्रहोबहुमानं स्वर्गः–सप्तगुणाः।

आदित्या द्वादश प्रोक्ता, विश्वेदेवा दशस्मृताः।
वसवश्चाष्ट संख्याताः, षट् त्रिंशत् तुषिता मताः।।

नारदीय मनुस्मृति के अनुसार राजनीति के चार पाद और चार स्थान कहे गये हैं। सत्य-साक्षी-गुप्तचर और राजाज्ञा ये राजनीति के चार पाद हैं और धर्म-व्यवहार-चरित्र और राजशासन ये चार राजनीति के चार स्थान हैं। साम-दान-भेद और दण्ड ये चार साधन हैं। ये चारों आश्रमों और चारों वर्णों के हितकारी होते हैं इसलिए चतुर्हित नाम से इसे कहा जाता है। यह कर्त्ता के साक्षी हैं और सभ्य राज्य में व्याप्त रहता है इसलिये इसे चतुर्व्यापी कहते हैं। धर्म और अधर्म-यश तथा लोक के आपत्ति के निष्पादक होने के कारण यह चतुष्कारी है। काम-क्रोध और लोभ ये तीन इसकी योनियाँ हैं अथवा काम-क्रोध और लोभ इनसे कम (न्यून) होते हैं इसलिये यह त्रियोनि है। यह भूत और छल के अनुसारी होने के कारण द्वयोनि है। इसके धर्म-अर्थ-कीर्ति-लोकोपत्ति-रूपग्रह और वहुमान तथा स्वर्ग ये सप्त गुण हैं। (नारदीय मनुस्मृति)

आदित्य बारह हैं, विश्वदेवता दस हैं, वसु आठ हैं, तुषित छत्तीस हैं, आभास्वर चौसठ

आभास्वराश्चतुःषष्ठि, र्वाताःपञ्चाशदूनकाः।
महाराजिकनामानो, द्वे शते विंशतिस्तथा।।
साध्याः द्वादशविख्याताः, रुद्राश्चैकादशस्मृताः।। (अमरकोष-टिप्पणी)

श्लोक—

आदित्य-विश्व-वसवस्तुषिताऽऽभास्वरानिलाः।
महाराजिक-साध्याश्च-रुद्राश्च गणदेवताः।।५।।
(अ.को.वर्ग-स्वर्ग, श्लोक ५)

सर्वेषामेव शौचनामर्थ; शौचं परं स्मृतम्।
क्षान्त्या शुद्धन्ति विद्वांसो,दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमः।।
शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन् क्षत्रमाराधयेदिति।
धनिनं वाऽप्युपाराध्यं वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्।।
स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः। न धर्मात्प्रतिषेधनम्।

हैं, अनिल उनचास हैं, महाराजिक दो सौ बीस हैं, साध्य बारह तथा रुद्र ग्यारह हैं। ये इतने देवता तथा गणदेवता हैं। (अमरकोश टिप्पणी)

ये गणदेवताओं के नाम हैं—आदित्य, विश्व, वायु, तुषित, आभास्वर, अनिल, महाराजिक, साध्य और रुद्र ये देवताओं के नौ गण हैं जिनकी संख्या ऊपर लिखी है।

स्नानादिकों द्वारा जो पवित्रता प्राप्त की जाती है उन पवित्रताओं से भी श्रेष्ठ पवित्रता अर्थ की शुद्धि होती है। सभी प्रकार से शुद्धि करने पर भी यदि अर्थ शुद्धि नहीं हुई तो वह अपवित्र ही होता है। क्योंकि अर्थ की अपवित्रता गर्हित होती है। पवित्रता के कई साधन हैं जैसे—क्षमाशीलता से विद्वान् (ज्ञानी) शुद्ध होते हैं, दान से अकार्य (पाप) करने वाले शुद्ध होते हैं, गुप्त पाप कर्म से हुई अशुद्धि मन्त्र जप से शुद्ध होते हैं और तपस्या से श्रेष्ठ वेदज्ञ शुद्ध होते हैं।

शूद्र अपनी जीविका को ब्राह्मण की शुश्रूषा से न प्राप्त कर यदि अन्य उपाय से अर्जित करना चाहे तो क्षत्रिय की परिचर्या से प्राप्त करे और क्षत्रिय के अभाव में धनी वैश्य की परिचर्या-सेवा करके जीविका चलावे।

स्वर्ग अथवा अपवर्ग दोनों की कामना से ब्राह्मणों की सेवा करें। क्योंकि धर्म का प्रतिषेध विवर्जित है।

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः, सतां वृत्त (धर्म) मनुष्ठिताः।
मन्त्रव(र्जं)वर्ज्यं न दुष्यन्ति, प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च।।

यथा यथा हि सद्वृत्त; मातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमं चामुं च, लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः।।

शक्तेनापि हि शूद्रेण, न कार्यो धन संचयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य, ब्राह्मणानेव बाधते।। (मनुस्मृति अध्यायः दशमः)

न यज्ञार्थं धनं शूद्रा; द्विप्रो भिक्षेत्कदाचन।
यजमानो हि भिक्षित्वा, चाण्डालः प्रेत्य जायते।।

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा, यो न सर्वं प्रयच्छति।
स याति मासतां विप्रः, काकतां वा शतं समाः।। (मनु. ११)

सुवर्णचौरः कौनरव्यं, सुरापः श्यावदन्तताम्।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं, दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः।।

जो शूद्र धर्म जानने वाले हैं तथा धर्म चाहते हैं, सज्जनों के समान उत्तम आचरण करते हैं वे वैदिक मन्त्रों को छोड़कर नमस्कार मन्त्रों से पञ्च महायज्ञ करते हुए प्रशंसा को प्राप्त होते हैं।

दूसरों के गुणों की निन्दा न करते हुए शूद्र जैसे-जैसे द्विजातियों के विहित आचारों का अनुष्ठान करता है वैसे ही लोक में निन्दित न होते हुए लोक-परलोक दोनों को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् लोक में प्रशंसा तथा परलोक में आनन्द को प्राप्त करता है।

शूद्र यदि धनार्जन करने में समर्थ भी हो जाय तो भी पोष्य वर्ग तथा पञ्च महायज्ञोपयोगी ही धन संचय करे। अधिक न करे, क्योंकि वह शास्त्रों के ज्ञान से शून्य होने के कारण अधिक धन प्राप्त कर मनमाने कार्य कर सकता है और शूद्र के धन संचय से ब्राह्मणों की भी वृत्ति बाधित होगी। (मनु.स्मृ.अ. १०)

यज्ञ करने के लिए भी ब्राह्मण शूद्र से धन न माँगे क्योंकि शूद्र के धन से यज्ञ करके ब्राह्मण मरणान्त चाण्डल बनता है।

यज्ञसिद्धि के लिए धन माँग कर यदि ब्राह्मण उस धन का पूर्णतया यज्ञ में विनियोग नहीं करता है तो वह विप्र मरने पर सौ वर्ष तक मास तथा कौआ होता है।

ब्राह्मण का सुवर्ण चुराने वाले का नाखून काले हो जाते हैं। निषिद्ध सुरापान करने

पिशुनः पौतिनासिक्यं, सूचकः पौतिवक्रताम्।
चान्यचौरोऽङ्गहीनः स्यात्, आतिरिक्यं तु मिश्रकः।। (मनु. ११)

निन्दितेभ्यो धनादानं, वाणिज्यं शूद्रसेवनम्।
अपात्रीकरणं ज्ञेयं, असत्यस्य च भाषकम्।। (मनु. ११)

गृहस्थस्य च नवकाः। (दक्षस्मृतिः ३)

१. सुधा नव—

मुखं-चक्षु-र्मनो-वाचं, सौम्यं दद्याच्चतुष्टयम्।
अभ्युत्थानमिहागच्छ, पृच्छालापप्रियान्वितः।।
उपासनमनुव्रज्या, कार्यण्येतानि यत्नतः।

२. नवकर्माणि—

सन्ध्या स्नानं जपो होमः, स्वाध्यायो देवतार्चनम्।
वैश्वदेवं तथातिथ्यं, उधृतं चापि शक्तितः।।

वाला श्यामदन्त—काले दाँत वाला होता है। ब्राह्मण को मारने वाला क्षय रोगी (टी.वी.) होता है तथा गुरु की स्त्री से गमन करने वाला चर्म रोगी (कुष्ठ रोगी) होता है। विद्यमान दोषों को कहने वाले की नाक से दुर्गन्ध आने लगती है तथा दोष न होने पर भी जो दोष कहे उसके मुख से दुर्गन्ध आने लगती है।

निन्दितों से दान लेना तथा ब्राह्मणों को वाणिज्य-व्यापार करना एवं शूद्रों की सेवादि और झूठ बोलना ये अपात्रीकरण नामक पाप है। (मनु.स्मृ. ११)

नव सुधा

प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर आने वाले अतिथि के लिए नीराध्य करने चाहिए। सोम्यतापूर्वक सरल शुचिशील स्वभावयुक्त होकर उसकी तरफ मुख करके देखे तथा उसके आतिथ्य में मन लगावें, सुन्दर मधुर वाणी बोले, उसके आने पर उठ जायं कहे कि आइये श्रीमन्! प्रेमपूर्वक उसका कुशल पूँछें। उसे सुन्दर आसन दे और जाने पर कुछ दूर तक उसे विदा करें। ये नव सुधा(अमृत) कहा गया है। (दक्षस्मृति)

नव कर्म

ब्राह्मणों के नौ कर्म—१. सन्ध्या, २. स्नान, ३. जप, ४. होम, ५. वेदाध्ययन, ६. देवार्चन, ७. वैश्वदेव, ८. अतिथि सत्कार, ९. यथाशक्ति दान—ये नौ कर्म ब्राह्मणों के कहे गये हैं।

पितृदेवमनुष्याणां, दीनानाथ तपस्विनाम्।
मातापितृ गुरुणां च, संविभागो यथार्हतः।।

३. विकर्माणि—

अनृतं पारदार्यं च, अभक्ष्य भक्षणं, स्तेयं,
अगम्यागमनं, अपेयपानं, हिंसनम्।
अश्रौतकर्माचरणं, मित्रधर्मबहिष्कृतम्।।

४. गोप्यानि—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं, मन्त्रमैथुनमेषजम्। तपो दानापमानौ च।

५. प्रकाश्यानि—

प्रायोग्यमृणशुद्धिश्च, दानाध्ययनविक्रयाः।
कन्यादानं वृषोत्सर्गो रहः पापमकुत्सनम्।।

६. सफल दानानि—

मातापित्रो र्गुरौ मित्रे, विनीते चोपकारिणि।
दीनानाथ विशिष्टेभ्यः।।

देवता, पितृ, मनुष्यों, दीन=नाथ, तपस्वियों तथा माता-पिता, गुरु इनका यथायोग्य सम्मान और सत्कार के लिए अर्जित धन का विभाजन कर देना चाहिये।

विकर्म

असत्य बोलना, परस्त्री सेवन करना, अभक्ष्य भक्षण करना, अगम्या गमन करना, अपेय सुरादि का पान करना, हिंसा करना, अवैदिक कर्माचरण और मित्र धर्म से रहित आचरण—ये विकर्म अर्थात् निन्दित कर्म हैं।

गोपनीय

अपनी अवस्था, गृह के छिद्र (कटिया), मन्त्र, स्त्री संभोग, औषधि, तप, व्रत, एवं दान और अपमान ये छिपाने योग्य हैं।

प्रकाशनीय

अपनी मूढ़ता, लिया हुआ ऋण, अपवित्रता, दान, अध्ययन, निन्दित कर्म, कन्यादान, वृषोत्सर्ग और एकान्त में किये गये पाप तथा अकुत्सा ये प्रकाशन (दूसरे को कहने) करने योग्य हैं।

सफल दान

माता-पिता-मित्र-गुरु-सुशील-उपकारी-दरिद्र और विद्वान् आदि को दिये गये दान सफल (फलदायी) होते हैं।

७. निष्फलदानानि—

धूर्ते वन्दिनि मन्दे च, कुवैद्ये कितवे शठे।
चाटुचारणचौरेभ्यो, दत्तं भवति निष्फलम्।।

८. अदेयानि—

सामान्यं याचितं न्यासं, आधिर्दाराश्च तद्धनम्।
क्रमायातं च निःक्षेपः, सर्वस्वं चान्वये सति।।

९. ईषद्दानानि—

भूमिरापस्तृणानि च पादशौचं, अभ्यङ्गः।
आश्रयः शयनं किंचिदन्नं अनश्नवेत्।।

आत्मीये संस्थितो धर्मे, शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते।
परधर्मो भवेत्त्याज्यः, सुरूपपरदारवत्।। (अत्रि संहिता १८)

प्रतिग्रहोऽध्यापनं च, तथाऽविक्रेय विक्रयः।
याज्यं चतुर्भिरप्येतैः, क्षत्रविट्पतनं स्मृतम्।।२०।।

त्र्यहेण शूद्रो भवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्।।२१।।

निष्फलदान

धूर्त, वन्दी, जड़बुद्धि अर्थात् अयोग्य, निन्द्रित विद्या वाले, छली, दुष्ट, चापलूस, चारणा और चोरों को दिया दान निष्फल होता है।

अदेय वस्तु

सामान्य रूप से याचित, न्यास (धरोहर), मानसिक रोग, दारा (स्त्री) और स्त्री का धन, क्रमागत धन और सर्वस्व ये देने योग्य नहीं है।

स्वल्पदेय वस्तु

भूमि, जल, तृण, पाद शुद्धि, तेल मर्दन, आश्रय, शयन आदि किंचिद् देय है।

अपने धर्म पर स्थित रहकर शूद्र भी स्वर्ग प्राप्त कर लेता है परन्तु परधर्म सुन्दर रहने पर भी परस्त्री के समान हेय है। (अत्रिसंहिता १८)

दान (दक्षिणा या वेतन) लेकर अध्यापन करने से, अविक्रेय के विक्रय करने से और दक्षिणायुक्त भजन करने से क्षत्रिय और वैश्य का पतन हो जाता है। (अत्रि सं. २०)

दूध बेचने से ब्राह्मण तीन दिन में शूद्र हो जाता है। (अत्रि सं.२१)

अव्रताश्चानधीयाना, यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा, चौरभक्तप्रदं बुधैः।।

त्रयो लोका त्रयोवेदा, आश्रमाश्च त्रयोऽग्नयः।
एतेषां रक्षणार्थाय, संसृष्टा ब्रह्मणाः पुरा।।

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा,
न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा
पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्।।

शौचमङ्गलमायासः, अनसूयाऽस्पृहा दमः।
लक्षणानि च विप्रस्य, तथा दानं दयापि च।। (अत्रि सं. ३३)

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं, श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च।। (अत्रि सं. १४०)

जहाँ पर व्रत शून्य तथा स्वाध्याय शून्य ब्राह्मण भिक्षचर्या में रत हैं अर्थात् दान लेते हैं, उस ग्राम को चोरों का भक्त समझ कर राजा दण्डित करे।

तीनों लोक, तीनों वेद, तीनों आश्रम, तीनों अग्नि इनके रक्षण के लिए ही ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल में ब्राह्मण को रचा है।

दुष्टों को दण्ड देना, सज्जनों का सम्मान करना, न्यायविधि से कोष वृद्धि करना, याचकों को पक्षपात रहित होकर दान देना और राष्ट्र की रक्षा करना ये राजाओं के पाँच ही यज्ञ हैं।

बाहर भीतर की पवित्रता, माङ्गलिक कार्यों का आरम्भ, श्रम करना, निन्दा न करना, अथवा किसी गुणों में दोष न देखना, किसी भी वस्तु की स्पृहा न करना, इन्द्रियों का संयम तथा दया और दान ये ब्राह्मण के लक्षण धर्म हैं। (अत्रि सं. ३३)

केवल जन्म से ही ब्राह्मण जानना चाहिए तथा निषेकादि सोलह संस्कारो से द्विज होता है, क्योंकि वह दूसरा जन्म माना जाता है। 'द्वाभ्यां संस्काराभ्यां जायत इति द्विजः'। तदन्यतर विद्या से इस द्विज में विप्रता आती है और तीनों योग्यताओं से सम्पन्न श्रोत्रिय होता है। (अत्रि सं. १४०)

ते हि राज्ञो धर्म करदाः। (विष्णुस्मृतिः ३)

नाप्राप्तकालो म्रियते, प्राप्तकालो न जीवति। (अत्रि सं. २०)

निरस्तविषयासङ्गं, संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्युनीभावं, तदा तत्परमं पदम्।। (ब्रह्मविन्दूपनि. ४)



गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमाकृत्य स्वाधिष्ठानं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमिति-सर्वदाध्यायन् अथो नादमाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फदिकसंकाशं स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते।

अथ हंसऋषि, अव्यक्त गायत्री छन्द, परमहंसो देवता, हं बीजम्, सः शक्तिः, सोहं कीलकम्, हृदयेऽष्टदले हंसमात्मानं ध्यायेत्।

राजाओं का कर लेना भी धर्म ही है। (विष्णु स्मृ. ३)

जिसका मरने का समय नहीं है वह नहीं मरता है और जिसका मरने का समय आ गया है वह नहीं जी सकता। (अत्रि सं. २०)

जब इन्द्रियाँ और मन विषय से विमुख होकर हृदय देश में निरुद्ध हो जाय और जब उन्मनीभाव (मन का नैसर्गिक स्वभाव से रहित होना) की प्राप्ति हो जाय तो उस परमात्मा पद को प्राप्त करने में विलम्ब नहीं रह जाता। (ब्रह्मविन्दूपनिषद्-४)

गुदा को पैर ऐडी से दबाकर, आधार चक्र से वायु को खींचकर, स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणा करके, मणिपुर चक्र को प्राप्त करके, आनाहत नाद का अतिक्रमण करके, विशुद्ध चक्र में प्राणों को रोकर, आज्ञा चक्र का ध्यान करते हुए ब्रह्म रन्ध्र में त्रैमात्रिक ॐ अथवा अहं (हंस) का ध्यान करते हुए, आधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त शुद्ध स्फटिक के समान 'खं' स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करते हुए साधक साक्षात् ब्रह्मरूप हो जाता है। यही शुद्धस्फटिका संकाश ब्रह्म-परमात्मा नाम से कहा जाता है।

ऊपर निर्दिष्ट योग में हंस मन्त्र है अथवा उलटा करने पर 'सोऽहं' मन्त्र का हंस ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है, परमहंस देवता है और 'हं' इसका बीज है, सः शक्ति है, सोऽहं कीलक है। हृदय रूपी अष्टदल में हंस का ध्यान में विनियोग है।

अग्नि, सोमौ पक्षौ, ओंकारःशिरो, विन्दुस्त्रिनेत्रम्, मुखं रुद्रो, रुद्राणी चरणौ, बाहू कालः, अगिःसोमौः चोभे पार्श्वे भवतः। (हंसोपनिषद्)

यदा हंसो नादे लीनो भवति तदा तुर्यातीतमुन्मननं अजपोपसंहारं इत्यभिधीयते। जप कोट्यां नादमनुभवति।

नादो दश विधः

१. चिणीति–गात्रम् चिञ्चिणीति। २. चिञ्चिणीनादः–गात्रभङ्गः। ३. घण्टानादः–खेदनम्। ४. शङ्खःनादः–शिरःकम्पः। ५. तन्त्रीनादः–तालुस्त्रावः। ६. तालनादः–अमृतनिषेवणम्। ७. वेणुनादः–गूढविज्ञानम्। ८. मृदङ्गनादः–परावाचा च। ९. भेरीनादः–देहादृश्यं दिव्यचक्षुः। १०. मेघनादः–परमं ब्रह्म।

तीर्थान्तराणि क्षेत्राणि, विष्णुभक्तिश्च नारद!।
अन्तःकरणशुद्धिं च, जनयन्ति न संशयः।।
वाराणस्यापि देवर्षे, तादृश्येव परन्तु सा।
प्रकाशयति ब्रह्मैक्यं, तारकस्योपदेशतः।। (पद्मपुराणे)

इस हंसात्मा के अग्नि और सोम दो पंख है, ओंकार शिर है, बिन्दु के सहित उकार, ओकार और मकार त्रिनेत्र है, मुख रुद्र, रुद्राणी और गंगा दो चरण है, दोनों भुजाएँ काल, अग्नि और सोम दो पार्श्व है। (हंसोपनि.)

जब हंस नाद में लीन हो जाता है तब तुरीयातीत अवस्था के कारण उन्मनी भाव होता है और यह अजपा जो 'सोऽहं' अथवा 'हंसः' यह भी समाप्त हो जाता है। प्रत्यगभिन्न परमात्मा में 'यह आत्मा परमात्मा ही है' इस प्रकार अजपा जप (हंस मन्त्र) का उपसंहार परमात्मा होता है। यहाँ जप कोटि में नाद का अनुभव होता है।

नाद दश प्रकार के होते हैं—१. चिणी नाद—जो शरीर में चिणि शब्द के रूप में अनुभव किया जाता है। २. चिञ्चिणी नाद—जो शरीर के मुड़ने पर खट-खट (चिण-चिण) के रूप में अनुभव होता है। ३. घण्टा नाद—जो शरीर में खेद रूप से अनुभव होता है। ४. शंख नाद—जो शिर कम्पनादि में अनुभव होता है। ५. तन्त्रीनाद—जो तालु के स्राव काल में एक शब्द विशेष रूप से अनुभव होता है। ६. तालनाद—जो योगियों को तालु के उर्ध्व छिद्र से श्रवित अमृतपान कलिक अनुभव रूप अर्थात् वह वीणातन्त्री नाद अभिव्यञ्जक रूप है। ७. वेणु नाद—यह गूढ़ विज्ञान रूप से योगियों—ज्ञानियों द्वारा अनुभव गम्य है। ८. मृदङ्ग नाद—यह परावाणी स्वरूपा है। ९. भेरी नाद—यह देहादि के अदृश्य सामर्थ्य सम्पन्न योगियों के दिव्य चक्षु रूप है। १०. मेघ नाद—यह परब्रह्म रूप होने के कारण स्वात्मानुभवैकगम्य अद्वितीयत्व स्वरूप है।

हे नारद अन्यान्य तीर्थ तथा नाना पवित्र क्षेत्र का गमन, विष्णु भक्ति की निःसंदेह

ब्रह्मप्रणवसंलग्न; नादो ज्योतिर्मयात्मकः।
मनस्तत्र लयं याति, तद्विष्णोः परमं पदम्।।
नादोयावन्मनस्ताव; न्नादान्ते तु मनोन्मनी।
सशब्दमक्षरे क्षीणे, निःशब्दं परमं पदम्।। (नादविन्दूप.)

व्यञ्जना

विरतास्वभिधाद्यासु, ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम, शब्दस्यार्थादिकस्य च।।
एकार्थेऽन्यधी हेतु; र्व्यञ्जना साभिधाश्रया। (साहित्यदर्पणः)

अन्तःकरण की शुद्धि करने वाले हैं। परन्तु वाराणसी क्षेत्र = तीर्थ ऐसा होने पर भी उसमें यह विशेषता है कि तारकोपदेश द्वारा जीव ब्रह्म की एकता को भी प्रकाशित करता है। (पद्मपुराण)

ब्रह्म प्रणव 'ओम्' से जब ब्रह्म संलग्न हो जाता है तो वह नाद ज्योतिर्मय स्वरूप हो जाता है। उस ज्योतिर्मय नाद में जब मन का लय हो जाय तो वही परमाविष्णु का परमपद है ऐसा जानना चाहिये।

जब तक नाद रहता है तब तक मन की भी स्थिति बनी रहती है और नाद के ब्रह्म में लय हो जाने पर उन्मनी अवस्था होती है जहाँ अक्षर समुदाय सहित शब्द ब्रह्म में लय को प्राप्त हो जाते हैं और अक्षर (वर्ण) के सहित शब्द का जब लय हो जाय तो निःशब्द स्वरूपता ही वह परम पद है ऐसा जानना चाहिये। (नादविन्दूपनि.)

व्यञ्जना

अभिधा आदि वृत्तियों के विरत (अवसान) हो जाने पर जब जिस वृत्ति के द्वारा तदितर अर्थ का बोधन होता है, तो उस उत्पाद्य अर्थ के उत्पादिका वृत्ति को व्यञ्जना कहते हैं। वह व्यञ्जना शब्द और अर्थ आदि में रहने वाली होती है। शब्द, बुद्धि (ज्ञान) और कर्म अपने विषय को उपस्थापित करके जब विराम को प्राप्त होती है, तदनन्तर उसके अपने विषय का उपस्थापन नहीं होता है, यह नियम है। अतः उक्त रीति से अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक अपने-अपने तीनों वृत्तियों का बोधन उपक्षीण (विराम) होने पर वृत्ति जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ का उपस्थापन होता है वह शब्द-अर्थ और प्रकृति प्रत्यय आदि में रहने वाली शक्ति व्यञ्जना कहलाती है। वह शक्ति व्यञ्जना-ध्वनन-गमन और

स्थायी भावः

अविरुद्धा विरुद्धा वा, यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुर कन्दोसौ, भावः स्थायीति सम्मतः।। (सा.द. ३)
सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व; प्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो, ब्रह्मास्वादसहोदरः।।

प्रत्यायन आदि शब्दों से व्यवहृत होती है। व्यञ्जना के दो भेद होते हैं शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना। पुनः शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद अभिधामूला और लक्षणामूला होते हैं। (सा.द. २/१२)

स्थायी भाव

रस की अवस्था को प्राप्त रति आदि भाव ही स्थायित्व को जब प्राप्त होता है तो वह स्थायी भाव कहलाता है। इसे इस रूप में कहना चाहिये कि—जिस भाव में जो भाव निरन्तर (अविच्छिन्न रूप से) रहे उसे स्थायी भाव कहते हैं। जैसे दूध ही दूसरे रूप में परिणत होकर दही हो जाता है, वैसे ही रति आदि स्थायी भाव ही दूसरे रूप में परिणत होकर रस हो जाता है। इसलिए रस परिणाम और रति आदि स्थायी भाव परिणामी है, ऐसा कह सकते हैं। जैसे दीपक से पूर्व सिद्ध घट व्यक्त (प्रकाशित) होता है उस तरह पूर्व सिद्ध घट के समान रस प्रकाशित (अभिव्यक्त) नहीं होता है। जैसे चावल पकने के बाद ही भात रूप व्ययहृत होता है, पकने के पूर्व नहीं; उसी तरह विभावादि भावों से व्यञ्जना वृत्ति द्वारा रति आदि भाव अभिव्यक्त होकर ही प्रतीति योग्य होती है। प्रतीति के पहले नहीं, यह अभिप्रायार्थ है। अतः रस की अवस्था को प्राप्त ही स्थायीभाव होता है, अन्य नहीं होता।

अविरुद्ध (अनुकूल) अथवा विरुद्ध (प्रतिकूल) भाव जिसे तिरोहित करने में असमर्थ हो जाय तो रस के अनुभव के मूलरूप ही स्थायी भाव माना जाता है। जैसे—फूलों की माला में एक ही सूत्र सभी फूलों में अनुस्यूत (अनुगत) होता है, उसी तरह अन्यभावों में अनुगमन करने वाला स्थायीभाव किसी अन्य से तिरोहित नहीं होता अपितु अन्यभावों से परिपुष्ट ही होता है। इस तरह रति-हास-शोक-क्रोध-उत्साह-भय-जुगुप्सा-विस्मय और शम को संयुक्त कर ये नौ स्थायी भाव हो जाते है। (सा.द. ३/१७४)

सत्त्वगुण के आधिक्य से अखण्ड, स्वतः प्रकाश वाला, आनन्दमय, चिन्मय (विज्ञान स्वरूप) दूसरे वेद्य पदार्थ के सम्पर्क से रहित, ब्रह्मसाक्षात्कार के सदृश, अलौकिक चमत्कार स्वरूप प्राण वाला रस कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार अपने आकार के समान अभिन्न रूप से आस्वादन किया जाता है। (सा.द. ३/२-३)

लोकोत्तरचमत्कार; प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्त्वे; नायमास्वाद्यते रसः।। (सा.द. ३)

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण, राघवादेः स्वरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव, रसस्यास्वादको भवेत्।। (सा.द. ३)

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां, प्रतीत्यव्यभिचारतः।
न कार्यः–विभावादि समूहालम्बनात्मकः।
नो नित्यः–पूर्वसम्वेदनोज्झितः।
न भविष्यन्–साक्षादानन्दमय स्वप्रकाशरूपत्वात्।
न वर्तमानः–कार्य ज्ञाप्य विलक्षता भावापन्नः।

वह प्रसिद्ध रस परमितत्व, लौकिकत्व और सान्तरायत्व से रहित अर्थात् भिन्न अर्थवाला है। रस अपरिमित है केवल राम (नायक) आदि अनुकार्य में रहने वाला नहीं है। रस अलौकि है अर्थात् निर्दिष्ट लोक मात्र में रहने वाला भी नहीं है। रस निरन्तराय है अर्थात् दृश्य काव्य (नाटक) और श्रव्य काव्य में दर्शन और श्रवण से अन्तराय वाला भी नहीं है। इस कारण से रस राम आदि अनुकार्य में स्थित नहीं है, वह तो सभ्यगत होता है यह कथन का अभिप्राय है। अब 'रस अनुकर्ता में रहता है' इस श्रीशङ्कुः के मत के खण्डन के अभिप्राय से साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ कहते हैं—शिक्षा और अभ्यास आदि मात्र से राम के रूप के अभिनय करने वाला नर्तक (नट) को रस का आस्वाद नहीं होता है।
(सा.द. ३/१८)

यह रस ज्ञाप्य नहीं है क्योंकि अपनी सत्ता में कभी भी प्रतीति से व्यभिचरित नहीं होता और जब होता है तो अवश्य प्रतीत होता है। घटादि अन्य ज्ञाप्य दीपादि से कभी प्रतीत होते हैं और कभी विद्यमान होने पर भी नहीं प्रतीत होते हैं।

विभावादि समूहावलम्बनात्मक है अतः रस कार्य भी नहीं है। यदि रस कार्य होता तो उसका कारण विभावादि ज्ञान ही होता।

रस नित्य भी नहीं है क्योंकि विभावादि ज्ञान के पूर्व उसका संवेदन (ज्ञान) नहीं होता।

रस भविष्य कालिक भी नहीं है क्योंकि वह आनन्दघन और प्रकाशरूप साक्षात्कार का विषय होता है।

संसार की सभी वस्तुएँ कार्य या ज्ञाप्य होती है, अन्य नहीं । यह रस न कार्य है और न ज्ञाप्य है। अतः यह वर्तमान में भी नहीं है।

न निर्विकल्पः–परानन्दभवत्वेन स्फुटं संवेद्यत्वात्।
न परोक्षः–साक्षात्कारतया।
नापरोक्षः–शब्दसम्भवात्।
तस्मादलौकिकः, सत्यं, वेद्यः सहृदैरयं रसः। (सा.द. ३)
प्रमाणं–चर्वणा रसे।

आनन लोचन वचन मग प्रकटत मनकी बात।
ताही को सब कहत हैं भाव सु पंच प्रकार।।
(रसिक प्रिया, कवि केशव)

भाव–१. विभाव, २. स्थाईभाव, ३. अनुभाव, ४. व्यभिचारीभाव, ५. सात्त्विक भाव।

१. जिनंते होत अनेक रस प्रकट अनयास।
विभाव द्वे भाँति के–आलम्बन, उद्दीपन।

निर्विर्कल्प ज्ञान निष्प्रकारक है यह रस तो स्फुटरूप से परानन्दमय है। अतः इसमें आनन्दमयत्त्व प्रकारता साफ-साफ भासित हो रही है। अतः यह निर्विकल्पक भी नहीं है।

इसकी साक्षात्प्रतीति होती है। अतः परोक्ष नहीं है।

यह रस अपरोक्ष भी नहीं है, क्योंकि काव्यादि के शब्दों से उत्पन्न होता है।

सच पूँछो तो रस का स्वरूप अलौकिक अविर्वचनीय है। केवल सहृदय पुरुष ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

उस रस की सत्ता में सहृदय विद्वानों की चर्वणा अर्थात् आस्वादानुभव ही प्रमाण है। (सा.द. ३)

मुख से, नेत्रों से तथा शब्दों से जो मन की बात प्रकट होती है। उसी को भाव कहते हैं, जो पाँच प्रकार के होते हैं—१. विभाव, २, स्थायीभाव, ३. अनुभाव, ४. व्यभिचारिभाव और ५. सात्त्विकभाव—ये पाँच भाव हैं। (कवि केशव)

जिनसे (विभाव-अनुभाव-सञ्चारिभाव से) अनायास अनेक रस प्रकट होते हैं। उस विभाव के दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। शृङ्गार रस में ललनादि आलम्बन है और वसन्तशोभा तथा ललनाओं के कटाक्ष विक्षेप आदि उद्दीपन है। ऐसे ही अन्य रसों के भी ये पाँचों भाव होते हैं और इन्हीं से रस निष्पन्न होता है।

रामस्यपरिदेवनम्

मृत्कुम्भ बालुकारन्ध्र; पिधान रचनार्थिना।
दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं, हन्त चूर्णीकृतो मया।। (निर्वेदः) (सा.द. ३)

शान्तः शमः स्थायिभावः, उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायाः, श्रीनारायणदैवतः।। (सा.द. ३)

इदमस्तु सन्निकृष्टं, समीपतरवर्तिचैतदो रूपम्।
अदसस्तुविकृष्टं, तदिति परोक्षे विजानीयात्।।

वैदाग्ध्यक्रीहितं–नर्म। (सा.द. ६)

भाव लक्षण (केशव कवि कृत)

आनन लोचन वचन मम, प्रकटत मन की बात।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कविन के तात।।

निर्वेद के उदाहरण श्रीराम कहते हैं कि—मिट्टी के घड़े में बालू के समान छिद्र को बन्द करने के प्रयास में मैंने अमूल्य दक्षिणावर्त शंख फोड़ (नष्ट) कर डाला। यहाँ व्यभिचारी भाव के दृष्टान्त (लक्षण) को देकर जीवन के अमूल्य स्वरूप की महत्ता को इंगित किया गया है। निर्वेद के द्वारा यह संकेत है कि सांसारिक अनन्त क्षुद्र आवश्यकताओं की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण मानव जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिये। (निर्वेद-सा.द. ३)

शान्त रस का स्थायिभाव शम है और उत्तम जन इसका आश्रय होता है। उक्त का उदाहरण है—कुन्द (पुष्प विशेष), इन्दु (चन्द्रमा) के समान स्वच्छ और सुन्दर भी नारायण देवता के स्वरूप है। (सा.द. ३/२४६)

'इदम्' शब्द का अर्थ सन्निकट होता है तथा इससे भी अधिक समीप हो तो एतद् शब्द का प्रयोग होता है। अदस् शब्द का थोड़े दूर अर्थ में प्रयोग होता है तथा एकदम परोक्ष में तत् शब्द का प्रयोग होता है।

मर्म के चार भेद होते हैं—मर्म-नर्म स्फूर्ज-नर्मस्फोट और नर्ममर्म। परिहास वचन को नर्म कहते हैं। इनमें चतुरतापूर्ण क्रीडा का नाम नर्म है। इससे प्रेमीजनों का चित्त आकर्षित होता है। (सा.द. ६)

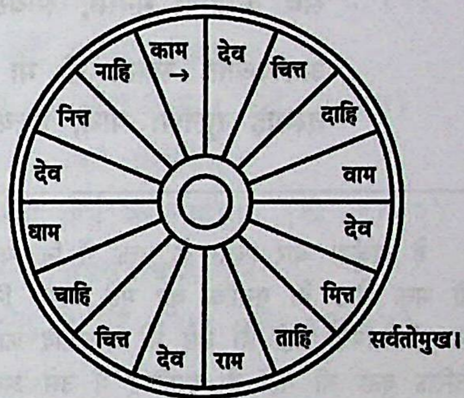
भाव सु पंच प्रकार के, सुनी विभाव अनुभाव।
थाई सात्विक कहत हैं व्यभिचारी कविराव।।

अन्तर्लापिका

कौन जाति सीता सती, दई कौन कहँ तात।
कौन ग्रन्थ वरनी हरी, रामायन अवदात।। (केशव कवि)

सर्वतो भद्र

काम	देव	चित्त	दाहि
वाम	देव	मित्त	नाहि
राम	देव	चित्त	चाहि
धाम	देव	नित्त	नाहि



सर्वतोमुख।

सर्वतोभद्र चक्र में कहा जा रहा है कि—कामदेव चित्त का दहन कर देता है। वामदेव मित्त (परिच्छिन्नता) को नष्ट कर देता है अथवा मित्र से रहित कर देता है। रामदेव चित्त को अच्छा लगने वाला देव है और धामदेव अर्थात् गृह-भवन-धन-सम्पदा आदि नित्य वस्तु नहीं है अर्थात् नश्वर है। इन चारों को आचरण में उतारने से सर्वतो भद्र अर्थात् सभी तरह कल्याण (शुभ) ही है।

द्वितीय सर्वतोभद्र का अर्थ है—[1]कामदेव चित्त में है तो चित्त दहन होगा। [2]वामदेव अगर हैं तो मित्र नहीं होगा। [3]धामदेव है तो वह नित्य (निरन्तर) नहीं रहेगा परन्तु यदि [4]रामदेव हृदय में है तो न चित्त का दहन होगा न मित्र का अभाव होगा, न धाम देव की अपेक्षा रहेगी क्योंकि उसके ये सब रामदेव ही होंगे। रामदेव के सेवक के लिए सभी ओर सभी दिशायें मंगलमय होती हैं। कहा है—

'सदा सन्तुष्टमनसः सर्वा सुखमया दिशः'।

'जपत नाम मंगल दिसि दसहूँ'।

१. इच्छा, २. स्त्री, ३. गृह, ४. परमात्मा।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त, एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोनित्य; महं स च मम प्रियः।। (गी. ७/१७)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी, यो द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महावाहो, सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। (गी. ५/३)

संन्यासस्तु महावाहो, दुःखमाप्तुमयोगतः। (गी. ५/६)

सर्व कर्माणि मनसा, संन्यस्यास्ते सुखं वशी।।२३।।

अनन्यचेताः सततं, यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ, नित्य युक्तस्य योगिनः।। (गी. ८/१४)

हे अर्जुन! चार प्रकार के भक्तों में नित्ययुक्त एकाकी भाव से अनन्य प्रेम भक्ति वाला ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वह मुझे अपने निजी निश्चय द्वारा तत्त्व से जानता है। उसे अन्य की अपेक्षा नहीं है। उसे मेरे प्रभावादि का साक्षात् अनुभव है। उसकी दृष्टि में मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसलिए मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ, वह ज्ञानी मुझे भी प्रिय है। (गी. ७/१७)

हे अर्जुन! कर्म सन्यास तथा निष्काम योग में लगा हुआ जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकाङ्क्षा करता है, वह नितान्त संन्यासि जानने के योग्य है। क्योंकि वह सुख-दुःख राग द्वेष आदि द्वन्द्वों से मुक्त हुआ सुखपूर्वक संसार बन्धन से छूट जाता है। (गी. ५/३)

हे अर्जुन! कर्म योग के बिना मन, इन्द्रिय तथा शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मो का त्याग बहुत कठिन है। (गी. ५/६)

जितेन्द्रिय पुरुष कर्मफल के त्याग के पश्चात् कर्तापन को भी यदि छोड़े तो वह सुखपूर्वक रहता है। (गी. ५/२३)

हे अर्जुन! सभी इन्द्रिय एवं मन को रोककर तथा मूर्धा में प्राणों को स्थिर करके ओम् का जप करके पूर्वोक्त प्रकार से योग द्वारा शरीर को छोड़ने में जो समर्थ है, वह पुरुष अनन्य चित्त होकर सदा ही मुझ परमेश्वर का स्मरण करता है। उस नित्य निरन्तर मुझमें लगे योगी के लिए मैं सहज में ही प्राप्त हो जाता हूँ। (गी. ८/१४)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं {योगी नियत मानसः।
........विगतकल्मषः।

शान्तिं निर्वाण परमां, मत्संस्थामधिगच्छति।
सुखेन ब्रह्म संस्पर्शं, अत्यन्तं सुखमश्नुते।। (गी. ६/२८)

पुरुषः स परः पार्थ, भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तस्थानि भूतानि, येन सर्वमिदं ततम्।। (गी. ८/२२)

महात्मानस्तु मां पार्थ, दैवीं प्रकृतिमास्थिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो, ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। (गी. ९/१३)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां, ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां, योग क्षेमं वहाम्महम्।। (गी. ९/२२)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य, अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन, प्रवेष्टुं च परं तप।। (गी. ११/५४)

जितेन्द्रिय योगी इस प्रकार निरन्तर आत्मा को मुझ नित्य, शुद्ध स्वरूप में लगता हुआ मुझ में रहने वाला परमानन्द का पराकाष्ठा रूप शान्ति को प्राप्त कर लेता है। वह प्रशान्तचित्त, पाप रहित रजोराशि शून्य योगी इस प्रकार आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्मानद को प्राप्त कर लेता है। (गी. ६/२८)

हे अर्जुन! जिसमें यह सब प्राणी स्थित है और जिससे यह सम्पूर्ण जगद् व्याप्त है वह परमात्मा अनन्य भक्ति से प्राप्य है। (गी. ८/२२)

हे पार्थ! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतों का सनातन कारण और अविनाशी अन्यय समझ कर अनन्य मन से युक्त होकर मुझे निरन्तर भजते हैं। (गी. ९/१३)

जो अनन्य भक्त मुझे निरन्तर निष्काम भाव से भजते हैं उस अनन्य भक्तों के योग और क्षेम की मैं स्वयं व्यवस्था करता हूँ। (गी. ९/२२)

हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं जानने के योग्य हूँ। देखने के योग्य हूँ और प्रवेश के योग्य हूँ। अर्थात् अनन्य भक्ति से ही मुझे देख सकते हैं, जान सकते हैं। (गी. ११/५४)

ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानं, सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम्। (वि.चू.म. २०४)

देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेतं, विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम्।
द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं, सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम्।।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, अन्तर्वहिः शून्य मनन्यमात्मनः।
विज्ञाय सम्यङ्निजरूपमेत, त्पुमान् विपाप्मा विरजो विमृत्युः।।
(वि.चू.म. २२२,२२३)



(ब्रह्मज्ञानावली २१)

श्रोतव्यं च किमस्ति पूर्ण सुदृशो नित्यापरोक्षस्य मे,
मन्तव्यं च न मेस्ति किंचिदपि वा निःसंशयज्योतिषः।
ध्यातृध्येयविभेदहानिवपुषो न ध्येयमस्त्येव मे,
सर्वात्म्यैकमहारसस्य सततं नो वा समाधि र्मम।। (प्रौढानुभूतिः १२)

जीव ब्रह्म की एकता ही श्रुति सम्मत सम्यग् ज्ञान है। (वि.चू.म. २०४)

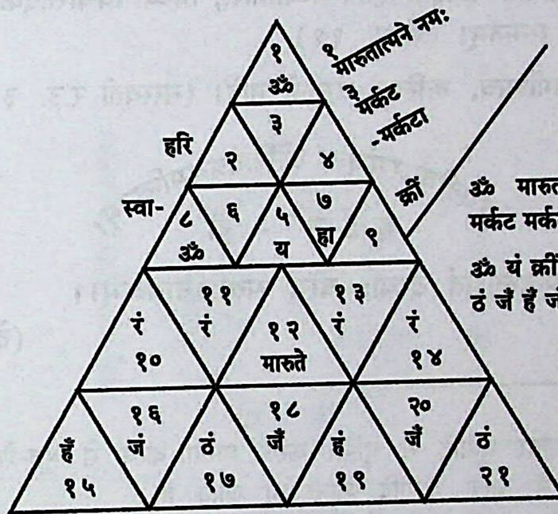
विद्वान् जैसे घट और उसमें स्थित जल में प्रतिबिम्बत सूर्य इन सबको छोड़कर इन तीनों के प्रकाशक सूर्य को पृथक् देखता है। ऐसे ही देह बुद्धि और बुद्धि में पड़े चिदाभास इन तीनों को छोड़कर बुद्धिरूपी गुहा में स्थित साक्षीरूप अखण्ड बोधस्वरूप सर्वप्रकाशक निजस्वरूप भूत सदसद्भिन्न सर्वगत बाह्याभ्यन्तरशून्य नित्य विभु स्वयं से अभिन्न आत्म स्वरूप को जानकर निर्मल निष्पाप तथा अमर हो जाता है। (वि.चू.म. २२२-२२३)

प्रत्यगभिन्न चैतन्य हूँ, स्वयं ज्योति हूँ, पर जो प्रकृति है उससे भी परे हूँ, स्वयं ज्योति स्वरूप में स्थित शिव हूँ जो स्वात्मा को ऐसा जानता है वह स्वयं ज्योतिर्ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। (ब्रह्मज्ञानावली २१)

कृतकृत्य ज्ञानी इस प्रकार अनुभव करता है कि—मैं नित्य अपरोक्ष हूँ, क्योंकि मेरी ज्ञान दृष्टि पूर्ण रूप से सदसत् का प्रत्यक्ष कर रही है ऐसे में मुझे श्रवण की क्या आवश्यकता

६ क्लीं	१ का	८ म
७रा	५जा	३य
२न	९मः	४क्लीं

इच्छापूरक



रोगमोचक

है। मैं स्वयं प्रकाश अर्थात् ज्योति रूप हूँ, मुझे सन्देह ही नहीं है तो मनन की क्या आवश्यकता है। मैं अद्वैत ब्रह्मरूप हूँ मुझमें ध्याता-ध्यान-ध्येय रूपी त्रिपुटी समाप्त हो गयी है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' शास्त्र का अभ्यासी हूँ तो मेरे लिए ध्येय कहाँ है और सर्वात्मैक रस ब्रह्मानन्द सुधासिन्धु में सतत् रमणशील मेरे लिए समाधि की क्या आवश्यकता है।
(प्रौढ़ानुभू. १२)

यह उपर्युक्त यन्त्र काम यन्त्र है जिसके प्रत्येक कोष्ठक का सम्मुख में योग करने पर पन्द्रह संख्या होती है और कोष्ठकगत मन्त्र वर्णों के संयोजन से 'क्लीं काम राजाय नमः क्लीं' मन्त्र बनता है। उसके नीचे त्रिकोण बहुलों से गर्भित समस्त रोचक हनुमन्यन्त्र है। यन्त्र कोष्ठान्तर्गत प्रत्येक में क्रमशः संख्या एक से इक्कीस तक अंकित है। कोष्ठान्तर्गत मन्त्र वर्णों के संयोजन से यह मन्त्र बनता है—'ॐ मरुतात्मने नमः मर्कट मर्कटा क्रीं। ॐ मारुतात्मने नमः हरि मर्कट मर्कटाय स्वाहा। ॐ यं क्रीं रं रं मारूते रं हं जं ठं जँ हँ जँ ठँ ॐ। ये दोनों यन्त्र अत्यन्त प्रभावी यन्त्र है। प्रथम काम यन्त्र बनाकर उसे धूपादि से पूजन कर धारण करने से सभी प्रकार की कामना सिद्ध होती है। द्वितीय यन्त्र को

नित्यस्फूर्तिमयोऽस्मि निर्मलसदा-, काशोऽस्मि शान्तोऽस्म्यहम्। नित्यानन्दमयोऽस्मि निर्गतमहामोहान्धकारोऽस्म्यहम्। विज्ञातं परमार्थतत्त्वमखिलं तैजं निरस्ताशुभम्। मुक्त प्राप्यमपास्तभेदकलनाकैवल्यसञ्ज्ञोऽस्म्यहम्। (प्रौ.अ. ८)

किं वः प्राप्तमितः पुरा किमधुना लब्धं विचारादिना, यस्मात्तत्सुखरूपमेव सततं, जाज्वल्यमानोस्म्यम्। किं वापेक्ष्यमिहापि मय्यतितरां, मिथ्या विचारादिकं, द्वैताद्वैतविवर्जिते समरसे, मौनं परं सन्मतम्। (प्रौ.अ. ११)

मयि जीवत्वमीशत्वं, कल्पितं वस्तुतो नहि। (सरस्वती र.उ. ३३)

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।

ह् ई र् ँ - ह्रीँ

अर्धेन्दुलसितं देव्याः बीजं सर्वार्थदायकम्।।

(देव्युपनिषद् ११)

मंगल शनि को बनाकर धूपादि से धूपित करके धारण करने से भूत-प्रेत-पिशाचादि जन्य रोग तथा नहीं उतरने वाला ज्वरादि शान्त हो जाता है।

मैं नित्य स्फूर्ति (स्फुरण) रूप हूँ, रागद्वेषादि मलविक्षेप आदि समस्त दोषों से रहित निर्मल आकाशवत् व्यापक हूँ। मैं नित्यानन्दस्वरूप हूँ, मुझमें से महामोहरूपी अन्धकार निकल गया है। मैंने सम्पूर्ण परमार्थ तत्त्व को जान लिया है। मुझमें लेशतोऽपि द्वैत रूप अशुभ अज्ञान नहीं है, जो मुझ द्वारा प्राप्तव्य है। इस प्रकार समस्त भेद जात की समाप्ति हो जाने से मैं कैवल्य संज्ञक मोक्षस्वरूप हूँ। (प्रौ.अ. ८)

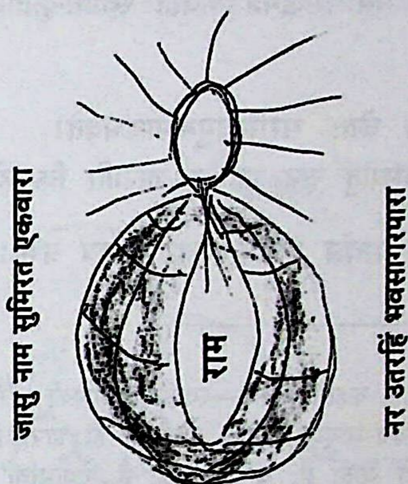
अब मैं द्वैत अद्वैत आदि विकल्पों से रहित सम और शान्त भाव में स्थित हूँ। इस प्रकार की स्थिति वाले मेरे लिए विचार आदि साधनों से न पूर्व में कुछ प्राप्त था और न इस समय कुछ मिल रहा है। अर्थात् उपेय की प्राप्ति होने पर उपाय व्यर्थ हो गये हैं। क्योंकि मैं निरन्तर देदीप्यमान आनन्द स्वरूप हूँ। मुझे अब श्रवण मनन विचारादि साधनों की क्या अपेक्षा है? अब तो मेरे लिए मौन ही परम सम्मत पक्ष है। (प्रौ.अ. ११)

मुझमें जीवभाव तथा ईश्वरभाव ये दोनों कल्पित हैं। ये दोनों भाव मुझमें वास्तव में नहीं है। (सरस्वती उ. ३३)

वियद् अर्थात् आकाश वाचक 'ह' वर्ण बीज तथा 'इ'-कार एवं वीतिहोत्र अर्थात् 'र' वर्ण बीज से संयुक्त अर्धचन्द्र अर्थात् 'ह्रीँ' इत्याकारक बीजाक्षर देवी का बीज मन्त्र

विद्या शिखा। (संन्यासोपनि. १)

तस्य आत्मध्यानं–यज्ञोपवीतम्।



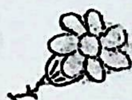
है। यह मन्त्र सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाला है। इस प्रकार 'ह्रीं' में 'ह' आकाश का बीज, 'र' अग्नि बीज है और अर्धचन्द्र अर्थात् विन्दु शक्तिवीज है। (देव्युपनिषद् ११)

संन्यासियों की ज्ञान शिक्षा ही ब्रह्मविद्या है। शिखा का अर्थ चोटी-शिखर-उत्तम और लौ (अग्नि या दीपक का अग्रभाग) होता है और वही ज्ञान शिखा उसका यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र) है। (संन्यासोपनि. १)

राम परमात्मा अक्षर ब्रह्म हैं और वह सभी जीवों के हृदय देश में रहते हैं। वे सभी प्रपञ्च के परम कारण और अधिष्ठान होने से प्रपञ्च उस कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, परन्तु अभिन्न स्वरूप ही है। मानवादि प्रपञ्च उस अपने अभिन्न राम स्वरूप को अविद्या (अज्ञान) के कारण विस्मृत हो गया है और शरीरादि में अस्मितालम्वन व्यवहार करता है। यथा कण्ठावलम्वित सुवर्ण कण्ठाहार को विस्मृत कर कोई शारीरिक धर्मों से आवृत होकर दुःखी होता है उद्विग्नता-व्याकुलता आदि उसी प्रकार हृदयस्थित अपने अभिन्न राम स्वरूप को विस्मृत होकर जीवात्मा अनन्त दुःख परम्परा का भागी वनता है। उस राम को एक बार भी स्मरण कर सुनिश्चत कर लेने पर कि मैं परमानन्द-शुद्ध-बुध-मुक्त स्वभाव परमात्मा ब्रह्म हूँ तो इस सुख-दुःखात्मक जगत्समुद्र से तरण कर जायगा अर्थात् मुक्त हो जायगा और चिन्तामणि रत्न को प्राप्त कर लेगा। यही इस प्रतीक चित्र के लेखन का तात्पर्य है। (रा.च.मा.)

सारूप्यं तव पूजने शिव महादेवेति संकीर्तने,
सामीप्यं शिवभक्तिधुर्य जनता सांगत्य संभाषणे।
सालोक्यं च चरात्मक तनु ध्याने भवानीपते,
सायुज्यं मम सिद्धमत्र भवति स्वामिन्कृतार्थोऽस्म्यहम्।।
(शिवानन्दल. २८)

समर्प्यैकं चेतः सरसिजमुमानाथभवते।
सुखेनावस्थातुं जन इह न जानाति किमहो।।९।।



पशुं मां सर्वज्ञ प्रथितकृपया पालय प्रभो।

भगवान् शिव से भक्त कहता है कि—स्वामिन्! आपकी भक्ति से मेरे लिए चारों प्रकार की (सारुप्य-सामीप्य-सालोक्य-सायुज्य) मुक्ति अनायास ही प्राप्त है। आपके पूजन समय में सारुप्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि कहा है 'देवोभूत्वा' देवान्यजेत्' 'देवता होकर देवों की पूजा करे तथा नाऽरुद्रोरुद्रमर्चते अर्थात् रुद्र ही रुद्र की पूजा करता है। इस प्रकार पूजन में मुझे सारुप्य मुक्ति प्राप्त है। हे महादेव! इस कीर्तन के करते समय आप भक्तों के बुलाने पर आ ही जाते हैं तो सामीप्य प्राप्त होने से सामीप्ययुक्ति मिल जाती है। शिव भक्ति में अग्रसर जन समूह के साथ सम्भाषण से सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो जाता है और हे भवानी पते! आपके चराचरात्मक विग्रह का ध्यान करने से सायुज्य प्राप्त हो जाता है। इसलिए मैं आपके पूजन आदि से ही कृतार्थ हो गया हूँ। (शिवानन्द ल. २८)

हे उमानाथ! सुख प्राप्ति के उद्देश्य से पूजा हेतु कोई तालाब से पुष्प लाता है तो कोई वन से, कोई पर्वत से, किन्तु यह पुरुष यह नहीं जानता कि सच्चा सुख चेतनरूपी कमल को आपके चरणों में चढ़ाने से मिलता है। अतः चेतन सरोज को ही चढ़ाना चाहिए। (शिवानन्द ल. ९)

शिवाद्वैत मतावलम्बी शैव जीवात्मा को पशु कहते हैं और परमात्मा शिव को पशुपति मानते हैं। यहाँ भक्त पाल्य-पालक भक्ति भाव से भावित होकर भगवान् पशुपति शिव से कहते हैं—हे पशुपते शिव! आप अन्तर्यामी हैं और जीवों को जानते भी हैं, अतः आप सर्वज्ञ भी हैं। मैं जीव हूँ इसलिए पशु हूँ, अज्ञ हूँ। जब आप सर्वज्ञ है तो मेरी पीड़ा को अवश्य जानते हैं। अतः हे सर्वज्ञ शिव! आप अपनी संकल्पित कृपा द्वारा हमारी रक्षा करें।

सन्ध्यारम्भविजृम्भितं श्रुतिशिरः स्थानान्तराधिष्ठितम्,
सप्रेमभ्रराभिराममसकृत्सद्वासनाशोभितम्।
भोगीन्द्राभरणं समस्तसुमनः पूज्यं गुणाविष्कृतम्,
सेवे श्रीमल्लिकार्जुनमहालिङ्गं शिवालिङ्गितम्।। (शिरान.ल. ५०)



श्रीशैल पर्वत पर

हे भगवान् मल्लिकार्जुन! संध्याकाल के आरम्भ होते ही आप विशेष शोभा को प्राप्त होने वाले तथा वेद-उपनिषदादि प्रगीत मन्त्रों से महिमामण्डित, सात्त्विक स्वरूप होने से जो आपकी निरन्तर स्वच्छ (निर्मल) स्वरूप है उसमें भवानी के प्रति प्रेम की वासना अधिक शोभा को वर्धन करा रहा है और भोगीन्द्र (सर्पों) के आभूषण रहने पर भी आप सुन्दर-शान्त स्वरूप ही हैं तथा विप्रों के द्वारा आप गुण संकीर्तनपूर्वक पूज्य हैं। ऐसे श्रीमल्लिकार्जुन महालिङ्ग जो शिवा के द्वारा आलिङ्गित है, को मैं प्रणाम करता हूँ। प्रतीक चित्र के द्वारा भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है। (शिवानन्दलहरी ५०)

देवीं वाचमजनयन्त देवा;
स्तांविश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेष मूर्जं दुहाना,
धेनुर्वागस्मानुपसुष्ठुतैतु।।
(देव्युपनिषत्)

अमितमुदमृतं मुहुर्दुहन्तीं,
विमलभवत्पदगोष्ठमावसन्तीम्।
सदय पशुपते! सुपुण्यपाकां मम
परिपालय भक्ति धेनुमेकाम्।।
(शिवान.ल. ६८)

जडता पशुता कलङ्किता, कुटिलचरत्वं च नास्ति मयि देव!।
अस्ति यदि राजमौले!, भवदाभरणस्य नास्मि किं पात्रम्।।
(शिवान.ल. ६९)

प्राणरूप देवों ने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणी को उत्पन्न किया उसे अनेक प्रकार से प्राणी बोलते हैं। वह कामधेनु है, वह अन्न तथा बल देने वाली है, वाणी रूपी भगवती उत्तम स्तुति से सन्तुष्ट होकर हमारे पास आये। (देव्युप.नि.)

हे दयालो पशुपते! हे भूतभावन! अनन्त मोदमय अमृतरूपी दूध को देती हुई तथा अत्यन्त विमल आपके चरणरूपी गोशाला में निवास करती हुयी जो अनेक जन्मार्जित पुण्य पुञ्जों से फलभूत मेरी भक्ति है ऐसी मेरी भक्तिरूपी धेनु की आप कृपा करके रक्षा करें अर्थात् अपने चरणों की भक्ति को बढ़ावें। (शिवानन्दल. ६८)

हे चन्द्रमौले! मुझमें जड़ता नहीं है। मैं चेतन हूँ और मुझमें पशुता भी नहीं है। मैं मनुष्य हूँ और भगवन् मुझमें चन्द्रमा जैसी कलङ्किता तथा सर्पो की भाँति मुझमें कुटिलता

धनुस्तारं शरोह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
लक्ष्यं सर्वगतं चैव, शरः सर्वगतो मुखः।।३८।।
वेद्धा सर्वगतश्चैव, शिवलक्ष्यं न संशयः।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं, शरवत्तन्मयो भवेत्।।३९।। (रुद्रहृदयोपनिषत्)

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन्, जीवेशाख्यौ सह स्थितौ।
तयो र्जीवः फलं भुङ्क्ते, कर्मणो न महेश्वरः।।
केवलं साक्षिरूपेण, विना भोगं महेश्वरः।। (रुद्रोपनिषद्)
अविद्या कामकर्मादि, पाशबन्धं विमोचितुम्।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि।। (विवेकचू. ५७)

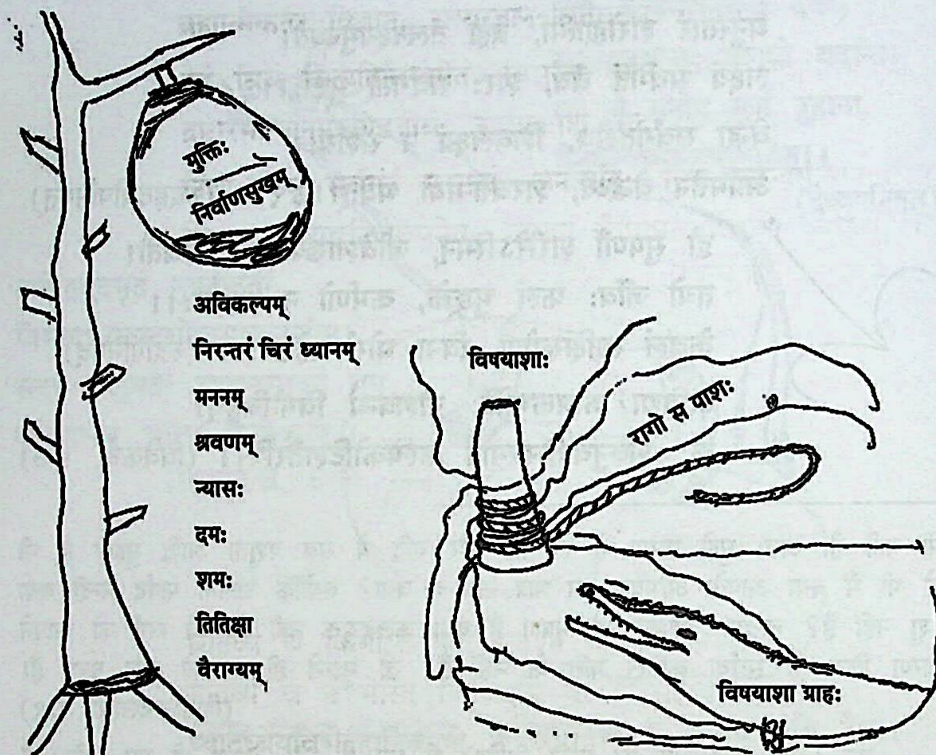
भी नहीं है। अतः मुझे शरण में ले लो और यदि ये सब पशुता आदि मुझमें है भी तो भी मैं क्या आपके आभूषण का पात्र नहीं हूँ क्या? क्योंकि आपके पार्षद नन्दी क्या पशु नहीं हैं? चन्द्रमा आपका जो भूषण है क्या कलङ्कयुक्त नहीं है? वे सर्प जो आपने धारण किया है सर्वथा कुटिल गति के नहीं हैं? तो मुझसे ही आपको क्या घृणा है।
(शिवानन्दलहरी ६९)

तार (ओम् मन्त्र जप का ध्वनि विशेष) ही धनु है और आत्मा ही शर (तीर) है और ब्रह्म लक्ष्य है। उसका भेदन करके सर्वगत-सर्वतोमुख आत्मा और परमात्मा का ऐक्य प्राप्त करना चाहिये। (रुद्रहृदयोपनि. ३८)

वेद्धा आत्मा (तीर) सर्वगत है और लक्ष्य परमात्मा शिव हैं इसमें संशय नहीं है। अतः अप्रमत अर्थात् सावधानीपूर्वक लक्ष्य (परमात्मा शिव) को वेधकर जैसे शर (तीर) लक्ष्य को भेदकर तन्मय हो जाता है उसी प्रकार तन्मय हो जाय। यहाँ भगवती श्रुति साधक को उद्बोधित कर परमात्मा मेलन के लिए प्रेरित कर रही है। (रुद्रहृदयोपनिषद् ३९)

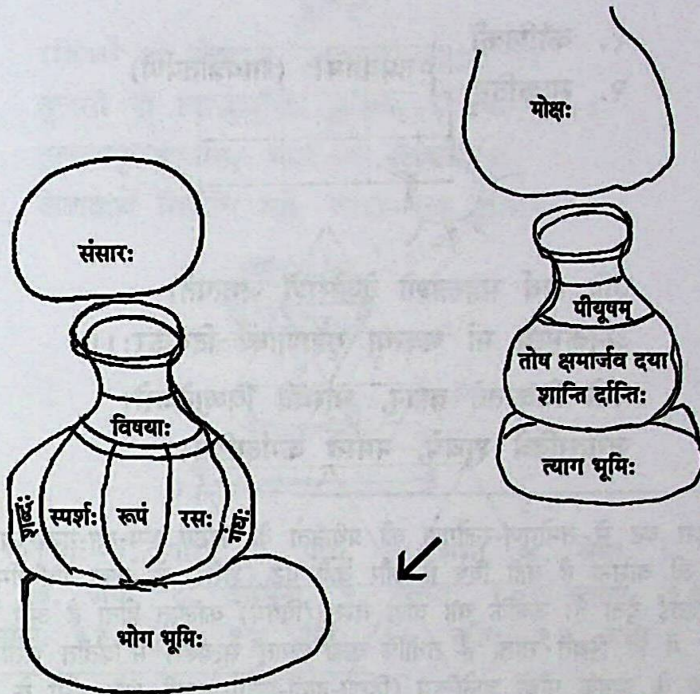
दो पक्षी इस शरीर में जीव और ईश्वर साथ-साथ रहते हैं। उनमें से जीव कर्मों का फल भोगता है, महेश्वर नहीं। महेश्वर तो बिना भोग के साक्षी रूप में सदा सुशोभित रहता है। (रुद्रोपनिषद्)

अविद्या-कामना तथा नाना प्राकर के शुभ और अशुभ कर्मों के दृढ़ जाल को व्यक्ति स्वयं ही काट सकता है। क्योंकि कहा है—'उद्धरेदात्मनात्मानं' अपने आत्मा का अपने आत्मा द्वारा ही उद्धार करें, अन्य उपाय से तो करोड़ो कल्पों में बन्धन मुक्ति सम्भव नहीं है।
(वि.चू. ५७)



साधक को निर्माण सुख (मोक्ष) प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विषयों में अनिष्ट दृष्टि (बुद्धि) से वैराग्य का उत्पन्न होना आवश्यक है और उसके तितिक्षा (शीत-उष्ण सहन-सामर्थ्य) योग्यता क्रमशः शम-दम-न्यास-श्रवण-मनन-निरन्तर (दीर्घ-कालिक) ध्यान (निदिध्यासन) और अविकल्प बुद्धि की योग्यता आवश्यक है। इन सामर्थ्य युक्त आध्यात्मिक साधन से निर्वाण सुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त साधन से उत्पाद्य फल निर्माण सुख है। यह प्रथम प्रतीक का आशय है।

विषयों (वस्तुओं) में आशा (प्राप्त करने की इच्छा) ग्राह है जो जीवात्मा को धीरे-धीरे ग्रसित करते रहता है। वह ग्राह निश्चिन्त भाव से सरलतापूर्वक जीवात्मा को ग्रसता है क्योंकि जीव राग (विषयों के प्रति आकर्षण) रूपी पाश में मजबूती से बँधा होता है। आशा अनन्त है और राग भी अनन्त विषयों के प्रति हैं, इसलिए जीव विवश है। इस पास से बचने के लिये आशा-तृष्णा-राग आदि को त्यागना ही पड़ेगा अन्यथा उस ग्राह से बचना कठिन है। कहा है कि—

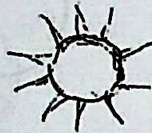


आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोतुङ्गचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।। (वैराग्य श. १०)

अर्थ है—आशा नामक नदी मनोरथ रूपी जल से भरी होती है। उस नदी को तृष्णा रूपी तरंग आकुल की हुई रहती है तथा उस नदी में राग रूपी ग्राह का वास भी है, वितर्क रूपी पक्षियाँ भी हैं जिसके कारण वह भयंकर प्रतीत होती है और उस नदी के तट पर स्थित धैर्यरूपी वृक्ष को अपने वेग से ध्वंस करती रहती है। क्योंकि उस नदी में मोहरूपी आवर्त (भ्रमी) भी है इसलिए वह दुस्तर (दुःखपूर्वक पार करने योग्य) है तथा वह गहन (गहरी) भी है एवं वह नदी उन्नत चिन्ता रूपी तट से युक्त है। इस स्वरूप के कारण वह दुस्तर (दुर्लङ्घ्य) है, जो साधक विशुद्ध है अर्थात् पवित्र अन्तःकरण वाला है वह उसे तरण कर जाता है और परम आनन्दित होता है। (वै.श. १०) यही द्वितीय प्रतीक चित्र का आशय है।

भोग भूमि प्रारब्ध है और वह इस शरीर की उत्पत्ति का आधार (मूल) है। प्रतीक घट (घड़ा) का चित्र है। घट शरीर को भी कहते हैं अतः घटत्वेन यहाँ शरीर भी व्यञ्जित

१. कौशिकीं
२. साकृतिम् } तर्पयामि। (गायत्रीतर्पणे)



एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवकरः।।
नमो विवस्तते ब्रह्मन्, भास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये, नमस्ते कर्मदायिने।।

अर्थ है। इस घट में तमोगुण-रजोगुण की प्रधानता के कारण रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द आदि की जो वासना है वही विष है और वही घट (शरीर) के बाहर विनिर्गमन कर विषय रूप में दिखाई देता है। जबकि वह वाह्य वस्तु (विषय) कल्पित होता है और वह वस्तुतस्तु अन्त:करण में ही स्थित रहता है तथापि वाह्य जगत् सत्यरूप में प्रतीत होता है और उन पाँचों विषय के ग्राहक पाँचों ज्ञानेन्द्रिय (हिरण-हाथी-पतंग-मछली और भौरों के समान) उसमें आसक्त होकर संसार का सृजन करके उसमें आसक्त होती हुई फँस कर अन्त:करण के माध्यम से वह अनन्त दु:खों के रूप में आत्मा को अनुभव कराती है। इससे बचने का उपाय इसका त्याग ही हो सकता है। त्याग अनासक्ति को कहते हैं और राग आसक्ति स्वरूप होता है। अत:—

सुखमिच्छसि चेत्तात, विषयान्विषवत् त्यज।
क्षमार्जवं दया शौचं, सत्यं पियूषवत्पिव।। (चाणक्यनीति)

अर्थ है हे तात! यदि सुख चाहते हो तो विषय को विष समझकर त्याग दो और क्षमा-आर्जव-दया और शौच को अमृत समझकर पी जाओ। अत: इनसे बचने का एकमात्र उपाय यही प्रतीत होता है।

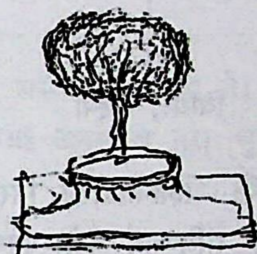
ऊपर भोग भूमि घट को कहा जा चुका है और अब त्यागभूमि घट के सम्बन्ध में कहा जा रहा है—त्यागभूमि घट के गर्भ में तोष-क्षमा-आर्जव-दया-शान्ति-दान्ति गर्भवाला होता है जो सतोगुण प्रधानता का द्योतक है। अत: इसमें पियूष (अमृत) भरा होता है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही इसका मूल आशय संक्षेपत: है।

गायत्री तर्पण में कौशिकी और साकृति का भी तर्पण करना चाहिये। (गायत्री तर्पण)

हे सूर्य नारायण! तुम हजार किरण वाले हो। हे तेजों के भण्डार! हे जगत्स्वामिन्! हे दिवाकर! आप आएँ और मुझ पर अनुकम्पा करें भक्ति द्वारा प्रदत्त मेरे अर्घ्य को ग्रहण

तुलसी

रविवारे च संक्रान्तौ, द्वादश्यां श्राद्धवासरे।
तुलसी नो विचिन्वन्ति, ह्यमायां पूर्णिमा दिने।।
तुलस्यमृतजन्मासि, सदा त्वं केशवप्रिया।
केशवार्थे चिनोमि त्वां, वरदा भव शोभने।।



१६ मातृकाः–१. गौरी, २. पद्मा, ३. शची, ४. मेधा, ५. सावित्री, ६. विजया, ७. जया, ८. देवसेना, ९. स्वधा, १०. स्वाहा, ११. माता, १२. लोकमाता, १३. धृतिः, १४. पुष्टिः, १५. तुष्टिः, १६. हृष्टिः।

करें। हे विवस्वान्! हे ब्रह्म! हे भास्कर! हे विष्णु के तेज से युक्त जगत् के प्रेरक! हे सम्पूर्ण कर्म के सञ्चालक! हे परम पवित्र! आपके लिए हम नमस्कार करते हैं।

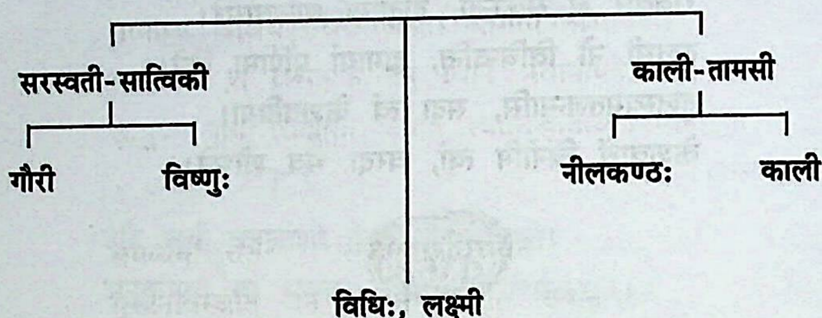
तुलसी

रविवार को, संक्रान्ति को द्वादशी को तथा पितृश्राद्ध के दिन, अमावस्या और पूर्णमासी को तुलसी नहीं तोड़ना चाहिये।

तुलसी तोड़ने का मन्त्र

हे तुलसि! तुम अमृत से उत्पन्न हुयी हो, तुम भगवान् विष्णु को अत्यन्त प्रिय हो, मैं तुम्हें केशव के लिए ही चुन रहा हूँ। इसलिए हे सोभने! तुम मुझे अभीष्ट ,वर प्रदान करो।

१६ मातृका—मंगल कार्यों में सदा पूजनीय ये १६ मातायें हैं। इनके बिना मंगल कार्य सम्पन्न नहीं होते हैं। गौरी अर्थात् पार्वती जी जो सभी मंगल कार्यों की अधिष्ठात्री हैं। पद्मा अर्थात् लक्ष्मी जी, भगवान् विष्णु की शक्ति हैं। शची अर्थात् इन्द्र देव की ऐन्द्री शक्ति हैं। मेघा अर्थात् बुद्धि, जो बुद्धि स्मृति आदि की अधिष्ठात्री हैं। इसी प्रकार सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, मातृगण, लोकमातृगण, धृति, पुष्टि, तुष्टि और दृष्टि ये षोडश मातृकाएँ हैं।



अशुभाशुभसंकल्पैः संशान्तोऽस्मि निरामयः।
नष्टेष्टानिष्टकलनः, संविन्मात्र परोस्म्यहम्।। (महावा.र.)

सुरथ राजा के पूछने पर ऋषि ने कहा कि तुम मेरे भक्त हो। इसलिए तुम्हें गोपनीय रहस्य बताता हूँ। राजन्! त्रिगुणमयी परमेश्वरी महालक्ष्मी सबका आदि कारण हैं। उस परमेश्वरी महालक्ष्मी ने इस जगत् को शून्य देखकर एक उत्कृष्ट तमोगुण रूप धारण किया जो स्त्रीरूप था तथा जो काली नाम से प्रसिद्ध हुई। काली ने महालक्ष्मी से प्रार्थना की कि मातः हमें कुछ कार्य बताइये तो महालक्ष्मी ने काली के लिए नाम और कर्म बताये। ऐसा कहकर महालक्ष्मी ने पुनः सत्त्वगुणरूपी दूसरा रूप धारण किया जिसके हाथों में अक्षमाला-अंकुश-वीणा तथा पुस्तक थे। जिसका नाम सरस्वती हुआ। महालक्ष्मी ने इन दोनों से कहा कि तुम अपने-अपने गुणानुरूप स्त्री-पुरुष के जोड़े उत्पन्न करो। ऐसा कहकर लक्ष्मी प्रथम स्वयं ही एक जोड़ा उत्पन्न किया। उनमें से पुरुष का नाम विधि-विरंचि-ब्रह्मा आदि नाम से प्रसिद्ध हुए और स्त्री-पद्मा-कमला-लक्ष्मी आदि नाम से प्रसिद्ध हुई। तत्पश्चात् महाकाली और महासरस्वती ने भी एक-एक जोड़ा उत्पन्न किया। इसी प्रकार महाकाली ने भी नीलकण्ठ जो लाल-लाल भुजा, श्वेत शरीर तथा मस्तक चन्द्रमा वाले पुरुष थे को तथा गौरी को पैदा किया और सरस्वती गोरे रंग की स्त्री तथा गौर श्याम वर्ण के पुरुषों को पैदा किया। यह देवी की प्राधानिक रहस्यगत विषय है।

मेरे अशुभ आचारों और कर्मों की अनुवृत्ति समाप्त हो गयी है तथा मेरे शुभ तथा अशुभ संकल्प भी समाप्त हो गये हैं। अब मैं पूर्ण [1]स्वस्थ हूँ क्योंकि इष्ट और अनिष्ट की कल्पना शान्त हो जाने से अब केवल बोध स्वरूप हो गया हूँ। (महावा.र.)

---

१. स्वस्मिन् आत्मनि स्थितः, स्वस्थः।

द्रोणः

करोमि कामं कं तेऽद्य, प्रवृणीष्व यमिच्छसि। दुर्योधनः-कर्णदुःशसनादिभिः सामन्त्र्य जीवग्राहं युधिष्ठिरं मत्समीपमिहानय।

नाकारो गूहितुं शक्यो बृहस्पतिसमैरपि। (महाभा.द्रो. १२)

ऋषयोऽभ्यागता....ब्रह्मलोकं निनीषवः।

त एनमब्रुवन्

अधर्मतः कृतं युद्धं समयो निधनस्य ते।

ब्रह्मास्त्रेण त्वया दग्धा अनस्त्रज्ञा नरा भुवि।।

(महा.भा.द्रो. १९०)

पीयूषम्-



द्रोणाचार्य

द्रोणाचार्य जी ने दुर्योधन से कहा कि—तुम क्या चाहते हो माँगो तुम्हारा मैं क्या अभीष्ट कार्य करूँ? दुर्योधन ने कर्ण दुःशासन आदि से परामर्श करके कहा कि जीवित युधिष्ठिर को मेरे पास यहाँ ला दो।

चेष्टाओं को छिपाना बृहस्पति जैसे महाविद्वानों के लिए भी कठिन है।

(महा.भा.द्रो.पर्व. १२)

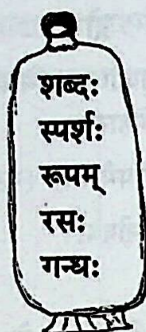
ब्रह्म लोक को जाने के इच्छुक ऋषियों का आगमन हुआ।

वे दुर्योधन से बोले—तुमने अधर्मपूर्वक जो युद्ध किया है यह समझ लो तुम्हारे मरने का समय आ गया है अर्थात् तुम्हारी पराजय के ये ही हेतु होंगे।

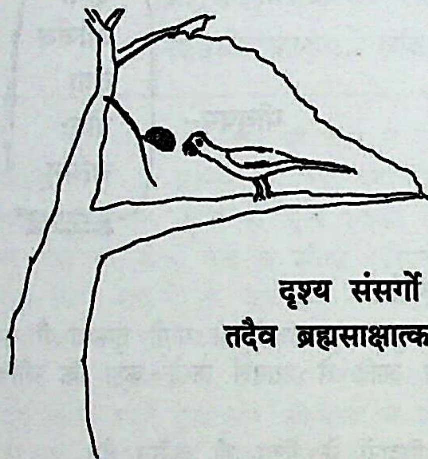
(महाभा.द्रो.प. १९०)

तुम अज्ञान ब्रह्मास्त्र से दग्ध हो इसलिये तुमसे बढ़कर अस्त्र-शस्त्र से अनभिज्ञ संसार में कोई नहीं है।

क्षमा, आर्जव, दया, तोष और सत्य—ये पाँचों अमृत हैं। इनका पान करने से अमरता प्राप्त होती है अर्थात् मोक्ष उपलब्ध होता है। इस प्रतीक से यह भी कहा गया कि इन गुण समूह से पुरुष साक्षाज्जीवन मुक्त हो जाता है।



ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वं एकोऽहं चिद्रसोऽमलः।। (अष्टाव.गी. २)



दृश्य संसर्गो दृष्टेर्मालिन्यहेतुः तन्निवृत्तौ मालिन्याभावः,
तदैव ब्रह्मसाक्षात्कारः। (भगवत्तत्त्व रा.र.)

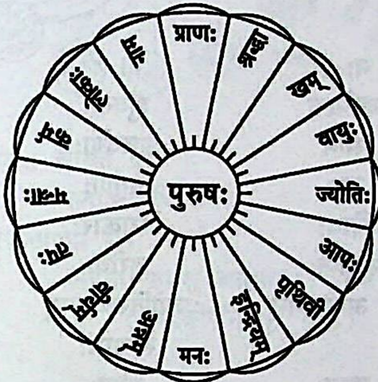
शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों इन्द्रियों के जो पाँचों विषय हैं, प्राणी को मारने वाले विष हैं।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ध्याता, ध्यान, ध्येय इत्यादि त्रिपुटी मिथ्या है वास्तविक नहीं है। यह शुद्ध समाधि में नहीं रहती है। निर्विकल्प समाधि तथा ज्ञानी के लिए तो दृष्टानास्तीति बोधेन मनसो दृष्यमार्जनम्) इसके अनुसार दृष्टा भी नहीं हैं केवल चिद् रस में एक ही हूँ ऐसी प्रतीति रह जाती है। (अष्टाव.गी. २)

दृश्य जगत् प्रपञ्च के संसर्ग दृष्टि की मलिनता का हेतु होता है। और जब उससे निवृत्ति मिल जाती है तो मालिन्याभाव (स्वच्छ) हो जाता है, अर्थात् जीवात्मा निर्मल हो जाता है और इसी को ब्रह्मसाक्षात्कार कहते हैं। (भगवत्तत्व.रा.र.)

श्रवणम्–कीर्तनम् { स्वरूपम्–उपनिषदि
गुणाः–पुराणेषु
नाम–सहस्रनामसु

आभास–अध्यारोपः } आश्रयः } भगवान्
निरोधः–अपवाद } } परब्रह्म



इमाः षोडसकलाः पुरुषायणाः। स एषोऽकलोऽमृतः। (प्रश्नोपनिषत् ६)



ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदों में तथा गुण पुराणों में एवं नाम सहस्र नामावलियों में है।

स्वच्छ शीशे में जैसे सन्मुख पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है ऐसे ही बुद्धि तत्त्व भी स्वच्छ है उसमें चेतन का आभास पड़ने से जीव कहलाता है। अध्यारोप—वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। जैसे रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत होता है, ऐसा ही वस्तु सच्चिदानन्द धन अनन्त अखण्ड ब्रह्म है और उसमें जगत् की प्रतीति होना आध्यारोप है। निरोध और अपवाद प्रायः एक ही वस्तु है। रज्जु में सर्प ज्ञान जब सम्यक् प्रदर्शन से समाप्त होकर रज्जु मात्र रह जाता है तो उसे अपवाद कहते हैं। जैसे 'नेह नानास्ति किञ्चन, ब्रह्मैववेद' इत्यादि श्रुति वाक्यों से जब जगत् प्रपञ्च मिथ्या निश्चित हो जाती है तो उसे अपवाद कहा जाता है। आभास अर्थात् अध्यारोप का आश्रय भगवान् (सगुण ब्रह्म) हैं और निरोध का आश्रय परब्रह्म है।

प्राण, ब्रह्म, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मात्रा, कर्म, लोक और नाम ये विराट् पुरुष की सोलह कलाएँ हैं किन्तु शुद्ध ब्रह्म तो अमृत रूप है, अतः इन कलाओं से रहित है।

भगवान् ने अपनी लीलाशक्ति से मंगलमय देह का सृजन किया इसलिए उस देह में सौन्दर्य-माधुर्य गुण है और भगवान् का वह स्वरूप भजनीय स्वरूप है।

व्याहृति–

विशेषेण आहृतिः–विराजः प्राह्वानं प्रकाशीकरणम्।
भू र्भुवः स्वस्तथा पूर्वं स्वयमेव स्वयंभुवा।
व्याहृतं ज्ञानदेहेन तेन व्याहृतयः स्मृताः।। (योगियाग्यवल्क्य ९)

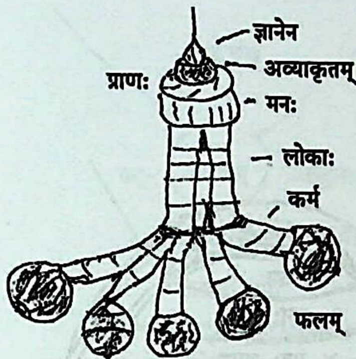
ॐ

अः १	उः २	मः ३	।। ४
रक्ता	कृष्णा	कपिला	शुक्ला
ऋक्	यजुः	साम	अथर्वणः
रजः	सत्त्वम्	तमः	निर्गुणः
ब्रह्म	विष्णुः	शिवः	निराकारः
जाग्रत्	स्वप्नः	सुषुप्तिः	तुरीया
वाचमध्यात्मम्	प्राणमध्यात्मम्	मन अध्यात्मम्	ज्योतिरध्यात्मम्
			संन्यासः
धर्मः	अर्थः	कामः	मोक्षः
ब्रह्मलोकप्राप्तिः	विष्णुलोकप्राप्तिः	शिवलोकप्राप्तिः	अनामयपदप्राप्तिः

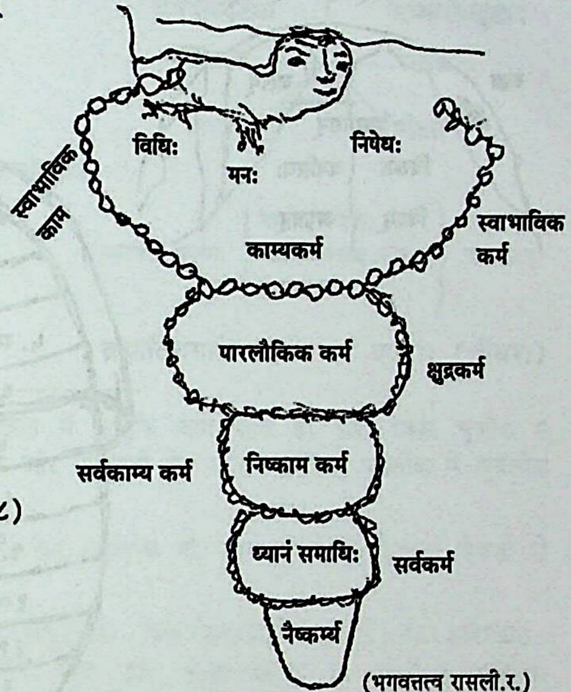
विशेष रूपसे आह्वान विराट् का आह्वान है व्याहृति का अर्थ है। अप्रकट तत्त्व को प्रकट करना ही व्याहृति है।

ब्रह्मा ने स्वयं ही अपने ज्ञान रूपी शरीर से भूः, भुवः और स्वः रूप सृष्टि का सृजन प्रारम्भ किया अतः इन्हें व्याहृति कहते हैं। (योगियाज्ञकल्क्य ९)

ओम् इस मन्त्र में अ-उ-म और अर्ध मात्रा ये चार अक्षर हैं। इनमें अकार का रंग रक्त, वेद ऋक्, गुण रज, देवता ब्रह्मा, अवस्था जाग्रत् तथा अध्यात्म-वाणी, पुरुषार्थ-धर्म और ब्रह्मलोक की प्राप्ति इस अकार की उपासना का फल है। इसी प्रकार 'उ' मन्त्रवर्ण का रंग-कृष्ण, वेद-यजुर्वेद, गुण-सतोगुण, देवता-विष्णु, अवस्था-स्वप्न, अध्यात्म-प्राण और पुरुषार्थ-अर्थ है। इस उकार मन्त्र की उपासना से विष्णुलोक की प्राप्ति होती है। मकार मन्त्र वर्ण का रंग-कपिला, वेद-साम, गुण-तमोगुण, देवता-शिव, अवस्था-सुषुप्ति, अध्यात्म-मन और पुरुषार्थ-काम है। इस मकार मन्त्र वर्ण की उपासना करने से शिवलोक की प्राप्ति होती है। अर्धमात्रा (।।) मन्त्र वर्ण का रंग-शुक्ल, वेद-अथर्ववेद, गुण-निर्गुण (गुणरहित), आकार-निराकार, अवस्था-तुरीया, अध्यात्म-ज्योतिः, पुरुषार्थ (फल)-संन्यास प्राप्तिपूर्वक मोक्ष है। इस अर्ध मात्रा मन्त्र वर्ण की उपासना से अनामय पद की प्राप्ति होती है।



जपस्याभ्यन्तरे व्याख्या स्मर्तव्या मनसा द्विजैः।



(भगवत्तत्व रासली.र.)

तपसा चीयते ब्रह्म
ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं
लोका कर्मसु चामृतम्।।
(मुण्डकोपनिषत् १/८)

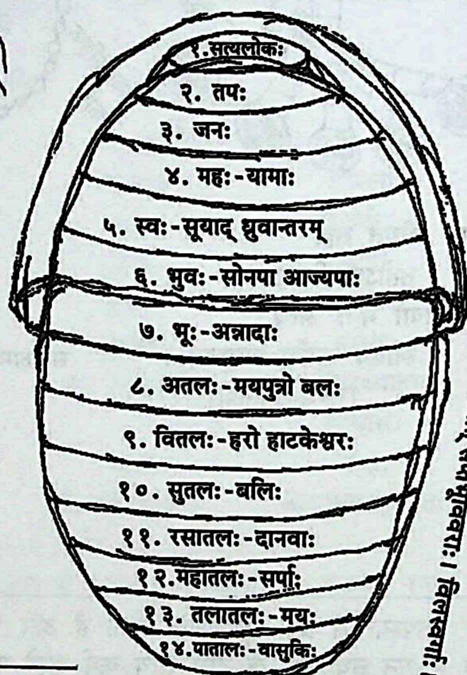
तपस्या से ब्रह्म की प्राप्ति होती है और उससे अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से प्राण, प्राण से मन तथा मन के द्वारा सत्य कर्म करने पर अमृत की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय को चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार सृष्टि के स्थिति संहारेच्छु बुद्धि को प्राप्त ब्रह्म द्वारा जो खाया जाता है वह सबका साधारण कारण रूप पहले-पहले अव्याकृत ही होता है। पुनः उस अव्याकृत अन्न से प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ यानि ब्रह्म की ज्ञान क्रिया शक्तियों से अधिष्ठित व्यष्टि जीवों का समष्टि रूप अविद्या, काम, कर्म और भूतों के समुदायरूप बीज का अंकुर उत्पन्न होता है। (मुण्डकोपनि. १/८)

उक्त चित्र के अनुसार जापक को जप करते समय यह व्याख्या स्मरण करनी चाहिए कि हमारी [1]स्वाभाविक इच्छायें क्या विघ्न डाल रही है तथा स्वाभाविक कर्मों से तो हम संलग्न नहीं हैं? जप की क्या विधि है? मन किस प्रकार का है अर्थात् अन्य संकल्परत तो नहीं हैं? हम काम्य कर्मों से रत तो नहीं हैं? इतने चिन्तन के पश्चात् [2]पारलौकिक सूक्ष्म कर्म में प्रवृत्ति होती है और क्षुद्र कर्म वर्हिभूत हो जाते हैं। तदनन्तर निष्काम[3] कर्म

१. काम्यकर्म, २. क्षुद्रकर्म, ३. सर्वकाम्य कर्म।

दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च।
अणोरणीयान् महतो महीयान्।



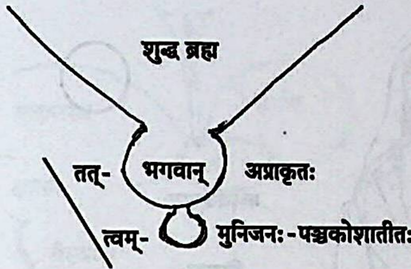


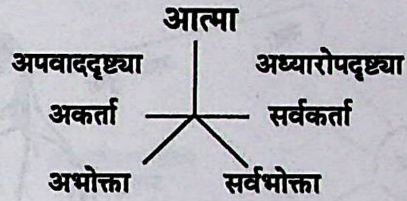
करने की निष्ठा तथा सर्व काम्य कर्म वर्हिभूत हो जाते हैं। पुनः इस अवस्था के परिपक्व होने पर ध्यान तथा समाधि अवश्य प्राप्त होता है। जब समस्त बाह्य दृश्य तथा कर्म बाहर चले जाते हैं तब नैष्कर्म्य अर्थात् निर्विकल्प [4]समाधि सिद्ध हो जाती है। (भगवत्तत्व रा.ली.र.)

वह ब्रह्म तत्त्व दूर से भी दूर तथा अत्यन्त समीप भी है। छोटे से भी अत्यन्त छोटा और बड़े से भी बड़ा है, अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। अनिर्वचनीय है उसमें अनेक विरुद्ध धर्म एक साथ रहते हुए भी कोई विकृति नहीं कर पाते हैं। विष और अमृत, अग्नि और जल इत्यादिकों का एक साथ समावेश ब्रह्म में सम्भव है। उपर्युक्त प्रतीक चित्र का अभिप्राय यही है।

भूमि के नीचे सात विवर-परत अर्थात् लोक है जो इस प्रकार है—अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल, तलातल और पाताल। अतल में मय पुत्र बल रहता है, वितल में हाटकेश्वर हर रहते हैं, सुतल में बलि राजा रहते हैं, रसातल में दानव रहते हैं, महातल

४. सर्व कर्म।





अवतारस्य
प्रधानप्रयोजनम्–परमहंसानां
भक्तियोगविधानम्।

भगवान् कृष्णः { मन्मथ मन्मथः / आत्मन्यवरुद्ध सौरतः / आत्मारामः } भागवतम्

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्प दर्पहा। (श्रीधरः)

में सर्प, तलातल में मय और पाताल में वासुकि जागे रहते हैं। इसी प्रकार भूर्लोक में अन्न खाने वाले भुवर्लोक के धृतपायी और सोमपायी देव और ब्रह्मर्षिगण स्वर्लोक में सूर्यलोक से ध्रुवलोक पर्यन्त रहते हैं।

शुद्ध ब्रह्म तत् पद वाच्य है। तत् पदवाच्य ही भगवान् अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। इसलिए कहा है कि—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसःश्रियः। ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।
प्रवत्तिश्च निवृतिश्च भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याश्च स वाच्यो भगवानिति।।

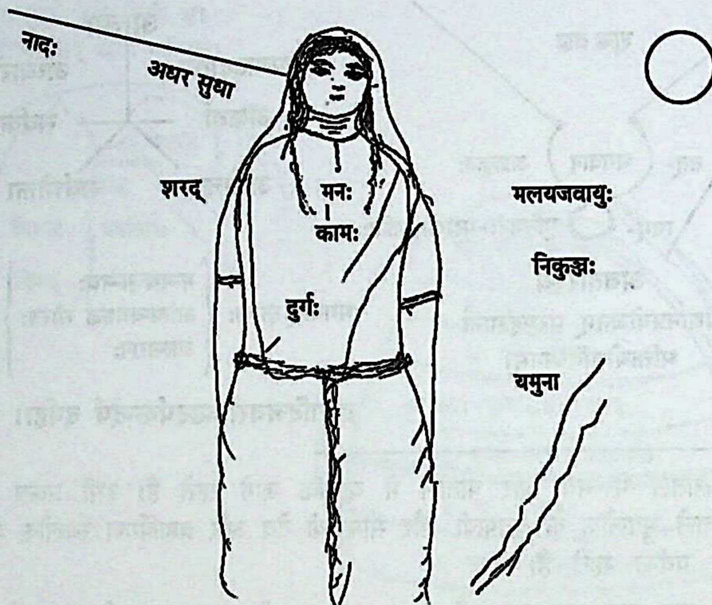
शुद्ध ब्रह्म

वह परमात्मा भगवान् पद वाच्य शुद्ध अप्राकृत ब्रह्म है प्रकृतिजन्य और प्रकृति से युत् भी नहीं है। इसी तरह 'त्वम्' पद वाच्य अर्थ पञ्चकोशातीत-सकल उपाधि रहित लक्ष्यार्थत्वेन ब्रह्म ही है, ऐसा मुनिजनों (मननशीलों) द्वारा कहा जाता है या अनुभव किया जाता है। अवतार का प्रधान प्रयोजन परमहंसों के भक्तियोग का विधान है।

आत्मा

अपवाद की दृष्टि से आत्मा अकर्ता और अभोक्ता है क्योंकि इस आत्मा का स्वरूप नित्य-शुद्ध-बुध-मुक्त स्वभाव वाला है। इस दृष्टि से इतर अध्यारोप दृष्ट्या यह आत्मा सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता है क्योंकि वह अविद्या सहकृत होकर अन्यथा प्रतीति का विषय है। यथा रज्जु में सर्प की और सुक्ति में रजत की प्रतीति सर्वथा एवं सर्वकालिक मिथ्या होते हुए भी सत्य प्रतीति का विषय होता है।

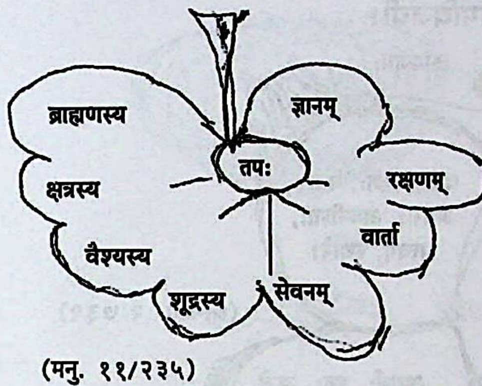
भगवान् श्रीकृष्ण मन्मथ अर्थात् कामदेव के मन को भी मथने वाले हैं। क्योंकि उनमें अद्भुत-अलौकि लावण्यता और सौन्दर्य है। पक्षान्तर (दूसरा) अर्थ है मन्मथ (कामदेव) के



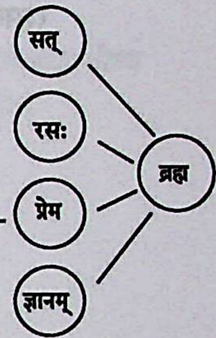
मन को मथते हैं अर्थात् कामदेव को भी जीतने वाले हैं क्योंकि वे परम योगीश्वर हैं। पक्षान्तर (तीसरा) अर्थ है 'मनः स्थिरं यस्य सः' जिसका मन स्थिर है वह मन्मथ अर्थात् स्वयं योगीश्वर होते भी दूसरों के मन को मथते हैं इसलिए मन्मथ-मन्मथः है। पक्षान्तर (चौथा) अर्थ है—'मन्मथः योगीश्वरः स एव मन्मथः कामदेवः यस्मात् तस्मात् मन्मथ-मन्मथः' अर्थात् जो योगीश्वर हैं वही कामदेव हैं, इसलिए स्वयं को स्वयं से मथन (युद्ध) नहीं होता क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। युद्ध तो दो में होता है अद्वितीय (अभिन्न) में नहीं। इस प्रकार इसके कई अर्थ कल्पित किये जा सकते हैं। वह भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा में अवरुद्ध जो सौर (प्रकाश) अर्थात् ज्ञान उसमें रत (लीन) होने के कारण आत्माराम हैं। वे ब्र्ह्मादि के जयहेतु उद्यत जो कन्दर्प (कामदेव) उसके दर्प (अहंकार) को दलित करने के कारण कन्दर्प-दर्प-दर्पहा हैं। वे इन सब गुणों के कारण भागवत (ऐश्वर्य सम्बन्न-नियन्ता हैं। (श्रीधरी टी.)

भगवान् श्रीकृष्ण निकुञ्ज लीला विहार को जो लौकिक दृष्टि से देखता और जानता है वह मूढ़ अज्ञान में डूबा हुआ है। जिसे ज्ञान चक्षु नहीं होता वह अन्धा होता है। इसलिए नीतिकार कहते हैं—

गावो ध्राणेन पश्यन्ति, शास्त्रैः पश्यन्ति पण्डिताः।
चारैः पश्यन्ति राजानः, चक्षुर्भ्यां इतरे जनाः।।



(मनु. ११/२३५)



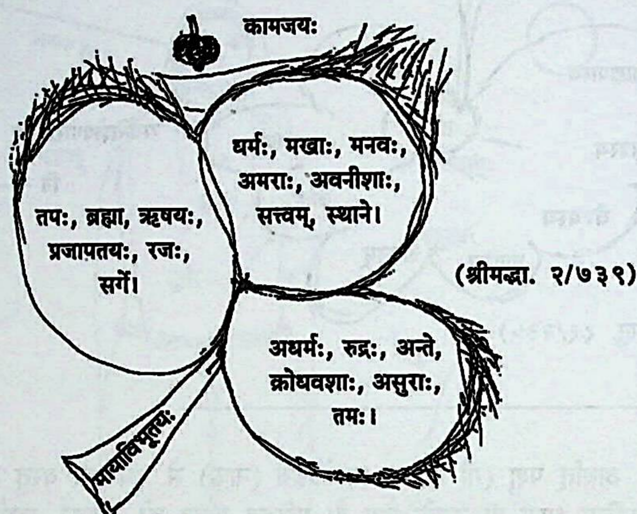
अर्थात् पशु (गौ आदि) घ्राणोन्द्रिय (नाक) से सूंघ कर वस्तु के गुणावगुण को जानता है। इसलिए घ्राण ही उसके चक्षु हैं। पण्डित शास्त्र को देखकर अर्थात् मनन कर विवेकपूर्वक वस्तु के गुण-दोष का चिन्तन करता है; अतः शास्त्र ही उसका चक्षु (आँख) है। राजा चार (गुप्तचर) के माध्यम से राज्य के हाल-चाल को जानता है इसलिए चार ही उसकी आँख है। इससे भिन्न जो लोग है वह चक्षु से जैसा देखता है वैसा ही जानता है अतः आँख ही उसकी आँख है। आँख से देखने वाला विवेकशील नहीं होता ऐसा जानना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्ण के निकुञ्जलीला विहार में नादब्रह्म ही अधर सुधा है। शरद् ऋतु ही मलयज (मलय गिरी की ओर से आने वाला अथवा मलयगिरी चन्दन से उत्पन्न) वायु है। मन ही कामदेव है। दुःख से गमन (पार करने वाला) यह शरीर ही निकुञ्ज है और भक्तिज्ञान की अविरल धारा ही यमुना है। इस शरीररूपी निकुञ्ज में विहार करने वाले श्रीकृष्ण मात्र हैं। श्रीराधा ब्रह्मविद्या हैं और श्रीकृष्ण पुरुष आत्मा हैं, पुरुष ब्रह्मविद्या में लीन होकर आत्मानन्दानुभव प्राप्त करता है यह माधुर्य रस है। इसी रूपक दृष्टि से भगवान् श्रीकृष्ण की लीला मननीय है। यही इस प्रतीक चित्राङ्कन के द्वारा कहा जा रहा है।

ब्राह्मण का ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक वेदान्त ज्ञान ही तप है, क्षत्रिय का प्रजापालन ही तपस्या है तथा वैश्य का कृषि, वाणिज्य, पशु पालन आदि तप है और शूद्रों का ब्राह्मणों की परिचर्या तप है। (मनु स्मृ. ११/२३५)

ब्रह्म सभी विशेषणों से रहित है। अगर कहें कि वे सत् है तो ऐसा नहीं है। वह असत् भी नहीं है। सत्-असत् भिन्न भी नहीं है। आपातः वह निर्विशेष है। इस प्रकार रस-प्रेम और ज्ञान के साथ भी विकल्प चिन्तन द्वारा सुनिश्चित होता है। प्रतीक चिह्नाङ्कन का अभिप्राय ऐसा ही है।

रासलीलायां-उपास्यः-कामविजयी।



(श्रीमद्भा. २/७३९)

म भ न ग

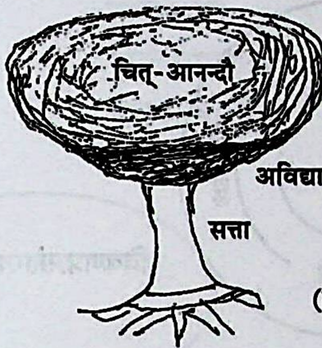
मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो, यादवेन्द्रस्य नूनम्
श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान्; ध्यायति प्रेमवद्धः।
उत्युत्कण्ठः, शबलहृदयो, ऽस्माद्विधो वाष्पधारः
स्मृत्वा-स्मृत्वा विसृजसि मुहु; र्दुःखदस्तत्प्रसंगः।।

(अत्यष्टिः-मन्दाक्रान्ता) (महिषी गी. श्रीमद्भा. १०)

रासलीला में काम विजयी श्रीकृष्ण उपास्य देवता हैं।

परमात्मा श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा-विष्णु और रुद्र रूप से जगत् की सृष्टि पालन और लय करते हैं। वे सृजनकाल में तप द्वारा ब्रह्मा-ऋषिगण प्रजापतियों का सर्जन अपने अधीन रजोगुण से करते हैं। वे स्थितिकाल में धर्म-मख-मनु, देवगण तथा अवनीशों (राजाओं) के रूपों में स्थितों की अपने अधीन सतोगुण से पालन करते हैं। लयकाल में अपने अधीन तमोगुण से प्रधान रूद्ररूप से क्रोधियों आदि का नाश करते हैं। (श्रीमद्भाग.पु. २/७३९)

हे श्रीमन् मेघ तुम हमारे प्रियतम कृष्ण की जैसी छवि वाले हो। अवश्य ही तुम यदुवंश शिरोमणि भगवान् के परम प्रिय हो। तभी तो तुम हमारी ही भाँति प्रेमपाश में बँधकर उनका ध्यान कर रहे हो। देखो तुम्हारी आँखे उनकी चिन्ता से भर आयी हैं। तुम



प्रत्यगात्म सत्त्वमात्रमुपजीव्य तदीय चिदौ छादयति।

(विरणप्र.सं. १/१)

समो-निर्विकारो-नित्यः

आत्मा

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रागादि दोष-
संयोगो अध्यासः।।

उनके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हो, और तुम उनको बार-बार याद करके हमारी ही भाँति आँसुओं की धारा बहा रहे हो। हे श्यामघन सचमुच घनश्याम से नाता जोड़ना घर बैठे पीड़ा मोल लेना है।

इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द है। जिसमें मगण-भगण-नगण-दो वगण और अन्त में गुरु हो और ४-६ और ७ वर्णों पर विराम हो उसे मन्दाक्रान्ता कहते हैं।

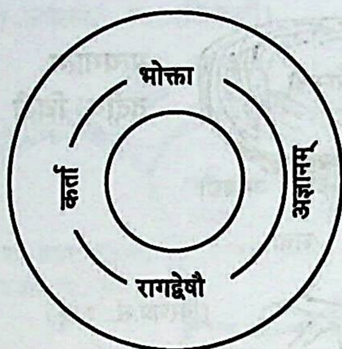
(श्रीमद्भाग. पु. महिषी गी. १०)

प्रत्यगभिन्न आत्मा के सत्त्व मात्र को ही उपजीव्य बनाकर अविद्या उसके चित् स्वरूप को आच्छादित कर देती है। जबकि चित् आनन्द स्वरूप और अनन्त है।

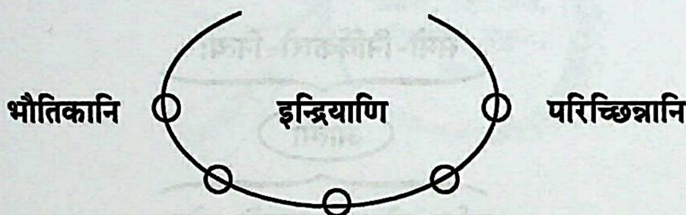
(विवरण प्र. १/१)

आत्मा

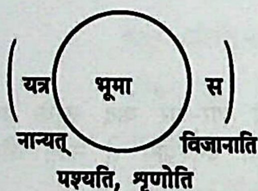
आत्मा सम है ऊँच-नीच आदि विषमता से शून्य है तथा निर्विकार है और नित्य है। अज्ञानवश जीवात्मा राग द्वेष कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि तुच्छ भावनाओं के संयोग से अनात्म धर्मों के साथ तादात्म्यापन्न होने से अपने को विषम-विकासी-अनित्य-कर्त्ता-भोक्ता आदि तुच्छ भावनाओं से युक्त मानता है। इस प्रकार मानना ही अध्यास (भ्रम) है, क्योंकि चित् धातु का अर्थ आनन्द है।



(विवणप्र.सं. १/१)



प्राप्यकारीणि। (विवरणप्र.सं. १/४)

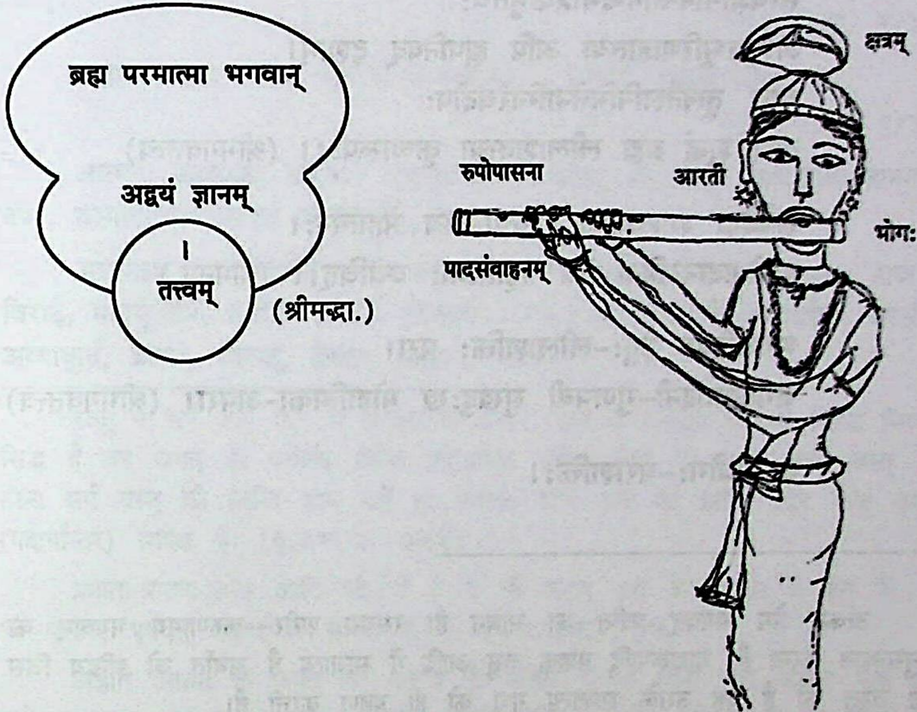


यह संसार चक्र के समान भ्रमीयुक्त है और इसके भ्रमी के संचालक तत्त्व अज्ञान से जन्य राग-द्वेष, कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव है।

पञ्च महाभूतों के सात्त्विक अंश से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुयी। ये पाँच श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-प्राण है और ये परिछिन्न हैं। प्राप्त हुए शब्द-स्पर्श रूप-रस और गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करती है। पाँचों भूतों के रजो अंश से वाक्-प्राणि-पाद-वायु-उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी स्वसमीप प्राप्त वचन-आदान-गमन-विसर्ग आनन्द आदि विषयों को ग्रहण करती हैं। ये इन्द्रियाँ संसार सागर के भँवर (आवर्त) में चक्कर लगवाने वाली मात्र है। यही प्रतीक चित्र द्वारा कहा गया है। (विवरण प्र. १/१-१/४)

यो वै भूमा तत्सुखं नान्ये सुखमस्ति—जिस समय निर्विकल्प समाधि में न कुछ दीखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ जानता है, वही भूमा है वही सुख है।

ज्ञानी–ब्रह्म योगी–परमात्मा भक्तः–भगवान्	जीवगोस्वामीमतम्



ज्ञानी उस तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं, योगी उसको परमात्मा कहते हैं तथा भक्त उसी तत्त्व को भगवान् कहते हैं। (जीव गोस्वामी का मत)

एक ही तत्त्व को ब्रह्म परमात्मा-भगवान्-अद्वयब्रह्म आदि कहते हैं और इसी अर्थ को 'तत्' और 'त्वम्' तथा असि पद द्वारा श्रुति उद्बोधित करती है अथवा इसी ज्ञान तत्त्व का विवेचन भागवतपुराण में है।

रूपोपासना में भगवान् श्रीकृष्ण को छत्र-वासुरी-मोरपंख से मण्डित करना, आरती पूजा करना, भोग प्रसाद अर्पण करना और पाद संवाहन (पैर दबाना) आदि मुख्य रूप से कर्त्तव्य चाकरी (दासभाव) होती है। (श्रीमद्भागवत)

उत्कट प्रेम–भगवत्प्राप्तिसाधनम्।
रसमयदेहः–करुणामयस्यानुसंधानम्।
ग्राह्य–ग्राहके साजात्यनियमः।

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकमूर्तयः
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद् दृशाम्।
यथा तूलतैलनिमित्तेनाग्निरेवदीपः
तथा शुद्धं ब्रह्म लीलाशक्त्या कृष्णरूपः।। (श्रीभगवत्तत्त्व)

सर्वेदेहा शाश्वताश्च, नित्यास्तस्य महात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्।। (वामनपु.)

भगवद्विग्रह हेतुः–लीलाशक्तिः परा।
जगदुत्पादिनी–गुणमयी सुखदुःख मोहात्मिका-अपरा। (श्रीभगवत्तत्त्व)

आत्मयोगः–पराशक्तिः।

उत्कट प्रेम भगवत् प्राप्ति का साधन है। रसमय शरीर—करुणामय भगवान् का अनुसन्धान करना है। ग्राह्यरूपादि ग्राहक चक्षु आदि में साजात्य है अर्थात् जो इन्द्रिय जिस भूत वस्तु की है वह उसके साजात्य गुण को ही ग्रहण करती है।

सत्य-ज्ञान-अनन्त-आनन्द आदि से युक्त जो परमात्मस्वरूप है वे प्राय इन्द्रियों के विषय नहीं है वे भी उपनिषद् रूपी चक्षु वालों को सुलभ है। जैसे रुई और तेल के निमित्त कारण द्वारा अग्नि ही दीपक है। ऐसे ही लीला शक्ति निमित्त कारण के द्वारा शुद्ध ब्रह्म ही कृष्णरूप हुए। (भागवतत्त्व)

उस परमत्मा के सभी शरीर नित्य तथा तथा शाश्वत है। उनमें प्राकृतिक शरीरों की भाँति वृद्धि ह्रास आदि षड् विकार नहीं है। (वामनपु.)

भगवान् के शरीर धारण में भगवान् की परा लीलाशक्ति हेतु है तथा जगद् के उत्पादन में सुख-दुःख मोहात्मक त्रिगुणमयी अपरा प्रकृति कारण है।

जीवात्मा और परमात्मा का जो योग है वही पराशक्ति है। (भगवतत्त्व)

यस्य सिद्धि मृषा तत्स्याद्रज्जु-सर्प-द्विचन्द्रवत्।
पदार्थान्तर सद्भावः; मपेक्ष्यान्यस्य वस्तुनः।।४६४।।
प्रमात्रादीह यत्किंचित्, प्रत्यगज्ञान हेतुजम्।
अन्योऽन्यापेक्ष सिद्धित्वात्, मिथ्या तदपि पूर्ववत्।।

(वृ.उ.भा.वा. १/४)

अज्ञात आत्मा जगतः कारणं न गुणत्रयम्। श्रुतितो युक्तितश्चापि।

(वृ.उ.भा.वा. १/४)

आत्मनः आकाशः संभूतः। एतस्माज्जायते प्राणः, या सर्वज्ञःसर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतन्नामरूपमन्न च जायते। (श्रुतयः)

अष्टामस्थं जगत्पारमार्थिकमिति–भर्तृप्रपञ्चः। अष्टावस्थाः–अव्याकृतं, ईश्वरः, प्राणः, विराट्, पञ्चभूतानि, शरीरं, इन्द्रियं, विषयाः। (न्या.) आनन्दगिरीये–अन्तर्यामी, साक्षी, अव्याकृतं, प्राणः, विराट्, देवता, व्यक्तिः, जातिः।

रज्जु में सर्प और जल में चन्द्रमा के समान (एक में अनेक) जिसकी सिद्धि मिथ्या सिद्ध है वह जगत् है। क्योंकि भ्रान्ति पदार्थान्तर सापेक्ष होता है। यथा—रज्जु वस्तु के विना सर्प वस्तु की भ्रान्ति ज्ञान नहीं हो सकती। अतः सर्प की भ्रान्ति ज्ञान रज्जु वस्तु (पदार्थान्तर) सापेक्ष है। (वृ.उ.भा.वा. ४६४)

प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि जो भी है वे भी प्रत्यग् ब्रह्म के अज्ञान में हेतु हैं। वे भी परस्पर पूर्ववत् पदार्थान्तर सापेक्ष ही है। (वृ.उ.भा.वा. १/४)

अज्ञात आत्मा ही जगत् का कारण है। सांख्य सम्मत तीनों गुण कारण नहीं है। यही एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः इत्यादि श्रुति से तथा युक्तियों से भी सिद्ध है। इसी को आगे सिद्ध कर रहे हैं।

उक्त कथन में श्रुति प्रमाण दिखाते हैं—आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। इस आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुआ। वह आत्मा कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति ने कहा कि—जो सर्वज्ञ है तथा सर्ववेत्ता है जो ज्ञानमय तप वाला है। इसी परब्रह्म से नाम रूपात्मक जगत् और अन्नपानादि की उत्पत्ति हुई। (श्रुति)

आठवीं अवस्था वाला जगत् सत्य है ये भर्तृप्रपञ्च का मत है। उनके मत में जगत् की आठ दशायें अव्याकृत, ईश्वर, प्राण, विराट्, पञ्चमहाभूत, शरीर, इन्द्रियाँ और विषय। (न्या.) आनन्दगिरि के मत में—अन्तर्यामी, साक्षी, अव्याकृत, प्राण, विराट्, देवता, व्यक्ति और जाति ये आठ अवस्थाएँ हैं।

तदपि मिथ्येत्याह—

ईश्वराव्याकृतप्राण, विराड्भूतेन्द्रियादिकम्।
नाविद्योपाश्रयमुक्त्वा, संभाव्यं प्रत्यगात्मनि।।
(वृ.उ.भा.वा. २/४/४८७)

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेत्।
अहं ब्रह्मस्मीति, तस्मात्तत्सर्वमभवत्।। (वृ.उ. १/४)

ब्रह्म-अपरं–इति वृत्तिकारमतम्।
भाविब्रह्मेति भर्तृप्रपञ्च कृन्मतम्।
अविद्यया जीवभावापन्नः–शाङ्करमतम्। यत्प्रविष्टं स्रष्टं ब्रह्म।

त्रिधानवच्छिन्नं वस्तु ब्रह्म, बृंहतेरेवमर्थत्वात्, असति संकोचके संकोचायोगात्। (वार्ति.टी.)

ईश्वर-अव्याकृत-प्राण-विराट्-पंचमहाभूत-इन्द्रिय आदि ये प्रत्यगात्मा के आश्रय में नहीं है, प्रत्युत यह अविद्याश्रय वस्तु है। (वृ.उ.भा.वा. २/४/४८७)

इस सृष्टि के आदि-मध्य और अन्त में भी अर्थात् तीनों काल में आत्मा ही एकमात्र था ऐसा जानो। इसलिए मैं ब्रह्म ही हूँ और यह सम्पूर्ण जगत् भी ब्रह्म ही है।
(वृ.उ. १/४)

जिस ब्रह्म ने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ और तदनन्तर वह सर्व रूप हुआ वह वृत्तिकार के मत में शुद्ध ब्रह्म नहीं अपितु अपर ब्रह्म है। (वृत्तिकारमत)

श्रुति वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' से जिस ब्रह्म बोध होता है, वह भाविब्रह्म है, यह भर्तृप्रपञ्च का मत है।

अविद्या से जो जीवभाव को प्राप्त हुआ वही ब्रह्म मैं हूँ। क्योंकि 'जो मूल प्रकृति (माया) ने जगत् को बनाया उसमें प्रवृष्ट होकर जो सृजन किया' यह श्रुति वाक्य प्रमाण से सिद्ध होता है। ऐसा शंकराचार्य का मत है।

तीनों गुण, तीनों अवस्था, तीनों कालों की उपाधियों से जो रहित वस्तु है वही ब्रह्म है। क्योंकि वृह् धातु का यही अर्थ भी है। वस्तुतस्तु ब्रह्म में संकोच विकास नहीं है। (वार्तिक टी.)

बुद्धतत्त्वस्यलोकोऽयं, जडोन्मत्त पिशाच्वत्। बुद्ध तत्त्वोपिलोकस्य।
(वार्तिकम् १/४/१०)

प्रच्युतिः विपरीता चेष्टा, हेयता। दृष्टान्तत्रयम्। (टी.)



अविचारितसंसिद्धिः, प्रत्यगज्ञानकारणात्।
अब्रह्मेव तदा भाति, मोह संतीत चेतसः।।
प्रत्यक् संबोधविध्वस्त, प्रत्यङ्मोहः परात्मनः।
सम्भावयति संबोधात्, नान्यद्वस्त्वन्तरं यथा।। (वृ.उ.भा. १/४/१०)

यह जगत् जड़ महत्तत्त्व (बुद्धि) द्वारा उत्पन्न उन्मत्त और पिशाच जैसा लगता है। (वार्तिक १/४/१०)

प्रच्युति, विपरीतचेष्टा और हेयता इस स्थल में ये तीन हेतु दृष्टान्त हैं। (टी.)

रम् वह्नि बीज, हम् आकाशबीज, यं वायुबीज, लं पृथिवी बीज तथा नम् जल बीज है। अर्थात् मनुष्य की पाँचों करशाखा (अङ्गुलियाँ) पाँचो तत्त्वमयी हैं।

अविचारित तथ्य का ज्ञान (विपरीत बोध) की सिद्धि (विपरीत ज्ञान) प्रत्यग् चेतन ब्रह्म के ज्ञान न रहने के कारण होता है। इसलिए जगत्प्रपञ्च ब्रह्म भिन्न शरीरादि रूप से समझ में आता है। वह इसलिए होता है कि मोह से आवृत रहने के कारण आत्मा दिखाई नहीं देता है। प्रत्यगात्मागत जो मोह का आवरण है वह प्रत्यगात्मा के अपरोक्ष बोध से ही निवर्तित होता है और जब शरीरादि में आत्मा का बोध है तो वह मोहावृत होने से ब्रह्म स्वरूप से अपरोक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता। इसलिए ब्रह्मबोध के लिए अविद्यक मोह की निवृत्ति आवश्यक है, जो ब्रह्मज्ञान से ही सम्भव हो सकता है। यथा कोई वस्तु



अव्याकृतादि पिण्डान्तं, पर एव त्वविद्यया।
तदात्मत्वं समापेदे, नत्वसौ परमार्थः।।
(वृ.वार्ति. १/४/१०)









प्रत्यग्याथात्म्य विद्याग्नि-, संप्लुष्टाशेषतत्तमः।
ब्रह्मैवात्मानमेवेति, प्रत्यबुध्यत वाक्यतः।।



किसी अन्य वस्तु से ढके होने पर उसके आच्छादक वस्तु के अनावरण से ही उसका प्रत्यक्ष होता है अन्य उपाय से नहीं। (वृ.उ.भा. १/४/१०)

भगवान् नारायण के पाँच आयुध हैं और वे पाँचों आयुध पाँच महाभूत स्वरूप हैं, जिसे क्रमशः अपने अङ्गों में धारण किये हुए रहते हैं। उन आयुधों में चक्र वायु, शंख-आकाश, गदा-अग्नि, अम्भोज-कमलपुष्प, पृथिवी-चरणतल में धारण करते हैं।

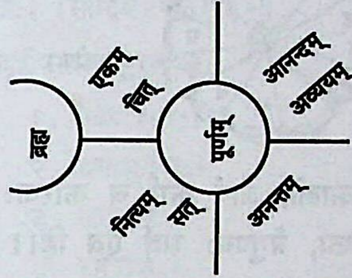
अव्याकृत (मूलप्रकृति) से पिण्डाण्ड पर्यन्त जो सृष्टि है वह अविद्या से पर है और वह जड़ प्रकृति पुरुष के योग से ही आत्मता को प्राप्त करती हैं। इसलिए यह सृष्टि अपने स्वरूपतः परमार्थ सत्य नहीं है। (वृ.वा. १/४/१०)

यह प्राकृतिक सृष्टि प्रत्यगात्मा से याथात्म्य (तादात्म्य) को उसी प्रकार प्राप्त कर जाती है जिस प्रकार लकड़ी में प्रज्वलित अग्नि लकड़ी के स्वरूप को धारण कर एकात्म प्राप्त कर जाती है। परन्तु विवेक पूर्वक चिन्तन-मनन के द्वारा जब अग्नि और लकड़ी का विवेक हो जाता है तो उभय स्वरूप की भिन्नता का बोध होता है। उसी प्रकार श्रुति वाक्य प्रमाण तथा मनन और विवेक के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जानना चाहिये। (वृ.उ.वा. १/४/१०)

अविद्या

अहमेव परं ब्रह्मे; त्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता।
अविद्येति वयं ब्रूमो, येहनास्ति सदात्मनि।। (वृ.भा.वा. १/४/४५७)

सर्वगं सच्चिदानन्दं, ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञान चक्षुर्नेक्षेत, भास्वन्तं भानुमन्धवत्।। (आत्मबोध ६४)



शिवः सर्वो सर्वे शिवः, नास्ति भेदश्च कश्चन।
साहंकारस्तथाजीवः तन्मुक्तः शङ्करः स्वयम्।।
(शिवपु.को.रू.सं. ४३/२३)

तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्व नियमः।
तरङ्गाभिन्न समुद्रस्य तरङ्गाणामपि मिथोऽभेदः।। (भगवत्तत्व रास र.)

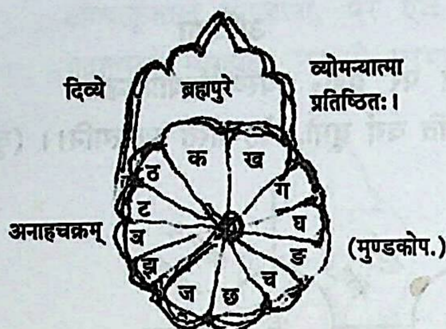
मैं परब्रह्म हूँ। इस यथार्थ बोध की अप्रबोधता को ही हम अविद्या कहते हैं। जो आत्मा में कभी भी नहीं है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/४५७)

जो सर्वगत है देशकाल वस्तु परिच्चेद से शून्य है, व्यापक-अनन्त अन्तर्यामी है और सत्-चित् तथा आनन्दरूप है उसे ज्ञान नेत्र से देखा जा सकता है। अन्धा जैसे देदीप्यमान सूर्य को भी नहीं देख पाता है ऐसे ही अज्ञान नेत्र से परमात्मा को नहीं देखा जा सकता। (आत्मबोध ६४)

ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द-नित्य-अद्वितीय और अव्यय स्वरूप होने से पूर्ण है। प्रतीक चित्र द्वारा ब्रह्म की पूर्णता हेतु को यहाँ बताया गया है।

शिव में सर्वस्वरूप है और सर्वस्वरूप शिव में है। शिव और सृष्टि में कोई भी भेद नहीं है। किन्तु वह शिव अहंकार युक्त होने से जीव और अहंकार मुक्त हो जाने पर स्वयं शिव स्वरूप है। (शिवपु.का.रू.सं. ४३/२३)

जो जिससे अभिन्न होता है वह उससे तादात्म्य स्वरूप वाला होता है यह नियम है। जिस तरह घट मृतिका से अभिन्न होता है। वह मृन्मय ही होता है। जिस प्रकार समुद्र



द्रव्यं देशः फलं कालो, ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्था कृतिर्निष्ठा, त्रैगुण्यः सर्व एव हि।।
येनेमे निर्जिता सौम्य, गुणाजीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठे, मद्भावाय प्रपद्यते।।

(श्रीमद्भा.टी. अन्विता. २/९)

का तरङ्ग से अभेद होता है। जो तरङ्ग है वही समुद्र है और जो समुद्र है वही तरङ्ग है। इसलिए जिससे जो अभिन्न होता है वह वही होता है। यह नियम है। (भगवतत्त्व रा.र.)

जो सर्वत्र और सर्ववित् है और जिसकी वह महिमा विभूति भूर्लोक में स्थित है। ये द्युलोक और भूलोक जिसके शासन द्वारा अपने-अपने आधेयों को धारण किये हुए हैं और जिसके शासन से सूर्य और चन्द्रमा अलात चक्र के समान सदा घूमते रहते हैं और जिसके भय से नदी और समुद्र आदि मर्यादा में रहते हैं। इसी प्रकार जिसके शासन में स्थावर जंगम सभी जगत् भाषित रहता है ऋतु आदि काल चक्र अपने-अपने समय पर यथोचित कार्य करता रहता है। इस प्रकार का वह दिव्य आत्मा हृदय कमल में स्थित ब्रह्मपुर रूपी आकाश में सर्वदा अभिव्यक्त होता है। इसलिए हृदय कमल ही ब्रह्मपुर है। उसमें जो आकाश है वह उस हृदय पुण्डरीकान्तर्गत आकाश में प्रतिष्ठित (स्थित) होता हुआ सा साधकों के द्वार के रूप में उपलब्ध होता है और किसी प्रकार से यह सम्भव नहीं है। (मुण्डकोपनि.)

हे सोम्य द्रव्य-देश काल और उनके तत्तत्फल तथा ज्ञान-कर्म और कर्ता आदि कारक तथा उनकी अवस्थानुसार श्रद्धापूर्वक तत्तद् विधियाँ तथा उनके प्रयत्न एवं निष्ठा ये सब तीनों गुणों का ही परिणाम है। कहा है कि विविधरूप वाली माया के कारण वह विविधरूप

भक्तिर्द्विधा–निर्गुणा, गुणमयी। आद्यया–प्रेमभक्ति संज्ञया-भगवद्वशीकारः, सच्चिदानन्दमयभगवद्रूप गुणलीलामाधुर्यानुभवश्च। द्वितीया–निर्विशेष सुखानुभवमात्रम्।
(श्रीमद्भा.टी. अन्विता.२/९)

समयाचारः–शुभागम पञ्च निरूपितो मार्गः। वशिष्ठ-शुक-सनक-सनन्दन-सनत्कुमारैः प्रदर्शितः। (सौन्दर्य.टी.ल. ३१)

जम्बूद्वीपस्याष्टावुपद्वीपाः–

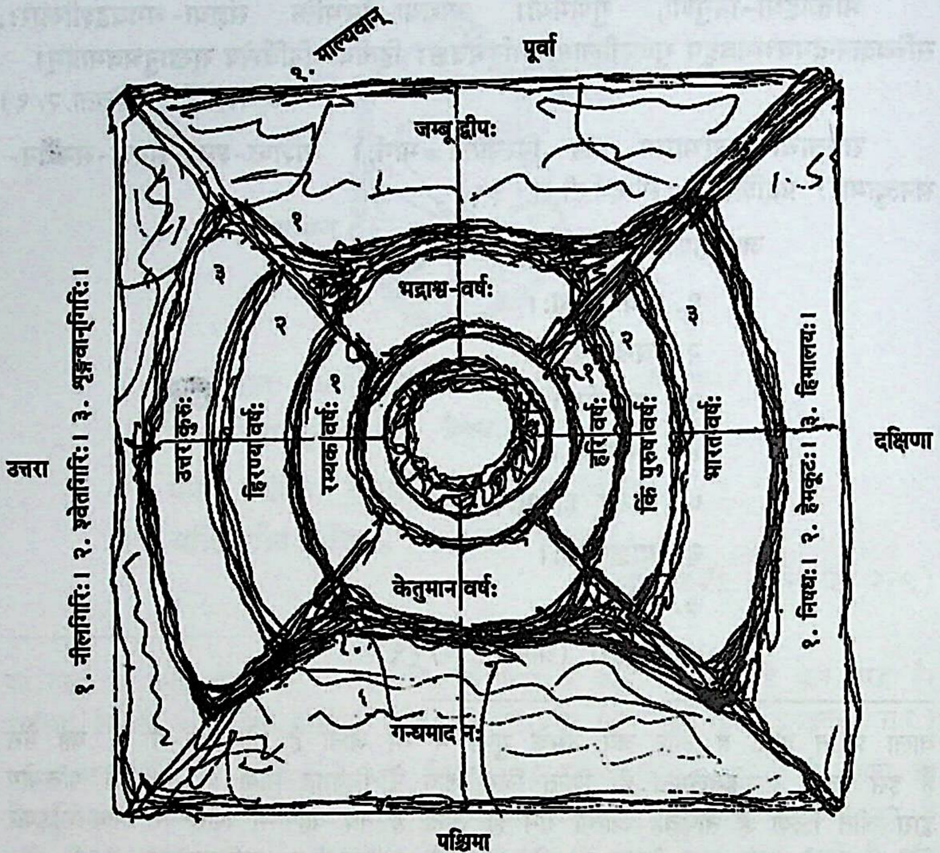
१. स्वर्णप्रस्थः।
२. चन्द्रशुक्लः।
३. आवर्तनः।
४. रमणकः।
५. मन्दर हरिणः।
६. पाञ्चजन्यः।
७. सिंहलः।
८. लङ्का। (श्रीमद्भा. ५/१९)

वाला प्रतीत होता है और जब उसके गुणों में रम जाता है तो—यह मैं हूँ, यह मेरा है इस प्रकार मानने लगता है। किन्तु जिस जीव ने चित्तगत माया के गुण को भक्तियोग द्वारा जीत लिया है तो वह आत्मा राम हो जाता है तव वह—मैं और मेरा भाव छोड़कर मेरे भाव को (श्रीकृष्ण को) प्राप्त हो जाता है। (श्रीमद्भाग.पु. अन्विता टी. २९)

भक्ति दो प्रकार की है—निर्गुणा और गुणमयी। प्रथम प्रेमभक्ति नाम वाली भक्ति से भगवद् वसीकरण होता है और सच्चिदानन्दरूप भगवान् के गुण और लीलाओं का चिन्तन मननादि के द्वारा तद्रूपता आती है तथा भगवान् और उनके सौन्दर्य माधुर्य आदि का अनुभव होता है। दूसरी निर्गुण भक्ति से निर्विशेष सुख का अनुभव मात्र होता है।
(श्रीमद्भा.टी. अन्विता २/९)

वशिष्ट-शुक-सनक-सनन्दन और सनत्कुमार इन पाँचों के द्वारा पवित्र आगमोक्त पाँच मार्ग जो बताये गये हैं उसे समयाचार मार्ग कहते हैं। (सौन्दर्यल.टी. ल. ३१)

जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीप हैं। वे इस प्रकार हैं—१. स्वर्णप्रस्थ, २. चन्द्रशुक्ल, ३. आवर्तन, ४. रमणक, ५. मन्दर हरिण, ६. पाञ्चजन्य, ७. सिंहल और ८. लङ्का।
(श्रीमद्भा. ५/१९)



भूमण्डल के मध्य केन्द्र भाग के पूर्व में भद्राश्व वर्ष, पश्चिम में केतुमान वर्ष, उत्तर में रम्यक वर्ष, दक्षिण में हरिवर्ष है। पूर्व में भद्राश्ववर्ष से आगे पूर्व की ओर जम्बूद्वीप है। पश्चिम में केतुमानवर्ष से आगे दक्षिण भाग में गन्धमादन पर्वत देश है। पश्चिम में रम्यक वर्ष से पश्चिम हिरण्यवर्ष और उससे पश्चिम उत्तर कुरु वर्ष है और उससे पश्चिम क्रमशः दक्षिणतः उत्तरोत्तर नीलगिरि-श्वेतगिरि और शृङ्गवान् गिरि पर्वत देश है। दक्षिण में हरिवर्ष से पूर्व दिशा में किं पुरुषवर्ष और उससे आगे दक्षिण की ओर भारतवर्ष और उसके दिक्षण उत्तरतः दक्षिण क्रमेण निषध-हेमकूट और हिमालय पर्वत देश है। पूर्व में भद्राश्ववर्ष से पूर्व की ओर माल्यवान् पर्वत है। इस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी आठ वर्ष, चार पर्वत और तीन गिरि यहाँ कहे गये हैं।



जडभरतः

कर्म–संन्यास- भोग प्राप्त्यवधि। योगः–सिद्ध्यवधिः। (नापिसार्थदिकता)
सांख्य ज्ञानम्–आत्मज्ञानावधि। ज्ञानम्–मोक्षावधि।

भक्तेस्तु सार्वत्रिकता सार्वदिकता–
न देश नियमस्तत्र, न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति, श्री हरे नाम्नि लुब्धकः।।
तस्मात् सर्वात्मना राजन्, हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च, स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्।।

कर्मि ज्ञानि प्रभृतिषु, भक्तेर्व्याप्तिः–'किरात् हूणा-गृध्र-पुलिन्द-पुलक्साः। सर्वावस्थासु च–गर्भे-प्रह्लादे, वाल्ये-ध्रुवे, योवने-अम्बरीषे, बार्द्धके-ययातौ, मरणे-अजामिले।

(श्रीमद्भा.टी. अन्विता २/९)

प्रतीक चित्र जड़भरत के सम्बन्ध में पुराणों में विस्तृत कथाएँ प्राप्त होते हैं। परन्तु इस प्रतीक का अभिप्राय यह है कि जो योगी शीत, उष्ण तथा मृदु-रूक्ष वचन, मान-अपमान, भूक-प्यास आदि आविद्यक प्रभाव से निर्लिप्त होता है वह जड़भरत हो जाता है। क्योंकि इन्द्रियातीत योगी होने के कारण इन सांसारिक उद्रेकों पर विजय प्राप्त कर विरुद्ध परमात्म को प्राप्त कर पाषाणवत् हो गये थे। उन्हें देश-काल-देह आदि की विस्मृति हो गई थी।

भोग पर्यन्त कर्म सन्यास की मर्यादा है। सिद्धिपर्यन्त योग की मर्यादा है। आत्मज्ञान पर्यन्त ही सांख्यज्ञान की मर्यादा है और मोक्ष पर्यन्त ही ज्ञान की मर्यादा है।

भक्ति तो सभी काल में, सभी देश में हो सकती है, उसमें देश का, काल का, अधिकारी का, वर्ण व्यवस्था का कोई नियम नहीं है। उसका उच्छिष्ट आदि में निषेध नहीं है। इसलिए हे राजन्! उस भगवान् का भक्तिपूर्वक स्मरण-कीर्तन-श्रवण-मनन-सेवादि द्वारा अनुष्ठान करना चाहिए। यह भक्ति-कर्म-सांख्य-योग आदि सबसे-व्यापक है। आत्मोद्धारिका है। किरात, हूण, गृध्र, पुलिन्द और पुलक्स—आदि अधम जाति वाले भी इससे पवित्र हुए।

भक्ति की सर्वत्र गति दिखाते हैं—प्रह्लाद को गर्भ में ही भक्ति प्राप्त हुई। ध्रुव को अयोग्यावस्था अर्थात् बालकपन में ही भक्ति प्राप्त हुई। राजा अम्बरीष को यौवन अवस्था में भक्ति प्राप्त हुई। ययाति को बुढ़ापे में भक्ति प्राप्त हुई। अजमिल को मरते समय और भक्ति प्राप्त हुयी। ..(श्रीमद्भाग. अन्विता २/९)

माया त्रिविधा–१. प्रधानम्, २. अविद्या, ३. विद्या च।

१. उपाधि सृष्टिः, ते च सत्याः। २. अविद्यया जातेषु तदध्यासः सृष्टः, स चासत्यः। ३. विद्ययाऽध्यासध्वंसः क्रियते।

कार्यं प्राधानिकं सत्यं कार्यमाविद्यकं मृषा।
नित्यं तद्भक्ति संबद्धं, इदं तत्त्रितयात्मकम्।।
चिज्जीव माया नित्याः स्युः, त्रिस्रः कृष्णस्य शक्तयः।
(श्रीमद्भा.टी. अन्विता. २/९)

मत्स्नेहः मदायनः।
नित्ययुजां दुरापं भावमापुः–गोप्यः।
अहं हिं सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं वहिः। मयिभक्तिरमृतत्वाय कल्पते।

कर्कशा कलहा कृत्या, बन्ध्या नित्यममङ्गला।
त्यज्यतां कामना चण्डी, भुज्यतां मुक्ति सुन्दरी।।
(बोधसारः उपदे. १६)

माया तीन प्रकार की है—प्रधान, अविद्या और विद्या।

उपाधि सृष्टि सत्य हैं। भगवान् ने अविद्या से अनात्म पदार्थों में अध्यास का सृजन किया वह अध्यास असत्य है। भगवान् विद्या से अध्यास का नाश करते हैं।

प्राधानिक कार्य पंचभूतादि सत्य है और उसके कार्य इन्द्रियादिक सहित शरीर आविद्यक होने से मिथ्या है। परन्तु वे प्राधानिक त्रिगुणात्मक असत्कार्य भी भक्ति से सम्बद्ध होने पर नित्य वस्तु हो जाते हैं। चित्-जीव और माया ये तीनों भगवान् श्रीकृष्ण की शक्तियाँ हैं। (श्रीमद्भा.अन्विता. २/९)

जिनका मुझसे ही स्नेह है वही स्नेह मेरा आवास है।

भक्ति रस को पीकर परमात्मा श्रीकृष्ण से सम्बद्ध गोपियाँ मद्यपीभाव को प्राप्त हो गयी। जैसे मद्यप (शराब पीने वाला) विना मद्य (शराव) पीये नहीं रह सकता (जी सकता) उसी भाव (स्वभाव-आदत) को गोपियाँ प्राप्त हो गयी।

भगवान् ने कहा कि मैं सभी प्राणियों के आदि-अन्त-बाहर-भीतर हूँ। अतः जो मेरे में ही भक्ति करता है वह मोक्षरूप अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

यह कामनारूपी जो स्त्री है वह चण्डी है और बड़ी कर्कशा है तथा कलह करने वाली है। ये कृत्या है और ये बन्ध्या भी है एवं जब तक यह रहेगी तब तक आपको

श्रुति- { ऊढाः-अन्यपरा-इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा
गोप्यः { अनूढाः-अनन्यपरा-सत्यं ज्ञानयनन्तं ब्रह्म

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। (भगवत्तत्व रा.र.)



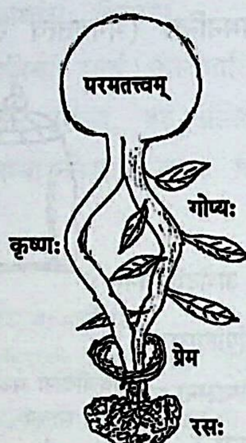
माङ्गलिक सुशोभित वस्तु नहीं मिलेगी। अतः इसे छोड़ो और मुक्ति रूपी सुन्दरी का उपभोग करो।

भगवान् श्रीकृष्ण की रासलीला में सम्मिलित सभी गोपियाँ श्रुति (वेद) के मन्त्र हैं। जो अन्याश्रित होती है वह रूढ्ढानायिका है। अर्थात् जिस श्रुति मन्त्र का अर्थ अन्यापेक्षित हो वह रूढाश्रुति (गोपी) है। इसके लिए उदाहरण है 'इन्दो यातोऽवसितस्य राजा' इन्द्र अवसित देश विशेष के राजा हुए। जो श्रुति मन्त्र अन्यय पर अर्थात् अपने स्वार्थ को मात्र ग्रहणकरती है वह अनूढ़ा श्रुति (गोपी) है यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सत्य-ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। इसी प्रकार 'सर्वे वेदा यत्पदमानन्ति' सभी वेद जिसके पद की स्तुति करते हैं यह उदाहरण है। (भगवतत्त्व रा.र.)

भगवद्भक्ति मार्ग के उपासकों के लिए क्रमोपासना इस प्रकार है—सकाम कर्म द्वारा भगवान् की उपासना करना, यह भगवद्भक्ति का प्रथम सोपान है। द्वितीय सोपान में साधक भक्त निष्काम कर्म के अनुष्ठान करते हैं। तृतीय सोपान में सगुणोपासना पद्धति का आश्रय लिया जाता है। चतुर्थ सोपान के साधकभक्त निर्गुणोपासना का अनुष्ठान करते हैं और पंचम

अन्य पूर्विका त्वं तु सर्वात्मकत्वनिश्चयात्पूर्वमेव। (भगवत्तत्त्व रा.र.)

प्रपञ्चरचनायां द्वौ हेतू-१. भगवल्लीला। २. जीवकल्याणसाधनाप्तिः।



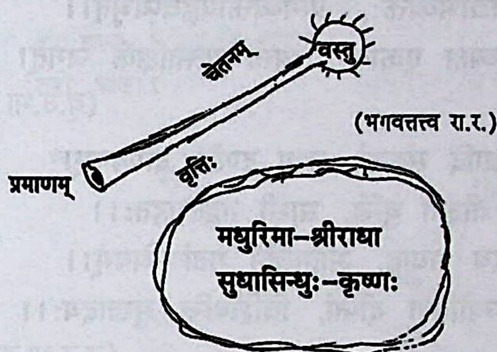
सोपान के भक्त साधकभक्त और भगवान् के अभेद (अभिन्नता) का चिन्तन करते हैं अर्थात् आत्मा-परमात्मा का अपरोक्ष ऐक्यानुभव चिन्तन द्वारा प्राप्त करते हैं। इसलिए कहा है कि सभी जीवों की यथा-योग्य साधन की व्यवस्था सम्पादन के लिए भगवान् स्वयं प्रपञ्चाकार (जगदाकार) रूप से परिणति हो जाते हैं। यही उस भगवान् (परमात्मा) की प्राप्ति का क्रम है। (भगवतत्त्व रा.र.)

अन्य पूर्विका बुद्धि त्वम् (तुम) है और जब वह बुद्धि सर्वात्मिक निश्चय (सब मैं ही हूँ ऐसा निश्चय) कर लेता है तो उस निश्चय से पूर्व में त्वम् पद वाच्य जो आत्मा था वही तो रहता है। तत्त्वमसि वाक्य से आत्मा-परमात्मा का विवक्षित ऐक्य होने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। त्वम् (एकदेशीय) सर्वात्मक बुद्धि से सर्वात्मक (सर्वदेशीय) बुद्धि होती है पदार्थ तो मात्र ज्यों का त्यों रहता है। (भगवत्तत्व रा.र.)

भगवान् द्वारा प्रपञ्च की रचना में दो हेतु हैं—१. भगवत् लीला और २. जीव के कल्याण के लिए साधन संग्रह।

परमात्मा को प्राप्त करने के दो मार्ग हैं—१. ज्ञानयोग (ज्ञानमार्ग) और २. भक्तियोग (भक्ति मार्ग) इस मौलिक विचार को ध्यान में रखकर यहाँ भक्तिमार्ग को आश्रय करके कहते हैं—परमतत्त्व मूलकन्दबीज है वह कन्दबीज भक्तिरूपी जल से अभिषिञ्चित होने पर अंकुरित होते हैं और अनन्तर शाखाएँ होती हैं। प्राय: लोक में अंकुर से ऊपर की ओर शाखा का प्रस्फुटन होता है; परन्तु परमात्मा तो 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थ:प्राहुरव्ययम्'। (गीता) ऊर्ध्वमूल और अधः (नीचे) शाखा वाले हैं। अत: उनकी दो शाखाएँ हैं एक कृष्ण (ब्रह्मत्त्व)

योगमाया–योगाय-संश्लाय, माया-कृपा। माया–कृपायां दम्भे च, कोशः।



शाखा और दूसरी प्रकृति (गोपी) शाखा। ब्रह्म (कृष्ण) शाखा निरवयव (अशीरी) होने के कारण सूक्ष्म है और अव्यक्त है जिसका दर्शन ज्ञान नेत्र से ही सम्भव है और अमृत स्वरूप भी है। इन दोनों शाखा का मिलन भक्तियोग द्वारा गोपियाँ करती हैं और प्रेम रूपी रस्सी से बाँध कर उसे मथकर उसमें रस को निकालती है। इसलिये इसे प्रेम रस कहते हैं। उसमें ब्रह्म तत्त्व की प्रधानता होती है अर्थात् अमृतत्त्व की प्रधानता होती है, अतः इसे अमृततत्त्व भी कहते हैं। उस प्रेमरस अथवा अमृतत्त्व का पान कर जीवात्मा मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण परमात्मा है और गोपियाँ जीवात्मा हैं; दोनों का मिलन ही मोक्ष है और वह प्रेमाभक्ति की युक्तियों अथात् मन्थन (मननादि) से ही प्राप्त होता है अथवा भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानधारा के हैं, 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' परमात्मा (ब्रह्म) सत्य-ज्ञान और अनन्त स्वरूप है यह श्रुति वाक्य है। गोपियाँ भक्तिधारा की हैं यह प्रसिद्ध ही है और ज्ञान तथा भक्ति के योग से ही आनन्द रस का आस्वाद सम्भव है। यही प्रतीक चित्र का अभिप्राय है।

योगमाया का अर्थ—योग के लिये अर्थात् भगवान् से सम्बन्ध के लिए जो माया है वही योगमाया है। माया का अर्थ कृपा होता है। अतः योगमाया का निर्गलितार्थ भगवान् से सम्बन्ध कराने के लिए जो भगवत्कृपा होती है, वही योगमाया है। शब्दकोष में माया-कृपा-दम्भ पर्यायवायी है।

चक्षुरेन्द्रिय प्रमाण है और अन्तःकरण का द्वार भी है। अन्तःकरण की चित्तवृत्ति जिसे प्रमाण वृत्ति कहते हैं चक्षु इन्द्रिय से वहिर्भूत होकर विषय (वस्तु) देश पर जाती है। उस समय उस अन्तःकरण से विनिर्गत चित्तवृत्ति पर चेतन आरूढ़ होता है। विषय देश पर पहुँच कर वह वृत्यवच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता है और विषय

इदं जगन्नियन्त्रादि, विभिन्नानेकरूपवत्।
नानारूपाद्यभिव्यक्तेः, प्रागव्यक्तापह्नवेप्यभूत्।।
अव्यक्ताध्यक्ष एकाकी, व्यक्तं यत्साक्षिकं जगत्।
(वृ.उ.भा.वा. १/४/५२)

सुखदुःखादि संबद्धां, यथा दण्डेन दण्डिनम्।
राधको वीक्षते बुद्धिं, साक्षी तद्वदसंहतः।।
शरीरेन्द्रिय संघात, आत्मत्वेन गतां धियम्।।
नित्यात्मज्योतिषा दीप्तां, विशिंषन्ति सुखादयः।।
(वृ.उ.भा.वा. १/४/५२०)

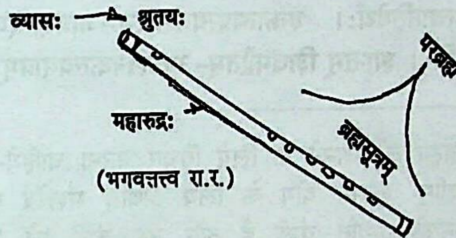
(वस्तु) का प्रत्यक्ष होता है यथा 'अयं घटः' यह घट वस्तु है इत्याकारक वस्तुबोध उत्पन्न होता है। यही प्रतीक चित्र का अभिप्राय है। (भगवत्त.रा.र.)

श्रीकृष्ण सुधासिन्दु (अमृतमय सागर) हैं और श्रीराधा जी उस अमृतमय जल में स्थित मधुरिमा (मिठास) हैं। इस प्रकार हम सोचने को वाध्य हैं कि श्रीकृष्ण लीला चरित्र के श्रवण-मनन-कीर्तन-भजन आदि में यदि राधा तत्त्व नहीं है तो मधुरता रहित होने पर ग्राह्य होना कठिन होगा। क्योंकि जीव अज्ञानी होता है इसलिये उसे बाल (बालक) कहा जाता है और बालक नीम की कडुवी पत्ती को खाना पसन्द नहीं करता, प्रत्युत मीठा ही पसन्द करता है। यही भाव प्रतीक चित्र द्वारा प्रदर्शित है। (भगवतत्तत्व रा.र.)

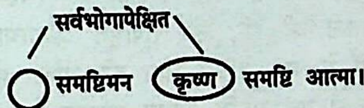
यह जगनियन्तृत्व आदि विभिन्न धर्म वाला जो परमात्मा का रूप है वह अनेक रूप और नाम के रूप में उनकी अभिव्यक्ति की प्रतीति के कारण ही ऐसा प्रतीत हो रहा है। लेकिन वे इन नाम और रूपों में अभिव्यक्ति से पूर्व की स्थिति में तो अव्यक्त (सूक्ष्म) एकाकी ही हैं और व्यक्त रूप में वे साक्षिक (प्रत्यक्ष) जगत् रूप में दीखते हैं।
(व.उ.भा.वा. १/४/५२)

जैसे दण्ड विशेषण से दण्डी पुरुष को देखते हैं ऐसे ही आत्मबुद्धि से मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, सुख दुःख विशेषण से युक्त होकर तादात्म्याध्यास द्वारा सम्बद्ध आत्मा की प्रतीति होती है। वस्तुतः जैसे दण्ड से दण्डी पृथक् है, उसी प्रकार सुख दुःखादियों से भी साक्षी पृथक् है वह किसी से भी संयुक्त नहीं है। किन्तु शरीर के धर्मों का जब आत्मा में आरोप करता है, जैसे—मैं मोटा हूँ, कृश हूँ तो वह शरीर में ही अध्यस्त बुद्धि के कारण वैसा अनुभव करता है। इस प्रकार नित्य आत्म ज्योति से प्रकाशित और विशेषित होकर ऐक्य रूप से वह दुःखादि प्रतीतिजनक हो जाते हैं। (वृ.उ.भा.वा. १/४/५२०)

बाल्ये } केलिकिलः सर्वः,
चण्डतमः
तत्र यत्न- } मुह्यति मानवः।
तरो भव।। (हरिवंशपु.वि.प. ५/१०)



योगमायामुपाश्रित–योगाय-संश्लेषाय, मायः-शब्दो यस्यां तां-वंशीम्।



कृष्णमेनमवेहि त्व; मात्मानं सकलात्मनाम्। व्यष्टि अभिमान-पुण्य-पाप-भागी।
(श्रीमद्भा.)

बालकपन में क्रीडासक्त रहता है तथा यौवन में कामदेव के प्रचण्ड वाण से घायल काम मोहित होकर अन्धा हो जाता है तथा वार्धक्य में पुत्र-पौत्रादि के मोह पाश में ग्रस्त होकर उनके व्यङ्ग वाणों से विध कर पीड़ा पाता है। इसलिए जीवात्मा को इन दुःखों से निवृत्ति के लिए मात्र आत्मोद्धार का चिन्तन करते हुए सुरदुर्लभ मानव तन का उपयोग करना चाहिये। (हरिवंश पु.वि.प. ५/१०)

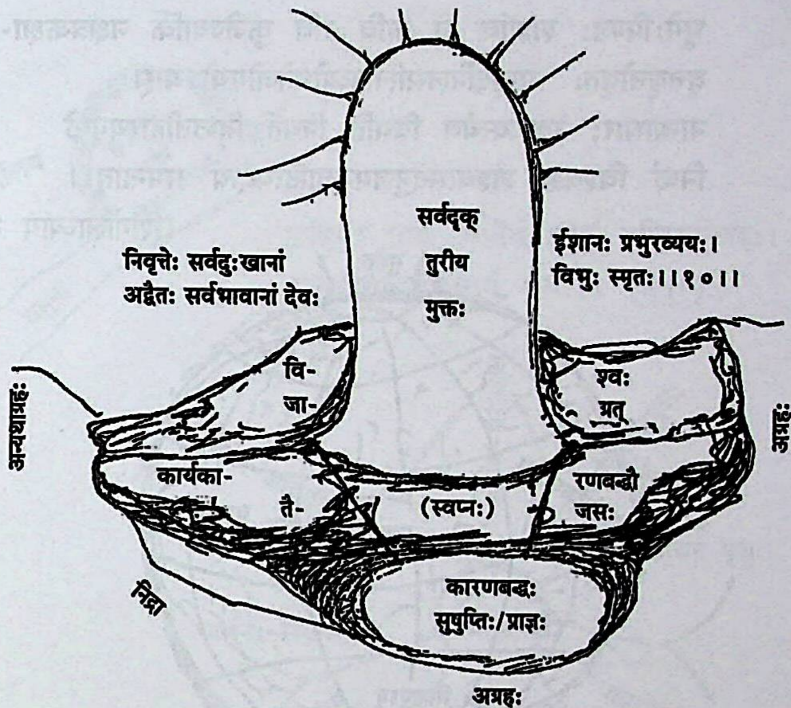
वंशी (वासुरी) के प्रतीक चित्र के माध्यम से जो आध्यात्मिक तथ्य कहे जा रहे हैं, वे इस प्रकार जानना चाहिये—भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं और उनके द्वारा वंशीधारण और वादन एक रहस्यमय तथ्य है। वंशी में जो सात छिद्र हैं वे श्रुतिमन्त्र के सातों स्वर हैं तथा वंशी के अग्रभाग के छिद्र (मुँह) का जो व्यास वही ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास जी हैं। अथवा व्यास (विस्तार) ही श्रुतियाँ (वेद) हैं। भगवान् के द्वारा दोनों हाथों से वंशी को पकड़ना ब्रह्मसूत्र है अथवा छिद्र में अङ्गुलियों के स्थापनपूर्वक मुख के वायु प्रक्षेप द्वारा ध्वनन ब्रह्मसूत्र के मन्त्र और वंशी के तल भाग महारूद्र है। (भगवत्तत्व रा.र.)

भगवान् श्रीकृष्ण ने महारासलीला का मञ्चन योगमाया को आश्रय करके किये थे।

तुरीय आत्मा–माण्डूक्योपनिषद्।।०७।। नान्तः यज्ञम्–तैजस प्रतिषेधः। न वहिः प्रज्ञम्–विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञम्–जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनम्–सुषुप्तिप्रतिषेधः। न प्रज्ञम्–युगपत्सर्व विषयविज्ञातृत्वप्रतिषेधः। नाप्रज्ञम्–अचैतन्य प्रतिषेधः। अदृश्यम्–विषयत्वप्रतिषेधः। अव्यवहार्यम्–व्यवहारविषयत्वप्रतिषेधः। अग्राह्यम्–कर्मेन्द्रिय ग्राह्यत्वप्रतिषेधः। अलक्षणम्–अनुमानविषयत्वप्रतिषेधः। अचिन्त्यम्–चित्रविषयत्वप्रतिषेधः। अव्यपदेश्यम्–शब्दविषयत्वप्रतिषेधः। एकात्मप्रत्ययसारम्–जाग्रदादिष्ववस्थासु ऐक्यम्। प्रपञ्चोशमम्–प्रपञ्चबाधावधिः। शान्तम् शिवमद्वैतम्–अकलनकल्यमात्रम्।

योगमाया क्या है? इस रहस्य को जानने के लिये विचार करना चाहिये—'योगाय संश्लेषाय, माय:-शब्दो यस्यां तां वंशीम्' जिसमें योग के लिये अर्थात् संश्लेष करने के लिये शब्द किया जाता है वह योगमाया अर्थात् वंशी है और उस वंशी को आश्रय करके उन्होंने लीला की। किसके साथ संश्लेष के लिये वंशी धारण किया? अपने उन भक्त-तपस्वी-अनन्यप्रेमी गोपी-गोपों के लिए, जिसने कई जन्मों से आराधना कर प्रभु (परमात्मा) श्रीकृष्ण से योग (सम्बन्ध) के लिये बारम्बार याचना की थी, उन तपोभूत जीवात्माओं के लिए। क्योंकि श्रीकृष्ण सर्वभोगापेक्षित अर्थात् सभी के मन में जो भोग की अपेक्षा होती है उसको जानते हैं और समष्टि मन श्रीकृष्ण का मन है एवं समष्टि आत्मा श्रीकृष्ण हैं। अत: सर्वात्मना तथा समष्टि मनसा वही-कर्ता एवं भोक्ता भी है। इसलिए भागवत में कहा—हे गोपियों! इस कृष्ण को तुमलोग प्राप्त करो जो श्रीकृष्ण आत्मारूप से सभी के हृदय में विराज रहे हैं अर्थात् आत्मा के व्यष्टिभाव को त्याग दो और समष्टिभाव (श्रीकृष्णभाव) को प्राप्त करो क्योंकि व्यष्टि का अभिमान ही कृतकर्म के पाप-पुण्य का भागी होता है समष्टि अभिमान तो मोक्ष स्वरूप है। (श्रीमद्भाग.)

माण्डूक्योपनिषद् के सातवें मन्त्र में तुरीय आत्मा का लक्षण (स्वरूप) का निराकरण किया गया है। वह तुरीय ब्रह्म क्या है? सो कहते हैं—नान्तः प्रज्ञम् = जो अन्त: (भीतर) की ओर प्रज्ञावाला नहीं है, इससे तैजस का प्रतिषेध किया गया है। न वहिः प्रज्ञम् = जो बाहर की ओर प्रज्ञावाला नहीं है, इससे विश्व का प्रतिषेध किया है। नोभयत: प्रज्ञम् = जो बाहर-भीतर उभयत: प्रज्ञावाला नहीं है, इससे जाग्रत् और स्वप्न दोनों के अन्तराल अवस्था का प्रतिषेध है। न प्रज्ञानघनम् = जो प्रज्ञानघन नहीं है, इससे सुषुप्ति अवस्था का प्रतिषेध है। न प्रज्ञम् = जो जानने वाला नहीं है। इससे एक साथ सर्वविज्ञातृत्व का निषेध किया गया है। नाप्रज्ञम् = जो नहीं जानने वाला है, इस वाक्य से अचैतन्य का प्रतिषेध है। अदृश्यम् = जो देखा नहीं गया हो, इससे विषयत्व का प्रतिषेध है। अव्यवहार्यम् = जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है, इससे व्यवहार विषयत्व का प्रतिषेध किया गया है। अग्राह्यम् = जो ग्रहण (पकड़ने) में नहीं आ सकता, इससे कर्मेन्द्रिय ग्राह्यत्व का



प्रतिषेध है। अलक्षणम् = जिसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है, इससे अनुमान विषयत्व का प्रतिषेध किया गया है। अचिन्त्यम् = जो चिन्तन करने में नहीं आ सकता, इससे चित्त विषयत्व का प्रतिषेध है। अव्यपदेश्यम् = जो कहने में नहीं आ सकता, इस पद से शब्द विषयत्व का प्रतिषेध है। कहते हैं तो फिर वह तुरीय आत्मा कौन और कैसा है? इसका उत्तर इस प्रकार है—एकात्मप्रत्ययसारम् = एकमात्र आत्म सत्ता की प्राप्ति ही जिसका सार (निचोड़-प्रमाण) है। प्रपञ्चोपशमम् = जिसमें प्रपञ्च का सर्वथा अभाव है। इससे प्रपञ्च बाधावधि कहा गया है। ऐसा शान्तम् शिवमद्वैतम् = सर्वथा शान्त स्वभाव वाला कल्याणमय वह तुरीय आत्मा है। इससे अकलन कल्यमात्र वह तुरीयात्मा है कहा गया है।

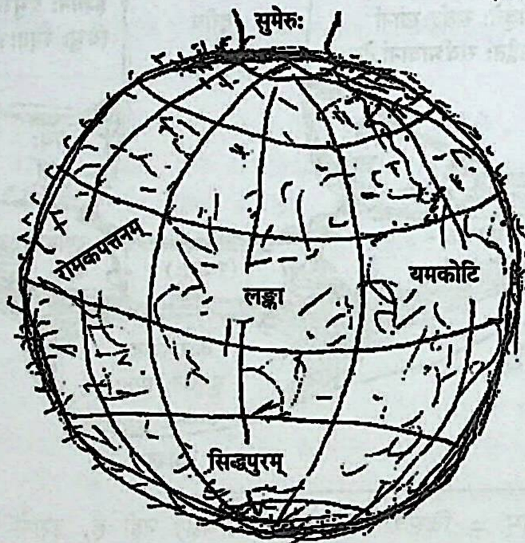
(माण्डूक्योपनिषद् ७)

तुरीय आत्मा सब प्रकार के दुःखों की समाप्ति में समर्थ है। वह अतिकारी सब पदार्थों का अद्वैतरूपदेव तथा तुरीय और व्यापक माना गया है। विश्व और तैजस ये दोनों कार्य और कारण अवस्था से बंधे माने जाते हैं। किन्तु प्राज्ञ केवल कारणावस्था से ही वद्ध है और तुरीय ये दोनों अवस्थायें नहीं है वह ईशान-प्रभु-अव्यय-विभु है जो सभी दुःखों के निवृत्त होने पर सभी भाववस्तुओं में अद्वितीय देवरूप में ग्रहण योग्य हैं।

(माण्डूक्योपनि.का. १०-११)

भूमेःपिण्डः शशांक ज्ञ कवि रवि कुजेज्यार्कि नक्षत्रकक्षा-
वृत्तवृत्तोवृतः सन्मृदनिलसलिलव्योमतेजोमयोऽयम्।
नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठतीहास्यपृष्ठे
निष्ठं विश्वञ्च शश्वत्सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात्।।

(शिगोलाध्याय २/२)



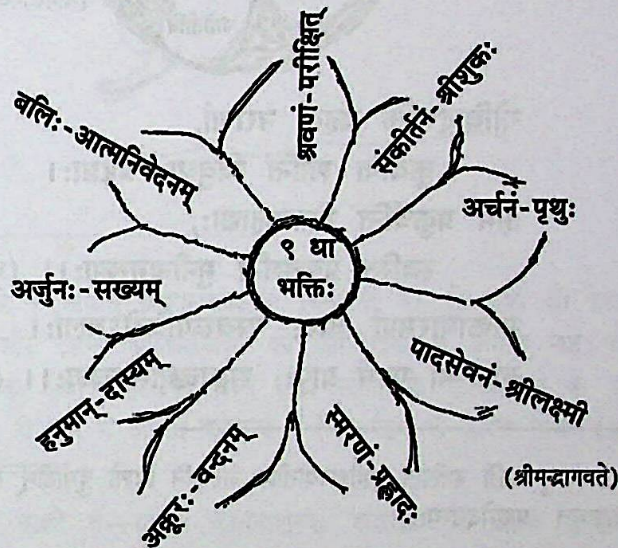
आकृष्टिशक्तिः। भूरचला, स्वभावतः।

भूमण्डल की कक्षा में जो चन्द्र-गुरू-रवि-मंगल-बुद्ध और शनि आदि ग्रहगण स्थित हैं वे नक्षत्र कक्षाओं से स्वयं में आवृत्त (बद्ध) हैं इसमें कोई और हेतु नहीं है। इसी तरह वे नक्षत्र मण्डल स्वयं के वृत्त से आवृत्त होकर-मृद् (पृथिवी) वायु-जल-व्योम और तेजोमय भी है। इनके कोई आधार नहीं हैं प्रत्युत् ये स्वकीय शक्ति से ही आकाश में नियत स्थानों में स्थित हैं और दनुज, मनुज, आदित्य और दैत्य गणों को वे अपने पृष्ठ पर निरन्तर धारण किये रहते हैं। (शिगोलाध्याय २/२)

यह भूमण्डल का प्रीतक चित्र पूर्व में कहे गये ब्रह्माण्डगत नक्षत्रादिकों के स्व-महम्नि स्थित होने को सुस्पष्ट करने के लिए दिया गया है। इसमें ऊपर सुमेरु पर्वत मध्य में क्रमशः सोमपत्तन-लंका और यमकोटि है। नीचे सिद्धगणों का लोक है। इन लोकों के अपनी कक्षा में बने रहने का कारण स्वयं की आकृष्टि (आकर्षण) शक्ति ही कारण है। भूमि स्वभावतः ही अचल है।



अहिंसा सत्यं अस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रहः।
सामासिकश्चातुर्वर्ण्य धर्मः।। (मनुस्मृ.)

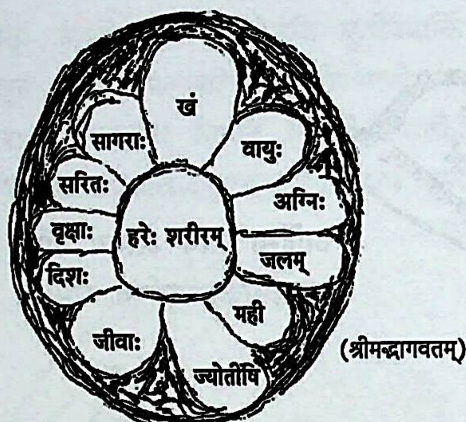


(श्रीमद्भागवते)

यमुना देव नदी में एक उत्तम ह्रद (विस्तृत तालाब) है, जिसमें कालिय नाग रहता था। उसी कालिय नाग का भागवान् श्रीकृष्ण ने दमन किया था इसलिए उसे कालियदह कहते हैं। वह कालियदह एक योजन विस्तृत था।

अहिंसा, सत्य-अस्तेय, शौच और इन्द्रियों का संयम ये चारों वर्णों के समान्य धर्म हैं।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मानिवेदन ये नव भक्तियाँ हैं। इनमें श्रवण भक्ति के उदाहरण राजा परिक्षित हैं। संकीर्तन भक्ति के श्री शुकदेव, स्मरण भक्ति के प्रह्लाद, पादसेवन की लक्ष्मीजी, अर्चन के पृथु तथा वन्दन के अक्रूर, दास्य भक्ति के हनुमान्, सख्य के अर्जुन और आत्मनिवेदन अर्थात् सर्वसमर्पण के बलिराजा उदाहरण हैं।



गोविन्दभक्तिं वहतां नराणां,
कुर्वन्ति शान्तिं विवुधाः प्रहृष्टाः।
क्षेमं प्रकुर्वन्ति पितामहाद्याः,
स्वस्ति प्रयच्छन्ति मुनीन्द्रमुख्याः।। (पद्मपुराणम्)

मत्कामारमणं जार, मस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः, सङ्गाच्छतसहस्रशः।। (श्री.भा.पु.)

खं वायु अग्निं सलिलं महीश्चज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् सरित् समुद्राश्च हरेः शरीरं यत् किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः।

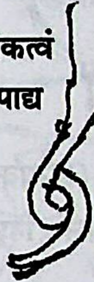
आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, प्रकाश, सभी जातियाँ दिशा वृक्षादि, नदी और समुद्र तथा और जो भी है सब श्री हरि के शरीर हैं। अतः इन्हें अनन्य भाव से प्रणाम करें। इन्हें हरि ही मानें।

श्री गोविन्द की भक्ति को धारण करने वाले मनुष्यों को देवतागण प्रसन्न होकर शान्ति प्रदान करते हैं, पितामह-प्रपितामह आदि पितृगण क्षेम प्रदान करते हैं एवं मुख्य मुनीन्द्रवृन्द मंगल प्रदान करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—ये गोपियाँ मेरी हैं और मैं (श्रीकृष्ण) इनका हूँ। क्योंकि ये गोपियाँ स्वशरीरात्मबुद्धि से रहित हैं इन्हें अपने शरीर में निष्ठा नहीं रह गयी है, प्रत्युत् यह परमात्मा श्रीकृष्ण में निष्ठा रखती हैं इसलिए यह अबला हैं। ये अपने शरीरात्मबुद्धि से भी रहित हो चुकी है और यह उत्कृष्ट और व्यापक जो ब्रह्म है उसके आकार की

मम इमाः–मत्काः। अबलाः–आत्मनिष्ठादार्ढ्यशून्याः। अस्वरूपविदः–आत्मज्ञानविधुराः। ब्रह्म मां परमं प्रापुः–परा-उत्कृष्टा-राधा-मा यस्य। मारमणं–मायां-ब्रह्माकारप्रभायां-रमणं यस्य। जारम्–जरयति काम वासनां यः-तम्। सङ्गात्–सत्सङ्गात्।।

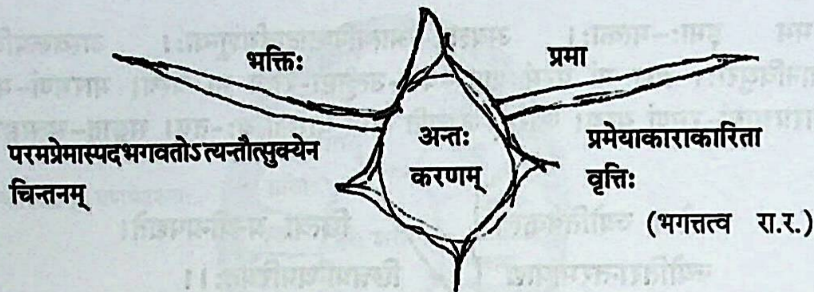
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन्प्रपद्यते।
ज्योतिरान्तरमापाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः।।
अहंकार चिदात्मनो; स्तादात्म्याध्यासो ग्रन्थिः।।



चित्तवृत्ति वाली हो चुकी है अर्थात् ब्रह्माकाराकारित चित्तवृत्ति की हो चुकी है। इसके ज्ञान ब्रह्माकार प्रमावाली है और इसने कामवासनाओं को जार दिया है अर्थात् नष्ट कर दिया है और यह सब सत्सङ्ग अर्थात् हरिचर्चा करने वाले लोगों के साथ सङ्ग के प्रभाव से इन्हें प्राप्त हुआ है। अतः ये और मैं अभिन्न ब्रह्मभाव में निष्ठ रहने के कारण अभेद (अद्वितीय) भाव को प्राप्त हैं। (श्रीमद्भाग.)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—सकल कामनाशून्य, शरीरादि में आत्म निष्ठा रहित, स्वज्ञान बोध शून्य, उत्कृष्ट पराशक्ति सम्पन्न, ब्रह्माकार प्रमा में रमण करने वाले जिसने सम्पूर्ण काम वासना को जीर्ण कर दिया है ऐसे अद्वितीय निरञ्जन परमात्मा-ब्रह्म को ये गोपियाँ सत्सङ्ग से प्राप्त कर गयी है। अर्थात् मुझ श्रीकृष्ण और इन गोपियों में जीवात्मना-परमात्मना भेद शून्यता हो गयी है। अतः जो मैं हूँ वही ये गोपियाँ हैं और जो गोपियाँ है वही मैं हूँ। (श्रीमद्भाग.)

जीवात्मा को आत्म-परमात्मैक्य ज्ञान का अभाव होता है अर्थात् अहंकार और चिदात्मा का तादात्म्याध्यास होता है जिसे अज्ञान ग्रन्थि (गांठ) कहते हैं। उस ग्रन्थि से मुक्त होने के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म ही हूँ इत्याकारक आत्मा-परमात्मैक्य रूपी ज्योति (विज्ञान) उस ग्रन्थि का छेदन (खोलने-नाश करने) करने पर अन्तरात्मा में ब्रह्माकार ज्योति (ज्ञान) उत्पन्न हो जाता है जिससे ग्रन्थि च्छेदन और ब्रह्मज्ञान तत्काल उत्पन्न हो जाता है।



(भगत्तत्व रा.र.)

कंसायारिष्ठानि। (अन्धकः)

सर्पाणां दर्शनं तीव्रं, दुःस्वप्नानां निशाक्षये।
पुर्या वैधव्य शंशीनि।

एष घोरो ग्रहः राहुः स्वाति; मुल्लिखन् खे गभस्तिभिः।
वक्रमंगारकश्चक्रे, चित्रायां घोर दर्शनः।।

बुधेन पश्चिमा संध्या, व्याप्ता घोरेण तेजसा।
वैश्वानरपथे शुक्रो, ह्यतिचारं चचार ह।। (हरिवंशः, वि.प. २३)

प्राक्सन्ध्या परिघग्रस्ता, भाभिर्वाधति भास्करम्। 

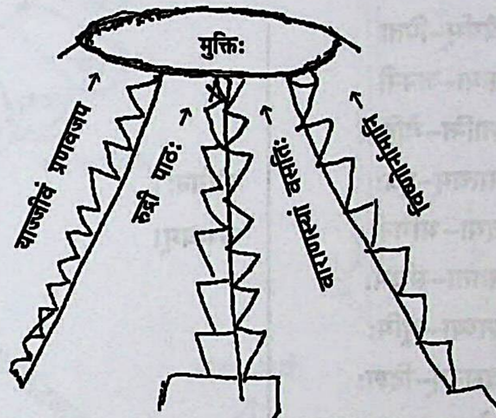
परम प्रेमास्पद भगवान् का जो उत्कसुकतापूर्वक चिन्तन होता है वह भक्ति है और चिन्तन के समय अन्तःकरण की जो प्रमेयाकाराकारिता वृत्ति होती है, उसे प्रमा कहते हैं।
(भगवत्तत्व रा.र.)

कंस्य का अरिष्ट कथन

अन्धक ने कंस से कहा—हे राजन्! यह जो आपने रात्रि के शेष काल (ब्राह्ममुहूर्त) में भयंकर सर्पों को स्वप्न में देखा है यह दुःस्वप्न है और इसका फल स्वप्न विज्ञान के अनुसार यह है कि यह स्वप्न मथुरा नगरी के वैधव्य को सूचित कर रहा है। अर्थात् आपके सहित नगरवासीगण श्रीकृष्ण के हाथ मारे जायेंगे और नगर की बधुएँ विधवा हो जायेंगी।

कंस का ग्रह सम्बन्धित अरिष्टों का वर्णन—यह भयंकर ग्रह राहु आकाश में अपनी किरणों द्वारा स्वाती का वेध कर रहा है तथा भयानक दिखायी देने वाला मंगल सर्वतोभद्र

चिदमृतसुखराशौ चित्तफेनं विलीनं,
क्षयमधिगत एव वृत्ति चंचत्तरंगः।
स्तिमितसुखसमुद्रो निर्विचेष्टः सुपूर्णः,
कथमिह मम दुःखं सर्वदैकोऽहमस्मि।। (स्वात्मप्रकाशिका २८)



चक्र में वक्री होकर कंस की कुण्डली के अनुसार कंस के जन्मकाल के मृगशिरा नक्षत्र से दशवें में चित्रा हैं जो घोर अनिष्टकारी हैं और बुध ने भयानक तेज से पश्चिम संध्याकाल को व्याप्त कर रखा है। अर्थात् पस्चिम दिशा में उदित हो रहा है जो राज्य भंग का सूचक है। तथा शुक्र ने सूर्य मार्ग पर अतिचारगति से चलना आरम्भ कर दिया है ये सूर्य को लांघ कर चलना अतिचार है। पूर्वकाल की संध्या परिघ से ग्रस्त है (सूर्य मण्डल में उगा हुआ तिरछा डण्डा परिघ कहलाता है) वह अपनी प्रभाओं द्वारा सूर्य देव को बाधा पहुँचाती है। अतः ये मरण सूचक ही है। (हरिवंश पु.वि.प. २३)

चेतनरूपी अमृत सुख राशि में मेरा चित्तरूपी फेन विलीन हो गया और मनोवृत्ति रूपी चञ्चल तरङ्ग भी समाप्त हो गया। सर्वतः शान्त और प्रसन्न सुख समुद्र परिपूर्ण होकर अपने में निश्चेष्ट हो गया। इस प्रकार मैं एक हूँ अनन्त हूँ ऐसे अनुभवशील मुझको दुःख कैसे छू सकता है? (स्वात्मप्रकाशिका २८)

मुक्ति के विभिन्न उपाय यहाँ कहे जा रहे हैं—यावज्जीवन प्रणव (ॐ) के जप, रूद्री पाठ, वाराणसी में निवास और भगवान् श्रीकृष्ण जी के नाम संकीर्तन से मुक्ति प्राप्त होती है।

कंसाय नारदः (हरिवंशे वि.प. २८)

द्रुमिलो नाम तेजस्वी सौभस्य पतिरूर्जितः। दानवः।

१. शुद्धचैतन्यम्–निरुपाधिकम्। २. ईश्वरचैतन्यम्–मायोपाधिकम्। जीवचैतन्यम्–अविद्योपाधिकम्। ४. प्रमातृचैतन्यम्–बुद्ध्युधिकम्। ५. प्रमाचैतन्यम्–वृत्युपहितम्। ६. प्रमाणचैतन्यम्–अन्तःकरणोपहितम्। ७. प्रमेयचैतन्यम्–अज्ञातम्। ८. फलचैतन्यम्–ज्ञातम्।

१. धैर्यम्–पिता	
२. क्षमा–जननी	
३. शान्ति–गेहिनी	
४. सत्यम्–पुत्रः	योगिनः।
५. दया–भगिनी	अभयम्।
६. भ्राता–संयमः	
७. शय्या–भूमिः	
८. वसनम्–दिशः	
९. भोजनम्–ज्ञानामृतम्।	

महालीला स्थानम्, क्षराक्षराभ्यामधिकम्, पुरुषोत्तमाधिष्ठानम्। (सामरहस्योपनि.)

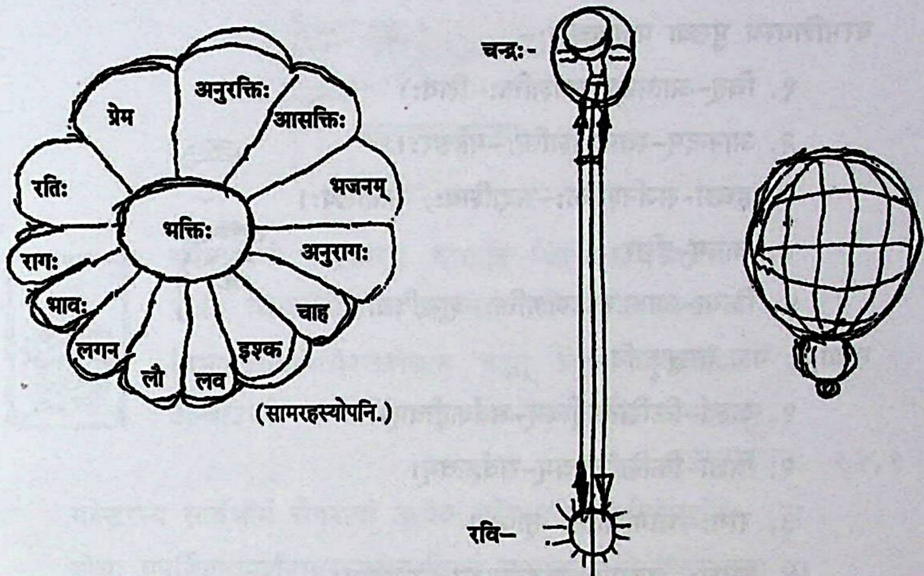
सौभ देश का राजा द्रुमिल बहुत प्रतापी दानव राजा था। (हरिवंश पु.वि.प. २८)

१. निरूपाधिक चैतन्य शुद्ध चैतन्य है। २. माया उपाधिविशिष्ट ईश्वर चैतन्य है। ३. अविद्या उपाधि युक्त जीव चैतन्य है। ४. बुद्धि उपाधि युक्त प्रमातृ चैतन्य है। ५. अन्तःकरण की वृत्ति से उपहित प्रमा चैतन्य है। ६. अन्तःकरण की उपाधि वाला प्रमाण चैतन्य है। ७. अज्ञात प्रमेय चैतन्य है। ८. द्रष्टा द्वारा अनुभूत फल चैतन्य है।

जिन योगियों के पिता धैर्य, माता-क्षमा, शान्ति-गेहिनी (भार्या), सत्य-पुत्र, दया-बहन, भाई-संयम, शय्या-भूमि, वस्त्र-दशो दिशाएँ, भोजन-ज्ञानामृत हैं वे योगीजन निर्भय हैं। उसे कोई भी सांसारिक भय नहीं रह जाता।

महालीला स्थान

महालीला स्थान-क्षर और अक्षर ब्रह्म से भी उत्कृष्ट सर्वाधिष्ठान जो पुरुषोत्तम स्थान है वही महालीला का स्थान है। (सामरहस्योपनि.)



(सामरहस्योपनि.)

कर्णाटकस्य-

शैव धर्मः

↳ वीरशैवधर्मः | अद्वैतशैवधर्मः ← कश्मीरस्य

तमिलनड्वोः → शैवसिद्धान्तः

भक्तिरूपी पुष्प के ही अनुरक्ति, आसक्ति, भजन, अनुराग, चाह, इश्क, लव, लौ, लगन, भाव, राग, रति और प्रेम ये पंखुड़ियाँ हैं अर्थात् जहाँ पर किसी इष्ट के प्रति सात्त्विक भावपूर्वक उपर्युक्त साधन से भजन-कीर्तन-नामस्मरण आदि व्यवहार होता हो तो वह भक्ति ही है। (सामरहस्योपनिषद्)

सूर्य के प्रकाश से ही चन्द्रमा लोक को प्रकासित करता है। यह प्रथम प्रतीक चित्र का अर्थ है। द्वितीय प्रतीक से कहा गया है कि—ब्रह्म के अण्ड से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है इसलिए इसे ब्रह्माण्ड कहते हैं।

शैव धर्म

शैव धर्म के कई शाखाएँ हैं। उन शाखाओं में—कर्नाटक की जो उपासना पद्धिति प्रचलित है उसे वीरशैवागम धर्म कहते हैं। कश्मीर में प्रचलित उपासना पद्धति को अद्वैतशैवागम और तमिलनाण्डु में प्रचलित उपासना पद्धति को शैव सिद्धान्त कहते हैं।

परमशिवस्य मुख्या पञ्चशक्तयः–

१. चित्–आत्मप्रकाशनशक्तिः–शिवः।

२. आनन्दम्–स्वातन्त्रशक्तिः–महेश्वरः।

३. इच्छा-सर्जनशक्तिः–सदाशिवः, सादाख्यः।

४. ज्ञानम्–ईश्वरः।

५. क्रिया–आकारग्रहणशक्तिः–शुद्धविद्या।



मायायाः पञ्च कञ्चुकानि–

१. कला–किञ्चित्कर्तृत्वम्–सर्वकर्तृत्वम्।

२. विद्या–किञ्चिज्ज्ञित्वम्–सर्वज्ञत्वम्।

३. रागः–भोगासक्तिः–तृप्तिः।

४. कालः–भूतभविष्यद्वर्तमानम्–नित्यत्वम्।

५. नियतिः–कार्यकारणनियमः–स्वातन्त्र्यम्।

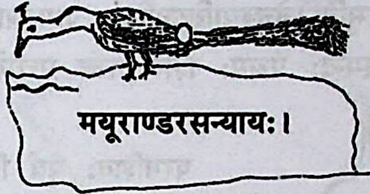
परम शिव की पाँच मुख्य शक्तियाँ

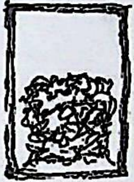
परम शिव के मुख्य पाँच शक्तियाँ शैव धर्म में स्वीकृत है, जो इस प्रकार है— १. चिच्छक्ति, २. आनन्दशक्ति, ३. इच्छाशक्ति, ४. ज्ञानशक्ति और ५. क्रियाशक्ति।

१. चिच्छक्ति—चित् में आत्मप्रकाशन शक्ति शिव की शक्ति है। २. आनन्द शक्ति—स्वतन्त्रता महेश्वर की आनन्द शक्ति है। ३. इच्छाशक्ति—यह शक्ति सर्जन शक्ति है जो सदाशिव में है और इसे सादाख्य शक्ति भी कहा जाता है। ४. ज्ञानशक्ति—ईश्वर की सर्वज्ञत्व ज्ञान शक्ति है। ५. क्रियाशक्ति—सर्वाकारता और सर्वकर्तृत्व शिव की क्रिया शक्ति है और यही शुद्धविद्या है।

माया की पाँच कञ्चुकियाँ

माया की पाँच कञ्चुकियाँ (चोली) हैं और वे पाँचों के क्रमशः नाम हैं—१. कला, २. विद्या, ३. राग, ४. काल और ५. नियति। १. कला कञ्चुकी—किचित्कर्तृत्व और सर्वकर्तृत्व स्वभाव माया की कला नामक प्रथम कञ्चुकी है। २. विद्या कञ्चुकी—किञ्चिज्ज्ञत्व और सर्वज्ञत्व स्वभाव माया की विद्या नामक द्वितीय कञ्चुकी है। ३. राग कञ्चुकी—भोगों में आसक्ति और उसमें तृप्ति स्वभाव माया की तृतीय रागनामक कञ्चुकी है। ४. कालकञ्चुकी—





दर्पणबिम्बे यद्वननगर ग्रामादि विचित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च।।
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वत् विभागशून्यमपि।
अन्योऽन्यं च ततोपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्।।

(परमार्थसारः १२,१३)

महेश्वरस्य सार्वभौमं चेतनायां तस्यैव सृष्टिकल्पना प्रतिबिम्बति। (टी.)
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु।

भूत-भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में निरन्तरता का स्वभाव माया की चतुर्थ कालकञ्चुकी है। ५. नियतिकञ्चुकी—प्रत्येक कार्य में कारण की स्वतन्त्र स्वभाव माया की पाँचवी नियति नामक कञ्चुकी है।

मयूराण्डरसन्याय का तात्पर्य होता है कि—जैसे मयूर के अण्डा में मयूर के पंख के विभिन्न रंग नहीं रहता परन्तु नियत समय पर अर्थात् अण्डा के फूटने पर उसके बच्चे के पंख में स्वाभाविक रूप से वे रंग प्रकट हो जाते हैं जो उसके आनुवंशिक होते हैं। माया से रचित सृष्टि में भी इसी प्रकार उसके गुण स्वतः आ जाते हैं।

दर्पण में और उसके बाहर दो वस्तु पृथक्-पृथक् रूप में दिखाई देता है परन्तु दर्पणगत प्रतिबिम्ब और उसके बाहर बिम्ब नगर-ग्रामादि भिन्न नहीं होते प्रत्युत एक ही होते हैं। अज्ञानी जीवात्मा को इसका विवेक नहीं होता। यही दर्शन परमात्मवैभव सम्पन्न ज्ञानी द्वारा भी देखे जाते हैं किन्तु वे इसे विभाग रहित समझते हैं अर्थात् दर्पणगत वस्तु (प्रतिविम्ब) और वाह्यवस्तु (बिम्ब) को एक ही है ऐसा जानते हैं। इसी प्रकार यह जगत् सृष्टि को भी विम्ब (परमात्मा) से अभिन्न ही जानना चाहिये यही इसका तात्पयार्थ है। (परमार्थसार १२-१३)

महेश्वर की सार्वभौमता की कल्पना ही चेतना में सृष्टि रूप से प्रतिभाषित होती है। जगत् में वही प्रतिबिम्बित हो रहा है। (टीका)

ज्ञान अपने विमर्श के साररूप युक्ति के द्वारा विश्व का परामर्श करता है दर्पण नहीं। (टीका)

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टम्।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिव तत्त्व मुच्यते तज्ज्ञैः।।
(षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहः)

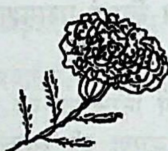


परमशिवः पूर्वं चिदैक्यास्मितिमाययानाश्रित शिवपर्याय शून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति।। (खेमराजः)



आनन्दोच्छलि शक्तिः,
सृजत्यात्मानमात्मना।।

सदाशिवतत्त्वे–अहंताच्छादितास्फुटेदन्तामयं विश्वम्।। (खेमराजः)
ईश्वर तत्त्वे–वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः।।

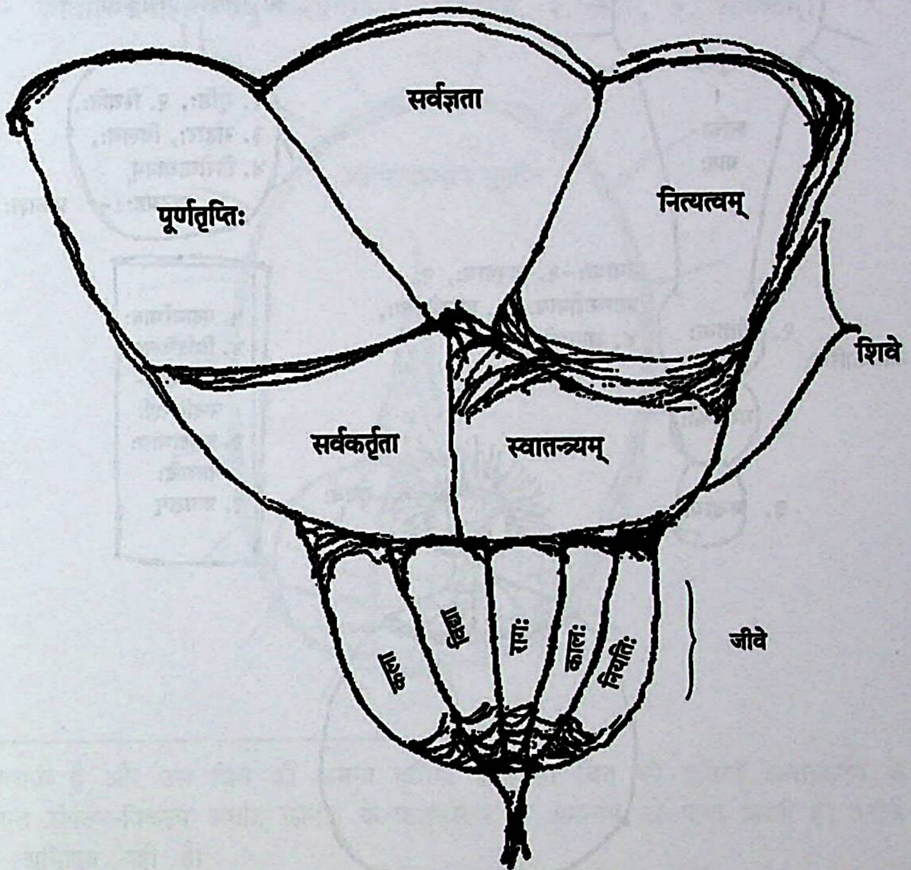


यह जो अद्भुत दक्षिणामूर्ति है वह स्वेच्छा से जगत् को बनाकर अपनी चेतना से इसमें सर्वप्रथम पस्पन्द में स्पन्दन करता है। विद्वान् उसे ही शिव तत्त्व कहते हैं।
(षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह)

परमात्मा शिव सृष्टि के आदि में मात्र चित् मति से ही सृष्टि करते हैं और उस समय माया से अनाश्रित रहते हुए शिव के पर्याय भूत शून्यातिशून्य आत्मा के द्वारा तथा स्वप्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया प्रस्फुरित होते हैं। (खेमराज)

परमात्मा शिव की इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति नित्य है और वे इनकी सहायता से जगत् का सृजन-पालन और लय करते हैं। ये तीनों शक्तियाँ शिव की अपरिमित (असीमित) है। आनन्दोच्छलित (आन्द का उच्छाल) शक्ति के द्वारा शिव अपनी आत्मा से ही जदात्मा की सृष्टि करते हैं अर्थात् स्वयं स्वात्मा से ही जगदात्मा रूप से स्फुरित होते हैं। (खेमराज)

सदाशिव तत्त्व में अहंता से आच्छादित जो इदन्तामय स्फोट होता है वही इदन्तामय जगत् है, और ईश्वर तत्त्व में वेद्यजातो के जो स्फुटन का अवभासन से ज्ञानशक्ति का उद्रेक होता है। (खेमराज)

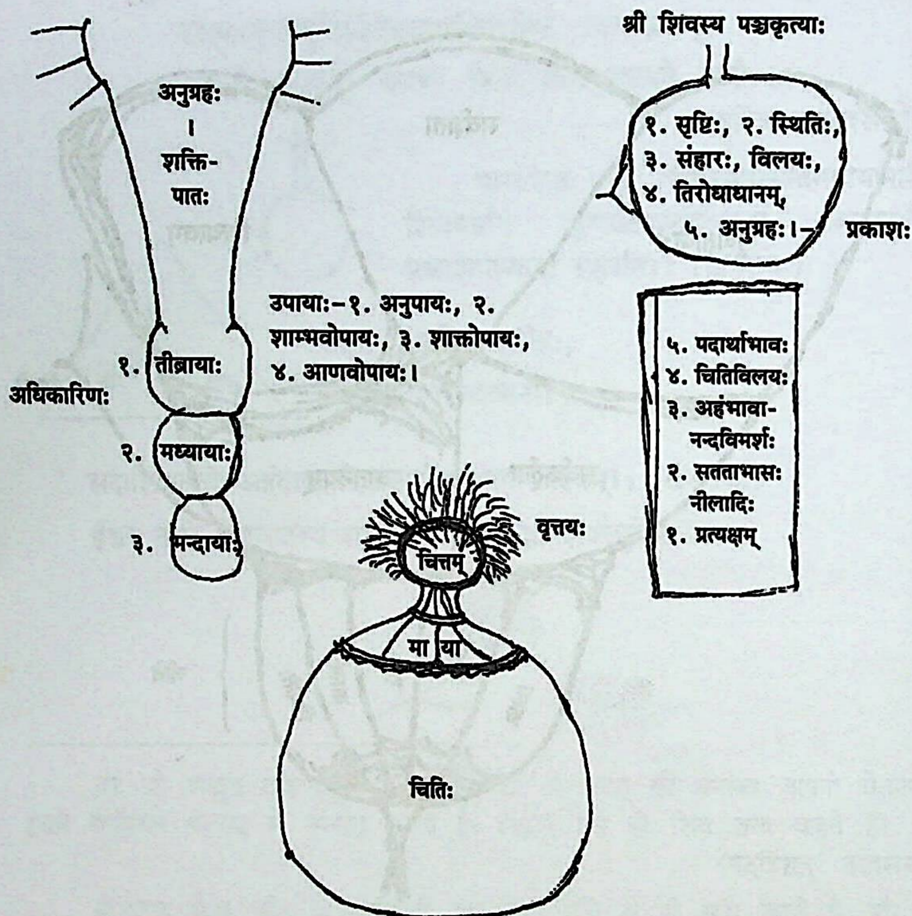


वर्णाः

१. अमायीया–अकृत्रिमाः-अनन्ताः। २. मायीयाः–जन्याः

सदाशिव में पूर्णतृप्ति, सर्वज्ञता, नित्यता, स्वतन्त्रता और सर्वकर्तृता ये पाँच गुण (स्वभाव) है और जीव में कला, विद्या, राग, काल और नियति ये गुण (स्वभाव) है।

शिव में जो स्वाभाविक (अकृतिम) अनन्त वर्ण है वह माया से रहित है और जीव में जो वर्ण है वह मायाजन्य और कृतिम है।



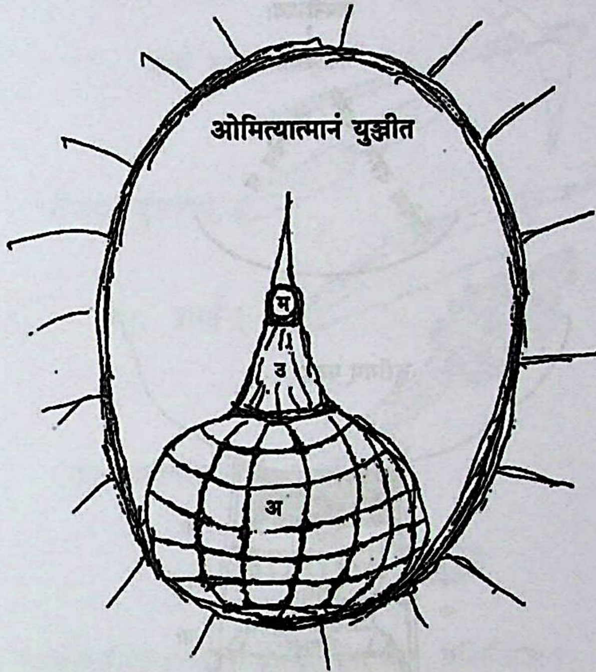
शिव के अनुग्रह से शक्ति पात होता है। उनका शक्तिपात तीन प्रकार का है। तीव्र, मध्यमा और मन्द। उपाय चार प्रकार के हैं। प्रथम अनुपाय हैं, दूसरा शाम्भव उपाय हैं, तीसरा शक्तोपाय है और चतुर्थ आणवोपाय है।

भगवान् श्री शिव के पाँच कृत्य हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार-विलय, तिरोधान और अनुग्रह अर्थात् प्रकाश। जीवों की सृष्टि, उनका पालन और संहार, विलय, तिरोधान एवं अनुग्रह।

साधक के चित्तवृत्ति का यतनशीलता क्रम में इस प्रकार होता है—१. प्रत्यक्ष यथा नीलादि, २. सतताभास, ३. अहंभावानन्द विमर्श, ४. चिति (चेतन में) विलय और ५. पदार्थाभाव।

व्यापक चिति घटगत (शरीरगत) होने पर माया सम्बलित (जीवात्मा) होकर चित्त

जीवाः-सकलाः-तेषु-मलत्रयम्-१. मायीयम्, २. कार्मं, ३. आणवम्।



कहलाता है और उस चित्त की अनन्त वृत्तियाँ होती है। चित्त की वृत्तियाँ अन्तःकरण के अनन्त संकल्प-विकल्प अर्थात् कामना के फलस्वरूप ही अनन्तम को प्राप्त करती है। प्रतीक का अभिप्राय यही है।

निखिल विश्व जीवात्मा कहलाता है और उसमें तीन प्रकार के मल (पाप-दोष) पाये जाते हैं—१.मायीयमल, २. कार्ममल और ३. आणवमल।

ओंकार में अ उ म ये तीन अक्षर हैं। इनमें अकार विश्व स्वरूप है, उकार तैजस स्वरूप है और म सर्वसाक्षी अमात्र स्वरूप है। किन्तु अमात्र अर्थात् मात्रा रहित ओंकार तुरीय आत्मा है वह वाणी द्वारा व्यवहार योग्य नहीं है वह प्रपञ्च की निषेधावधि मंगलमय अद्वैत स्वरूप है। इस प्रकार ओंकार ही आत्मा है। जो उसे इस प्रकार जानता है। अर्थात् इस प्रकार से उपासना करता है वह स्वतः ही अपने परमार्थिक आत्मा में प्रवेश करता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

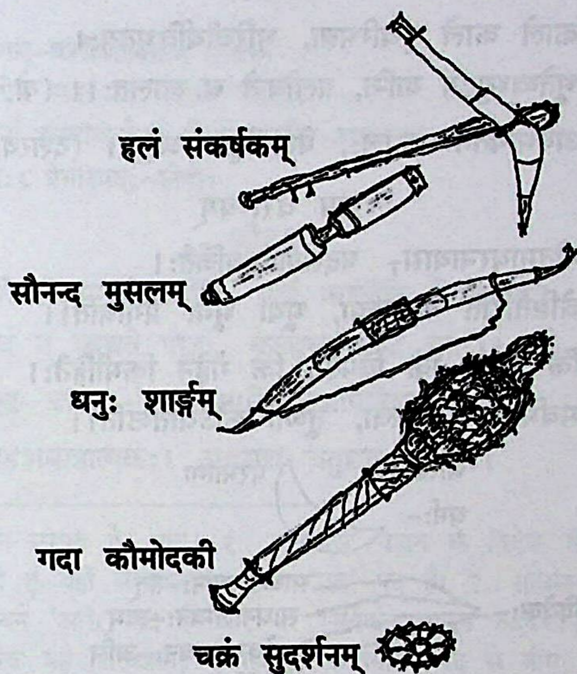
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्।।





आत्मा की स्वरूपता अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए क्रम यह है कि साधक विषयों से वैराग्य प्राप्त कर विवेक दर्शनाभ्यास के द्वारा मन का निरोध करे अर्थात् विषय के प्रति वैराग्य से विवेकदर्शनाभ्यास प्राप्त होता है और उससे मनोनिरोध होता है। मनोनिरोध अभ्यास की परिपक्वता के द्वारा अमनीभाव और उसके बाद द्वैताभाव की स्थिति को अभ्यास की परिपक्वता होने पर अमनीभाव और उसके बाद द्वैताभाव की स्थिति को साधक प्राप्त करता है जिसे आत्म दर्शन, तुरीय पद या मोक्ष कहते हैं।

अकार मात्रा वहिष्प्रज्ञ, सप्ताङ्ग (भूः भुव आदि सात), उन्नीस मुख (५ ज्ञानेन्द्रि, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण, ४ अन्तःकरण) स्थूलभुक् वैश्वानर स्वरूप है। इसका स्थान जागरित अवस्था है। द्वितीय मात्रा उकार स्वप्न स्थान, उन्नीसमुख प्रविविक्तभुक् (सूक्ष्म जगत् का भोक्ता), तैजस (प्रकाश का स्वामी) हिरण्यगर्भ है। तृतीय मात्रा मकार सुषुप्तस्थान, एकीभूत, प्रज्ञानघन,



मायाभिधायास्तच्छक्तेः, एव चान्या प्रसिद्धितः।
तदाख्यातिमयं ह्येतज्, जगन्निर्मातृतेशिता।। (अजड प्रमातृसिद्धिः)
१. स्वरूपगोपनात्मिका क्रीडा। (टी.)

आनन्दमय, चेतोमुख, आनन्दभुक् प्राज्ञ संज्ञक ब्रह्म है। चतुर्थ अमात्र, अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव, अद्वैत, ओंकार स्वरूप तुरीय है। उपर्युक्त प्रतीक चित्र का संक्षेप्तः यही अभिप्राय है।

बलराम जी के आयुध हल-सकर्षक और सौनन्द मुखल है और भगवान् श्रीकृष्ण के आयुध शार्ङ्गधनुष-धनुष है, कौमोदिकी गदा है और चक्र सुदर्शन है।

उस परमात्मा से अन्य जो माया है वह उनकी शक्ति है यह प्रसिद्धि है। उस माया शक्ति सम्पन्न ईश्वर से यह जगत् व्याप्त है। जिससे उनकी जगन्निर्मातृत्व और ईशिता की भी प्रसिद्धि होती है। इससे प्रमातृ की जड़ता सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण की स्वरूप गोपन आत्मिका कीड़ा है। (टी.)

काले काले पृथग्भिन्ना, भूरिवीर्यविभूतयः।
भूतेष्वभ्युदयं यान्ति, प्रलीयन्ते च कालतः।। (यो. वाशिष्ठे वै. १)
अयमन्यतमः कालः, पेलवीकृतसज्जनः। (दशरथः)

राम वैराग्यम्

नीतमायुरनायास; पदसंप्राप्तिवर्जितैः।
चेष्टितैरिति काकल्या, भूयो भूयः प्रगायति।।
किं संपदा किं विपदा, किं गेहेन किमीहितैः।
सर्वमेवासदित्युक्त्वा, तूष्णीमेकोऽवतिष्ठति।।



विवेकः– साध्यालम्बनः–तत्
साधनालम्बनः–त्वम्
ऐक्यालम्बनः–असि
निर्विकल्यालम्बनः–अधिष्ठानम्

हे राम समय-समय पर पृथक्-पृथक् अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाव कर्म वाली बहुत सी विभूतियाँ इन आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं। काल आने पर उनमें ही लीन होते हैं। (यो.वा.वै. १)

यह एक अद्भुत काल है जिसने सज्जनों को व्याकुल कर दिया है। (दशरथ)

रामजी का वैराग्य

जीवात्मा को यह जन्म अनायास प्राप्त हो जाता है। मानव जन्म सभी जन्मों से उत्कृष्ट है परन्तु उस परमात्मपद से विवर्जित यह जन्म किस काम का है? जब जगत् के सम्पूर्ण वस्तु असत् ही है तो काकली ध्वनि की चेष्टा से बार-बार यह गायन करना कि यह मेरा है, यह तेरा है निरर्थक प्रयत्न है। अतः सांसारिक इस सम्पदा और विपदा तथा इस घर द्वारा की मिथ्या कामना से क्या लाभ? जब यह जगत् असत् है तो मौनभाव (ब्रह्म) ही एक सत्य प्रतीत होता है।

भक्ति और धर्म तथा विवेक तीनों सहभाविता से ही परमात्मा की प्राप्ति सुलभ होता है। इन तीनों का मिलन चन्द्रकल्प होता है। विवेक के द्वारा ही भक्ति तथा धर्म नियन्त्रित

प्रेम्नः कारणम्–परप्रेमास्पदत्व ज्ञानम्।
निरतिशयं प्रेम सदा त्वं पदार्थे भवति।
न वारे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति-आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।
उपास्य-शेषः। प्रेमास्पदः–शेषी।

औषधम्

यत्किचिन्मन्यसेऽस्तीति, सर्वं नास्तीति विद्धि तत्।
एवं न व्यथते प्राज्ञः, कृच्छ्रामप्यापदं गतः।।
ब्रह्म प्रणवः–परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्।
षोडशमात्रात्मकः। अवस्था चतुष्टय गोचरः।

होने पर तत्त्व दर्शन सम्भव है, यथा—१. 'तत्त्वमसि' वाक्य के विवेक से अधिष्ठान ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है यही साध्यालम्बन प्रथम 'तत्' पद है। २. साधनालम्बन 'त्वं' पद है। ३. ऐक्या लम्बन 'असि' पद है और ४. निर्विकल्पालम्बन अधिष्ठान है। यदि यहाँ इस प्रकार का विवेक ग्रह (तत्त्वज्ञान) न रहे तो 'तत्त्वमसि' पद से बोध नहीं हो सकेगा। इसी अभिप्राय को प्रतीकचित्र वाक्य से कहा गया है।

परमात्मा के प्रति प्रेम परप्रेमास्पद प्रेम है और परप्रेमास्पद प्रेम का ज्ञान ही प्रेम का कारणहोता है। निरतिशय प्रेम सदा त्वं पदार्थ जो आत्मा है उसी में होती है यह सर्वप्रत्यक्षव्यवहार सिद्ध है। स्वात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञानपूर्वक उपासना बोध ही प्रेम का कारण है यह फलितार्थ है। इसी तथ्य को श्रुति कहती है। देवताओं के काम (इच्छा) के लिए देवता प्रिय नहीं होते प्रत्युत् आत्म काम के लिए देवता प्रिय होते हैं। पक्षान्तर रूढ़ (मुख्य) अर्थ है कि—देवता इन्द्रिय को कहते हैं क्योंकि वह अर्थ (वस्तु) का द्योतन (प्रकाशन) करता (द्योतनात् देवः इन्द्रियम्) है। ये जो काम्य पदार्थ हैं जिनका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है, वे इन्द्रियों की जो प्रियता के लिए नहीं है वह तो आत्मा की प्रियता के लिए ही हम ग्रहण करते हैं। अतः इन्द्रियों में भी प्रियता बोध होती है वह भी आत्मा की प्रियता के लिए ही है। यहाँ उपास्य देवता अथवा इन्द्रियादि शेष है और परम प्रेमास्पद आत्मा शेषी है ऐसा जानना चाहिये।

औषध

यहाँ जो कुछ भी प्रपञ्चात्मक जगत् नाम-रूपात्मक दिखाई दे रहा है वे सभी जैसा-जिस रूप में देख रहे हो उस रूप में वह असत् है, मिथ्या है अर्थात् उसका अधिष्ठान परमात्मा (ब्रह्म) मात्र सत्य है। जो उपासक जगत् प्रपञ्च को मिथ्या ही है ऐसा जानता

जाग्रदवस्थायाम्– अः	१. विश्वविश्वः	अः	१
	२. विश्वतैजः	उः	२
	३. विश्वप्राज्ञः	मः	३
	४. विश्वतुरीयः	।।	४
स्वप्नावस्थायाम्– उः	१. तैजसविश्वः		५
	२. तैजस तैजसः	नादः	६
	३. तैजस प्राज्ञः	कला	७
	४. तैजसतुरीयः	कलातीत	८
सुषुप्तौ– मः	१. प्राज्ञविश्वः	शान्ता	९
	२. प्राज्ञतैजसः	शान्त्यतीता	१०
	३. प्राज्ञ प्राज्ञः	उन्मनी	११
	४. प्राज्ञतुरीयः	मनोन्मनी	१२

है वह दुःखी नहीं होता, चाहे वह कठिन से कठिन आपदग्रस्त क्यों न हो। वह तो प्रपञ्च अंश में मिथ्यात्व और उसके अधिष्ठान अंश में 'सुक्तौ रजतम्' के समान सत्य बुद्धि रखता है। 'सुक्तौ रजतम्' में इदमंश सुक्ति (अधिष्ठान) सत्य और रजत (अध्यस्यमान वस्तु) मिथ्या है ऐसा जानना चाहिये।

ब्रह्म प्रणव (परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्)

ब्रह्म प्रणव षोडश मात्रात्मक होता है और वह चारों अवस्थाओं में गोचर होता है। यथा—(क) जाग्रदवस्था में—१. विश्वविश्व 'अः' प्रथम मात्रा है। २. विश्वतैजस 'उः' द्वितीय मात्रा है। ३. विश्वप्राज्ञ 'मः' तृतीय मात्रा है। ४. विश्वतुरीय अर्धमात्रा (।।) चतुर्थ (तुरीय) मात्रा है।

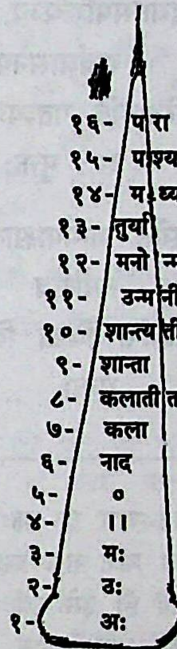
(ख) स्वप्नावस्था में—१. तैजसविश्व ':' विसर्ग पाँचवी मात्रा २. तैजसतैजस 'नाद' छठी मात्रा है। ३. तैजसप्राज्ञ 'कला' सातवीं मात्रा है और ४. तैजसतुरीय 'कलातीत' आठवीं मात्रा है।

(ग) सुषुप्ति 'मः' में—१. प्राज्ञविश्व 'शान्ति' मात्रा, २. प्राज्ञतैजस 'शान्त्यतीत' मात्रा, ३. प्राज्ञप्राज्ञ 'उन्मनी' मात्रा तथा ४. प्राज्ञतुरीय 'मनोन्मनी मात्रा है।

तुरीयावस्थायाम्– ।।	१. तुरीयविश्वः	तुर्या	१३
	२. तुरीय तैजसः	मध्यमा	१४
	३. तुरीय प्राज्ञः	पश्यन्ती	१५
	४. तुरीय तुरीयः	परा	१६

स्वाहा–स्वधा-वषट्-वौषड्-नमः पर्यायवाचकाः। ॐ विष्णुः सर्वेषामधिपतिः परमः पुराणः परो लोकानामजितो निजात्मन् भवते भवाय स्वाहा। (पारमात्मिकोपनिषत्)

(परमहंसबीजः ३०)



चित्ते चैत्य दशा हीने,
या स्थितिः क्षीणचेतसाम्।
सोच्यते शान्त कलना,
जाग्रत्येव सुषुप्तता।।
प्रौढासती तुरीयेति,
कथिता........।

(अन्नपू. ३/२)

(घ) तुरीयावस्था के अर्ध मात्रा (।।) में—तुरीयविश्व 'तुर्या' मात्रा, ३. तुरीय तैजस 'मध्यमा' मात्रा, ३. तुरीयप्राज्ञ 'पश्यन्ती' मात्रा तथा ४. तुरीय तुरीय में 'परा' मात्रा है। इस प्रकार चारों अवस्थाओं के चार-चार मात्रा होने से प्रणव ब्रह्म के कुल सोलह (षोडश) मात्राएँ होती हैं।

स्वाहा-स्वधा-वषट्-वौषड् और नमः ये चारों शब्द परस्पर में पर्यायवाची हैं। 'ॐ' स्वरूप विष्णु सभी के अधिपति परमपुराण पुरुष सबके परे और सभी लोको से अजित (अपराजित देवता) हे निजात्मन् (स्वात्मन्) स्वयम्भो! आपको नमस्कार (स्वाहा) है।

(परमात्मिकोपनिषद्)

चित्त जब संकल्प विकल्प से शून्य होकर सम्पूर्ण वासना विहीन हो जाय इस अवस्था को शान्त कला कहते हैं। इस अवस्था में जाग्रद् में ही सुषुप्ति मानी जाती है और अभ्यास

अन्तः शीतलतायां तु,
लब्धायां शीतलं जगत्।
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां,
दावदाहमयं जगत्।। (अन्नपूर्णोपनिषत् १/३५)

हृदयात्संपरित्यज्य,
सर्ववासनपङ्क्तयः।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः,
स मुक्तः परमेश्वरः।। (महोपनिषत् ६/८)

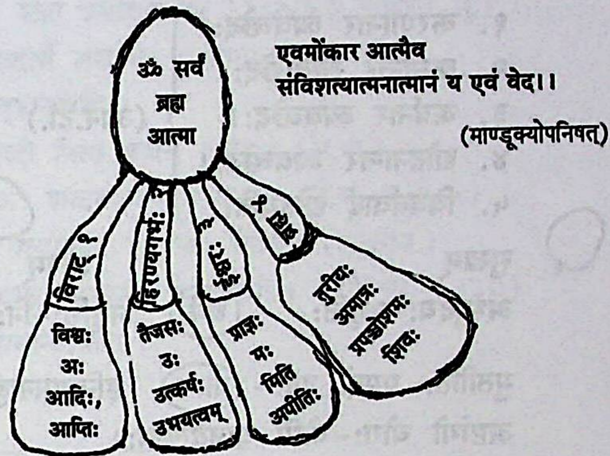
यस्येदं जन्मपाश्चात्यं,
तमाश्वेव महामते।
विशन्ति विद्या विमला,
मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्।।

से जब वह अवस्था दृढ़ हो जाय तो यह ही तुरीयावस्था कहलाती है। यहाँ 'अ:' प्रथम मात्रा से लेकर सोलहवीं परा मात्रा तक ब्रह्म प्रणव की सोलह मात्राओं को कहा गया है जो चारों अवस्थाओं में होती है। इसे पूर्व में कहा जा चुका है अत: विस्तार से कहना आवश्यक नहीं रह गया है। (परमहंसबीज ३०/अन्नपू. ३/२)

जब अन्त:करण वासनाओं से रहित हो जाता है तो शीतल (शान्त) प्रतीत होता है और उस साधक के लिए वाह्य जगत् भी शीतल (शान्त) प्रतीत होता है। इससे इतर जब अन्त:करण तृष्णा रूपी अग्नि से जल रहा होता है तो बाहर जगत् भी दावाग्नि से जलता हुआ प्रतीत होता है। (अन्नपूर्णोपनिषत् १/३५)

हृदय से सम्पूर्ण वासना समुदाय को अच्छी तरह त्यागकर जो मनोव्यग्रता शून्य हो जाता है वह मुक्त होकर साक्षात् परमेश्वर स्वरूप हो जाता है। (महोपनिषद् ६/८)

जिसके वर्तमान जन्म अन्तिम जन्म होता है, हे महामते! उसे भगवान् पशुपति शिव का पशु ही समझो। ऐसे जीवात्मा (साधक) में सारी विमल (पवित्र) विद्याएँ स्वयं आ जाती है यथा—वेणु (जंगली छिद्रयुक्त बाँस) में वायु स्वयं प्रवेश कर जाता है।



कल्पयत्यात्मनात्मान[1], मात्मा[2] देव[3]: स्वमायया[4]।
स एव बुध्यते भावान्, इति वेदान्त निश्चयः।। (गौ.का. २/१२)

ओंकार ब्रह्म की चार मात्राओं में ही चार पाद की कल्पना करके उस ओंकार ब्रह्म का प्रतिपादन किया जा रहा है—प्रथम 'अ' मात्रा वाला ब्रह्म का पाद-आदिमत्व, जागरितस्थान, वैश्वानर स्वरूप वाला है। उक्त पाद की उपासना से सभी प्रकार की कामनाओं को साधक प्राप्त करता है। द्वितीय 'उ:' मात्रा वाला पाद तैजस स्वरूप प्रथम पाद 'अ;' से उत्कृष्ट और उभयात्मक अर्थात् वैश्वानर और प्राज्ञ के मध्य होने के कारण वह उभय सम्बन्धी है। इस समानता के कारण ही 'उ:' को तैजस नामक द्वितीय पाद कहा गया है। जो साधक इस द्वितीय पाद ओंकार ब्रह्म को इस प्रकार से जानता है वह उन्नति को प्राप्त करता है। तृतीय मात्रा 'म:' पाद वाला ब्रह्म मिति अर्थात् मापने वाला तथा लय करने वाला सुषुप्तस्थान वाला ईश्वर होता है। जो साधक ऐसा जानता है वह साधक सम्पूर्ण जगत् को अपनी ब्रह्मदृष्टि से माप लेता है अर्थात् उसकी ब्रह्म दृष्टि हो जाती है। चतुर्थ पाद अमात्रिक (विना मात्रा वाला) तुरीयस्थानी, मात्रा रहित, प्रपञ्च रहित शिव स्वरूप होता है। जो साधक ऐसा जानता और इसकी उपासना करता है वह निर्विकार-निरञ्जन-निर्विशेष ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है। (माण्डूक्योपनि.)

यह आत्मा अपनी माया से स्वयं ही स्वात्मा की कल्पना करके अपनी आत्मा का सृजन करता है। इसलिए वही इस आत्मा की सत्ता को भी जानता है। यही वेदान्त दर्शन का विनिश्चय है। (गौ.का. २/१२)

१. करणान्तर व्यवच्छेदः।
२. कर्मान्तर व्यवच्छेदः।
३. कर्त्रन्तर व्यवच्छेदः। (आन.टी.)
४. द्योतनान्तर व्यवच्छेदः।
५. विवर्तवादं द्योतयति।

सुखम् ज्ञानम्

अभ्युदयः–प्रवृत्तिः धर्मः निवृत्तिः–निःश्रेयसम्

मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः– कामः इन्द्रियमनोबुद्धिविषयेषु।

अष्टांगो योगः–योगि याज्ञवल्क्यः।

१. यमाः १०। २. नियमाः १०। ३. आसनानि ८। ४. प्राणायामाः ३। ५. प्रत्याहाराः ५। ६. धारणाः ५। ७. ध्यानम् ६। ८. सामधिः १।

---

१. आत्मनैव इससे दूसरे करणों का अभाव बताया। २. आत्मानम् कल्पयति अर्थात् अपने आत्मा को ही बनाता है इससे दूसरे कर्मों का व्यावर्तन किया है। ३. आत्मादेव की कल्पना से दूसरे कर्ता का निषेध किया है। ४. देव कहने से दूसरे प्रकाशों का व्यावर्तन किया है। ५. स्वमायया कहने से विवर्तवाद का द्योतन किया है। यह विगत पृष्ठ गौडपाद कारिका २/१२ से सम्बन्ध रखता है।

जिससे अभ्युदय अर्थात् सुख और नि:श्रेयस की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। धर्म से ही सुख और ज्ञान दो फल मिलते हैं। मोद को मुत्प्रीति-हर्ष-प्रमोद आदि नाम से कहा जाता है। विषयों से निवृत्ति होने पर जो नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है वही ज्ञान का जनक है और विषयों में इन्द्रिय-मन और बुद्धि की प्रवृत्ति को काम कहते हैं।

अष्टाङ्गयोग

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

१. अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि दस यम हैं। २. शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर, प्राणिधान आदि दस नियम हैं। ३. करचरणादि का संस्तान विशेष, पद्मासन आदि आठ आसन हैं। ४. रेचक, कुम्भक पूरक, प्राणों का निग्रह, उपाय ये तीन प्राणायाम हैं। ५. इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से हटाना आदि पाँच प्रकार के प्रत्याहार हैं। ६. अद्वितीय वस्तु में मन को प्रवृत्त करना धारणा है। ७. अद्वितीय वस्तु ये यम की वृत्तियों को रोक-रोक कर प्रवाहित करना आदि छः प्रकार के ध्यान हैं। ८. मन को ध्येय में लीन कर ध्याता ध्येय की ऐक्य समाधि है।

तदशिष्यं सञ्ज्ञा प्रमाणत्वात्। (१/२/५३ पाणिनि सू.)

सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे। (कात्यायन वा.)

छन्दसि दृष्टानुविधिः।

सिद्ध शब्दो नित्य पर्याय वचनः। (पा.भा.)

औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। (जै.सू. १/१/५)

प्रत्याय्य प्रत्यायकः सम्बन्धः नित्यः। (शाबरभा.)

वाच्यवाचकः सम्बन्धः शब्दार्थयोः। (कपिलसू. ५/३७)

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः।

आप्तोपदेशः,

(लुपि युक्त वद् व्यक्ति वचने) लुप् होने पर—प्रकृति के तुल्य लिङ्ग और वचन हो, प्रत्ययार्थ की प्रधानता न हो जैसे 'पञ्चालानां निवासः जनपदः पञ्चालाः' यहाँ पञ्चाल प्रकृति के अनुसार पुलिङ्ग तथा बहुवचन हुआ। प्रत्ययार्थ निवास की उपेक्षा की गयी। इस नियम का खण्डन करते हैं कि (तदशिष्यं संज्ञा प्रमाणत्वात्) युक्तवद् अर्थात् प्रकृतिवद् लिङ्ग वचन कहने कि आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लोक में संज्ञा (लोक व्यवहार के अनुसार) शब्दों का प्रयोग होता है जैसे दारा शब्द स्त्रीवाचक होने पर भी लोक में बहुवचन और पुलिङ्ग बोला जाता है। (पाणिनि सू. १/२/५३)

शब्द नित्य है और अर्थ भी नित्य है तथा इन दोनों का शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हुए ही पाणिनि आचार्यों ने सूत्रों की रचना की है। (कत्यायन वा.)

वेद में जैसा देखा जाय वैसा ही साधु है और उसी के अनुसार विधि की कल्पना की जाती है। वेद लौकिक व्याकरण के नियमों की प्रवृत्ति नहीं होती।

(सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे) इस वार्तिक में, सिद्ध के अनेक अर्थ होने पर भी यहाँ सिद्ध शब्द नित्य शब्द के पर्यायवाची है। यहाँ मङ्गलार्थ नित्य के स्थान पर सिद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है।

उत्पत्ति को लेकर ही शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है।

शब्द प्रत्याय्य है और अर्थ प्रत्ययाक है। यही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। अर्थात् शब्द और अर्थ बोध्य बोधक वाच्य-वाचक सम्बन्ध वाला होता है।

शब्द-अर्थ और सम्बन्ध इन तीनों से ही आप्तोपदेश व्यवहार की सिद्धि होती है।

आप्त वक्ता का उपदेश शाब्द प्रमाण कहलाता है।

मूलप्रकृतिरविकृतिः–१ अव्यक्तम्।

अहंकारः, महत्तत्वम्, शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रम्, रसतन्मात्रम्, गन्धतन्मात्रम्–७ प्रकृतिविकृतियः।

न प्रकृति विकृतिः; पुरुषः।

मनः, श्रोत्रम्, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राणम्, वाक्, पाणिपादौ, उपस्थः, गुदा, वियत्, वायुः, अग्निः, वारि, भूमिः–१६ विकृतयः। (सांख्ये)

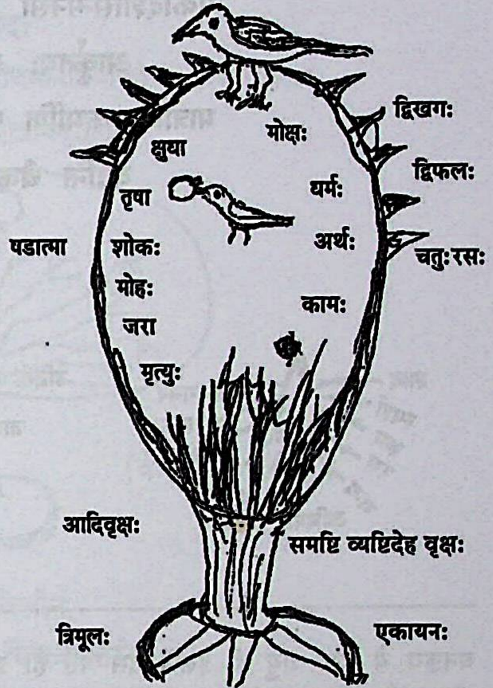
नासतो जन्मना योगः,
सतः सत्त्वान्न चेष्यते।
कूटस्थे विक्रिया नास्ति,
तस्मादज्ञानतो जनिः।। (वृ.भा.वा. १/४/६२६)

अयं मेयः प्रमाताहं,
मानमेतदितीक्षणे।
मिथ्याज्ञाने जनस्तुष्टः,
स्वप्नमायेन्द्र जालवत्।। (वृ.भा.वा. ६४८)

मूल प्रकृति किसी का विकार नहीं है और वह अव्यक्त (सूक्ष्म) है। अहंकार, महत्तत्व, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा ये सात प्रकृति (कारण) और विकृति (कार्य), उभयात्मक है। पुरुष न तो किसी की प्रकृति है और न विकृति ही है। मन, श्रोत्र (कान) त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण (नाक), वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर) उपस्थ (जननेन्द्रिय), गुदा (मलेन्द्रिय), वियत् (आकाश), वायु, अग्नि, वारि (जल) और भूमि ये सोलह विकृति (प्रकृति के विकार) हैं। (साख्य शास्त्र)

असज्जड़ से किसी का जन्म नहीं हो सकता है और सत् वस्तु में भी विकृति नहीं हो सकती है क्योंकि उसके कूटस्थ होने के कारण उसमें विकार नहीं हो सकता। इसलिए जगज्जन्म अज्ञान से ही घटता है, जैसा कि भामतीकार ने कहा है—'जीवाज्ञानं जगद्बीजं वभाषे भामतीपतिः' जीव का अज्ञान ही जगत् का बीज है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/६२६)

यह प्रमेय है मैं प्रमाता हूँ इक्षण में यही प्रमाण है। मिथ्या व्यवहारिक ज्ञान से लौकिकजन स्वाप्निकमायिक रचना से संतुष्ट होता है, जैसे इन्द्रजालिक (जादूगर) के मायाजाल से लोग उसे सत्य समझ कर सन्तुष्ट होता है। (व.उ.भा.वा. १/४/६४८)



यावन्मनो रजसा पूरुषस्य,
सत्वेन वा तमसा नानुरुद्धम्।
चेतोऽभिराकूतिभिरातनोति,
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा।।
(श्रीमद्भा. ५/११/४)

१. ज्ञानेन्द्रियैः। २. कर्मेन्द्रियैः।
(श्रीघ.टी.)

जब तक मनुष्य का मन सत्त्व-रज अथवा तमोगुण के वशीभूत रहता है, तब तक वह बिना किसी अङ्कुश के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से शुभ और अशुभ कर्म करता ही रहता है। (श्रीमद्भा. ५/११/४)

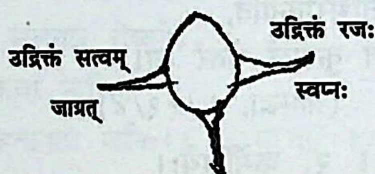
एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतुरसःपञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपोनवाक्षो दशच्छदी द्विखगोह्यादिवृक्षः।। (श्रीमद्भा. १०/२/२७)

यह संसार एक सनातन वृक्ष है। इसका एक ही आशय अर्थात् आयन है। प्राकृतिक इसके दो फल हैं—सुख-दुःख। इस वृक्ष की तीन मूल अर्थात् जड़ हैं—सत्त्व, रज, तम। इसके चार रस हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसके जानने के पाँच प्रकार हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। इसके छः स्वभाव हैं—'जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते ततो विनश्यति' अर्थात् पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना तथा धीरे-धीरे क्षीण होना अर्थात् घटना और नष्ट होना। इसके सात धातु ही सात छाल है—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। पाँच महाभूत और मन बुद्धि अहंकार ये आठ वृक्ष हैं। इसमें मुख आदि नौ खिड़कियाँ तथा प्राण, अपान, धान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृक, देवदत्त और

एकादशासन्मनसो वृत्तयः,
आकूतयः[१] पञ्चधियो[२]ऽभिमानः।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां,
वदन्ति चैकादश वीर? भूमीः।।

१. क्रियाकाराः (श्रीमद्भा. ५/११/९)
२. ज्ञानाकाराः





उद्रिक्तं तमः-सुषुप्तिः गुणतो बुद्धिवृत्तयः
(श्रीमद्भा. ११/३४/२७)

धनञ्जय ये दस वायु ही इसके दस पत्ते हैं। इस संसार रूपी वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं— जीव और ईश्वर। (श्रीमद्भा. ५/११/४)

हे वीरवर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और अहंकार ये ११ मन की वृत्तियाँ हैं तथा पाँच प्रकार के इन्द्रियों से किये जाने वाले कर्म और पाँच तन्मात्रा और एक शरीर ये ग्यारह इनकी भूमियाँ हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध तथा कर्मेन्द्रियों के विसर्ग, रति, शयन, जल्प, गमन ये विषय हैं। अहंकार का अभिमान विषय है।

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धि वृत्तयः।
तासां विलक्षणोजीवः साक्षित्त्वेन विनिश्चितः।।

जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ गुणों के अनुसार होती हैं।

सत्त्वान्जागरणं विद्या; द्रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तो; स्तुरीयं त्रिषु संततम्।।

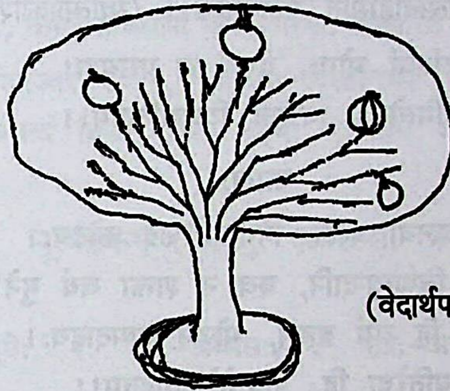
सत्त्वगुण से जागरण, रजोगुण से स्वप्न, तमोगुण से सुषुप्ति होती है।

ये तीनों अवस्थायें बुद्धि की वृत्तियाँ है। इन तीनों का साक्षि होने से जीव इनसे विलक्षण है। यह सिद्धान्त की युक्ति और अनुभव है। (श्रीमद्भा. ११/३४/२७)

वेदः

मन्त्र ब्राह्मणात्कोऽविच्छिन्नपारंपर्येणाधीयमानोऽपौरुषेयः शब्दराशिः।

१३३१ शाखोपवृहितः।



(वेदार्थपरिजाते भू.)

चित्सुखराशौ चित्तफेनं विलीनं,
क्षयमधिगत एव चित्तचंचत्तरंगः।
स्तिमित सुखसमुद्रो निर्विचेष्टः सुपूर्णः,
कथमिह मम दुःखं सर्वदैकोहमस्मि।।

(स्वात्मप्रकाशिका २८)

परमात्मा से उत्पन्न वेद मन्त्र को परम्परा से अध्ययन किया जा रहा है, इसलिए यह शब्दराशि अपौरूषेय है। इसकी तेरह सौ इकत्तीस शाखाएँ हैं।

वेद को व्यासजी ने अपने चार शिष्यों पैल, जैमिनि, वैशम्पायन और सुमन्तु को कुछ दिनों तक पढ़वाया। अतः प्रथमतः वेद के चार भाग हुए। ऋक्, यजुः, साम, और अथर्व। कलियुग में बुद्धियों के ह्रास होंगे ऐसा जानकर अनेक शिष्यों द्वारा वेद को उज्जीवित रखने के उद्देश्य से विभाजन किये इसलिए वेदों की शाखोपशाखा अनेक भेद हुए। वेद के धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष चार फल हैं।

चिदानन्दराशि में चित्तरूपी फेन विलीन हो चुका है। मेरे चित्तरूपी चञ्चल तरङ्ग भी नष्ट हो चुके हैं। निश्छद्म (विकार रहित) आनन्द समुद्र चेष्टा रहित होकर सम्पूरित हो चुके हैं। अब मुझे दुःख कैसे हो सकता है? क्योंकि मैं तो केवल (अद्वितीय) नित्य स्वरूप (ब्रह्मभाव) को प्राप्त हो चुका हूँ। (स्वात्म प्रकाशिका-२८)

जन्म-मृत्यु-सुख-दुःख वर्जितं
　　जाति-नीति-कुल-गोत्र दूरगम्।
चिद्विवर्तजगतोऽस्य कारणम्,
　　तत्सदाहमिति मौनमाश्रये।। (स्वात्मप्रकाशिका ४५)

विग्रहो हविषां भोगः, ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलप्रदानमित्येतं[१], त्पञ्चकं विग्रहादिकम्।।

कालः

ब्रह्माण्डावलयो ग्रस्ता, निगीर्णा रुद्र कोटयः।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि, क्व न शक्ता वयं मुने।
भोक्तारो हि वयं ब्रह्मन्, भोजनं युष्मदादयः।
स्वयं नियतिरेषा हि, नावयोरेतदीहितम्।।
नेह कर्ता न भोक्तास्ति, दृष्ट्या नष्ट कलङ्कया।।

मैं जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख से शून्य हूँ और जाति, लोक, रीति, नीति, कुल, गोत्र से भी बहुत दूर हूँ। इस चेतन के जो विवर्त जगत् हैं उसका जो कारण ब्रह्म है मैं वह ही हूँ। ऐसा निश्चय कर मैं मौन का आश्रय ले रहा हूँ। (स्वात्मप्रकाशिका ४५)

परमात्मा के पाँच विग्रह हैं—शरीर, हविष का भोग, ऐश्वर्य, प्रसन्नता और फलप्रदान करना।

काल

काल ने भृगुजी से कहा—हे मुनिश्वर! तुम्हारा शाप मुझे दग्ध नहीं कर सकता है। हम सब नीतिपूर्वक कार्य करते हैं। हमें तो प्रलयकालीन अग्नि भी दग्ध नहीं कर पाता है। मुनीश्वर! मैंने अनेक ब्रह्माण्डों का भक्षण किया है और कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मेरा ग्रास हो चुके हैं। तेरा शाप मेरा क्या बिगाड़ सकता है। जैसी नीति ईश्वर ने रची है वैसी ही नियति है। हम समस्त जगत् के भोक्ता हैं और आप सब हमारा भोजन हो ऐसी यह आदि नीति है। इसमें हमारी कोई व्यक्तिगत चेष्टा नहीं है और यदि निष्कल ज्ञान दृष्टि से देखें तो न कोई कर्ता है, न कोई भोक्ता है, न कोई कारण है, न कोई कार्य है, परन्तु सर्वत्र एक अद्वैत सत्ता ही सत्ता है। ये कर्तृत्वादि अज्ञान दूषित दृष्टि में ही है। यह पुरुष चित्रूप है, जो चित्त करता है वह होता है। ये शरीर नेत्र सिर सब

पाठान्तर—१. द्वियं।

मनो हि जीवनाज्जीवः। तव पुत्रस्य तन्मनः, प्रयातं वैबुधं सद्म, तत्रा सेवत विश्ववाचीम्, अथ विप्रो दशार्णेषु, कोशलेषु महीपतिः, धीवरो महाटव्याम्, हंसस्त्रिपथगातटे, सूर्यवंशे नृपः पौण्ड्रः, सौरः शाल्वेषु दैशिकः, कल्पविद्यापरः, सौवीरेषु सामन्तः, त्रिगर्ते-शैवदेशिकः, वंशगुल्मः-किरातेषु, हरिणः-जाङ्गले, सरीसृपस्तालवले, तमाले-वन-कुक्कुटः, वासुदेवाभिधानो मुनिकुमारकः तपश्चरित ते पुत्रः। (यो.वा.स्थि. ४)

सर्वाशाज्वर संमोह, मिहिका शरदागमे।
विचित्तत्वं विना नान्य; च्छ्रेयः पश्यामि जन्तुषु।।
(यो.वा.स्थि. ४/९०)

मूर्त्यष्टकम् (शिवपु. शतरु.सं. २)

अधिष्ठातारः-

१. शर्वः-भूमेः, २. भवः-अम्भसः, ३. रुद्रः-अग्नेः, ४. उग्रः-वायोः,

---

मन ही है। जीव भी मन का नाम है। मन का जीवन ही तो जीव है जैसा मन में स्फुरण होता है वैसा ही जगत् भासता है। तुम्हारा पुत्र भी मन ही है। जब तुम समाहित थे तब तुम्हारे पुत्र का मन विश्ववाची अप्सरा के पीछे चला गया और देवलोक पहुँच गया। अनेक लोकों में विचरता हुआ बहुत समय तक विश्ववाची के साथ रहा। पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से गिराया गया तब तुम्हारा पुत्र भूमि पर आया। यहाँ दशार्ण देश में ब्राह्मण के वीर्य द्वारा ब्राह्ण का पुत्र हुआ पुनः कौशल देश का राजा हुआ। फिर महावटी में धीवर का जन्म पाया। पुनः सूर्यवंश में पौण्ड नामक राजा और शल्वदेश में एक कल्प तक सूर्योपासना की। फिर सौवीर देश में सामन्त और त्रिगर्त क्षेत्र में शिवोपासक हुआ। तदनन्तर किरात देश में वंशगुल्म, जाङ्गल देश में हरिण, तालवन में सरीसृप (सर्प), तमाल वन में कुक्कुट (मुर्गा) और वर्तमान में वासुदेव नामक मुनि कुमार होकर तुम्हारा पुत्र तपस्या कर रहा है। (यो.वा.स्थि. ४)

संमोह रूपी शरद् ऋतु के आगमन होने पर यह सर्वाशा (सभी वस्तुओं की इच्छा) रूपी ज्वर के प्रकोप को नष्ट (दूर) करने का उपाय चित्त रहित होने के सिवा जन्तु के लिये नहीं है। (यो.वा.स्थि.स्व. ९०)

शिव की आठ मूर्तियाँ

भवः शर्वोरुद्रःपशुपतिरथोग्रः सहमहान्। तथा भीमेशानावितिपदभिधानाष्टकमिदम्।।

भगवान् शिव की आठ मूर्तियाँ हैं—१. शर्वस्वरूप भूमि के अधिष्ठाता, २. भव जल

५. भीमः–व्योम्नः, ६. पशुपतिः–क्षेत्रज्ञस्य, ७. ईशानः–अर्कस्य, ८. महादेवः–निशाकरस्य।



के अधिष्ठाता हैं, ३. रूद्र अग्नि के अधिष्ठाता हैं, ४. उग्र वायु के अधिष्ठाता हैं, ५. भीम व्योम के अधिष्ठाता हैं, ६. पशुपति क्षेत्रज्ञ के अधिष्ठाता हैं, ७. ईशान सूर्य के अधिष्ठाता हैं और महादेव निशाकर के अधिष्ठाता मूर्ति हैं।

यह सारस पक्षी का चित्र है और यह जल में स्थित है। इस प्रतीक के चित्र का भाव यह है कि सारस पक्षी रस अर्थात् जल में रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता। वह कभी इस जलाशय, कभी उस जलाशय में अपना डेरा डालता रहता है। सारस के इस प्रवृत्ति के कारण ही उसे किसी भी जलाशय से उन्हें राग नहीं हो पाता है और सारस शब्द की इस व्युत्पत्ति 'अरसेन सहितः' को चरितार्थ करता है।

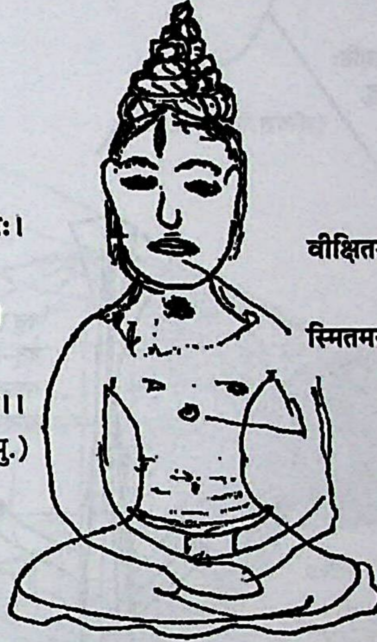
अथवा 'रसेन सहितः सरसः, सरस एव सारसः' जो रस अर्थात् जल के साथ सदा रहे वह सारस है। जल को ही 'नारा' भी कहते हैं और भगवान् नारायण उसी नारा (जल-आप) में रहते हैं—

आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नर सूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।

अतः प्रतीकार्थ यह है कि भगवान् के अयन (आश्रयस्थल) जल में रहने के कारण वह सारस भगवदाश्रित है और उसी सारस के समान मानव को प्रपञ्च में राग रहित होकर परमात्माश्रित होना चाहिये। यही प्रतीक का भाव है।

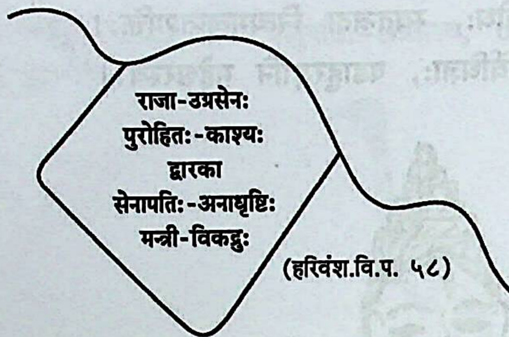
सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः, स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः, षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।।

ज्ञानं विरागतैश्वर्यं,
तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसंवेद्यो,
ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।।
अव्ययानि दशैतानि,
नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे।।
(वायु.पु.)



वीक्षितमस्य भूतानि,
निश्वसितमस्य वेदाः।
स्मितमस्य चराचरम्,
सुप्तं महाप्रलयः।।

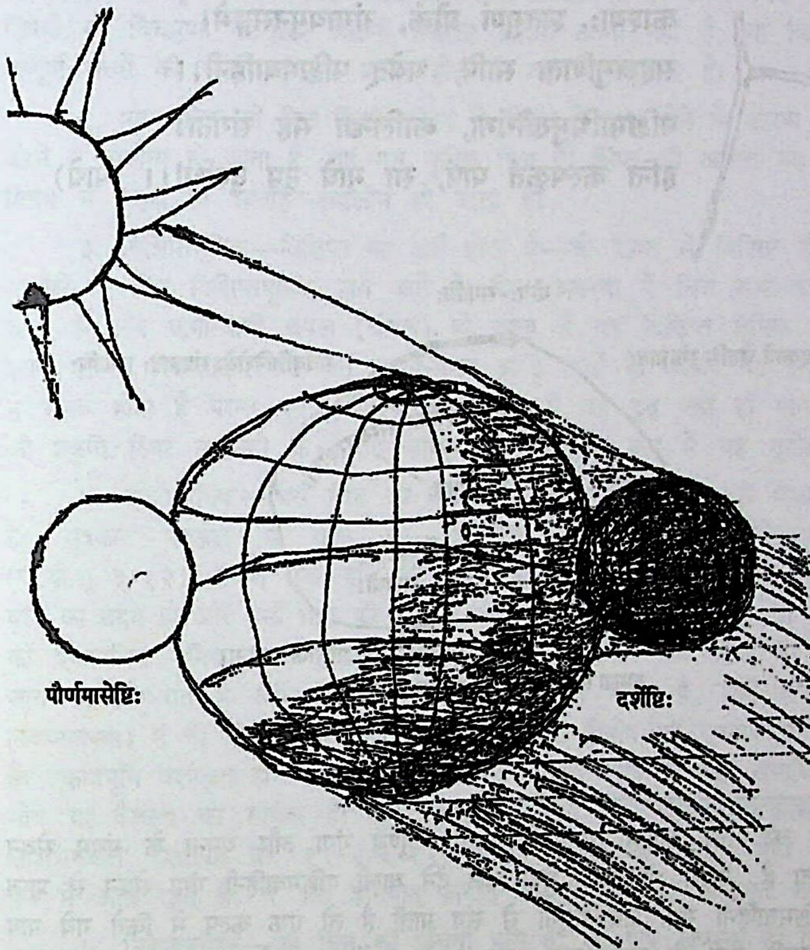
महेश्वर भगवान् शंकर के विग्रह (शरीर) के छः अङ्ग हैं और वे अङ्ग हैं—१. सर्वज्ञतातृप्ति, २. अनादिबोध, ३. नित्य स्वतन्त्रता, ४. नित्य अलुप्त (प्रत्यक्ष) शक्ति (सामर्थ्य), ५. अनन्त (असीमिति) शक्ति और ६. विभुविधिज्ञता। इसके अतिरिक्त भगवान् शंकर में जो दश लक्षण नित्य रहते हैं, वे हैं—१. ज्ञान, २. विरागता, ३. ऐश्वर्य, ४. तप, ५. सत्य, ६. क्षमा, ७. धृति, ८. स्रष्टृत्व (जगत् सृजन सामर्थ्य), ९. आत्मसंवेद्य और १०. अधिष्ठातृत्व। ये दश लक्षण नित्य ही श्री शंकर के अव्यय विग्रह में विराजते हैं। उन भगवान् शंकर के वीक्षण (इच्छा) से पाँचों भूतों (आकाश-वायु-अग्नि-जल और पृथिवी) की उत्पत्ति होती है। उनके निश्वास से सभी वेदों (ज्ञान-विज्ञानों) की उत्पत्ति होती है तथा स्मित (किञ्चित हास्य-मुस्कराहट) से सम्पूर्ण जगत् के चराचर की सृष्टि होती है एवं उनकी सुषुप्ति में महाप्रलय उत्पन्न हो जाता है। उक्त विषय को प्रतीक चित्रांकन के माध्यम से भी कहा गया है। (वायु.पु.)



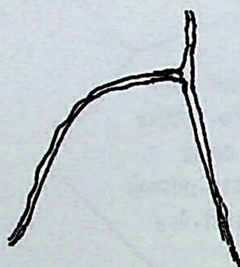


द्वारका के राजा उग्रसेन के पुरोहित-काश्य, सेनापति-अनाधृष्ट और मन्त्री-विकद्रु थे। उक्त विषय को प्रतीक चित्र द्वारा कहा गया है।

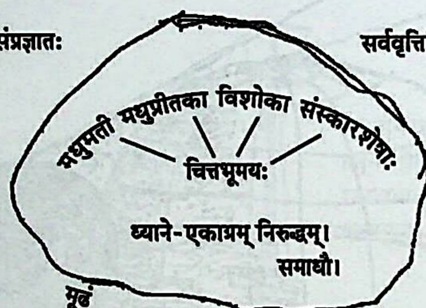
भगवान् वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर मार्मिक 'अणु' नामक भाष्य लिखा है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के चौथे सूत्र 'तत्तु समन्वयात्' की व्याख्या करते हैं कि— सूत्र में तत् पद का अर्थ परमात्मा ब्रह्म ही है जो सम्पूर्ण जगत् के समवायिकारण हैं, इसलिये इस जगत् में अस्तित्व ग्रहण होता है तथा प्रतीति एवं प्रियत्व का ग्रहण स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है। उक्त विषय को प्रतीक द्वारा ऊपर में अंकित किया गया है। (अणुभाष्य)



यागविधि (इष्टि) 'दर्शपूर्णमास' वेद विहित प्रमुख कर्म हैं। यह श्रुति वाक्य— 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् 'दर्शपूर्णमास के द्वारा स्वर्गजनक अपूर्व की भावना करे' है। ये दो प्रकार के हैं—१. दर्श (अमावास्या) से सम्बन्ध रखने वाला तथा पूर्णमास (पूर्णिमा) से सम्बन्ध रखने वाला। चन्द्र पर सूर्य के प्रकाश का अभाव ही दर्श (अमावस्या) कहलाता है और सूर्य के पूर्ण प्रकाश वाला चन्द्रमा को पूर्णिमा कहते हैं। इन दोनों पर्वकाल में किये जाने वाले याग को 'इष्टि' कहते हैं। उक्त इष्टि को प्रतीक चित्र द्वारा दर्शाया गया है।



काश्याः शतगुणं प्रोक्तं, गंगायमुनसङ्गमे।
सहस्रगुणिता सापि, भवेत् पश्चिमवाहिनी।।
पश्चिमाभिमुखीगंगा, कालिन्द्या सह संगता।
हन्ति कल्पकृतं पापं, सा माघे नृप दुर्लभ!।। (पाद्मे)



काशी की उत्तर वाहिनी गंगा से शतगुण पुण्य गंगा और यमुना के संगम सेवन से प्राप्त होता है, उससे भी हजार गुना फल देने वाली पश्चिमवाहिनी गंगा सेवन से प्राप्त होता है। पश्चिमवाहिनी गंगा जब यमुना से संग पाती है तो एक कल्प में किये गये पाप क्षय करने वाली होती है। यहाँ 'नृप' शब्द सम्बोधन् में प्रयुक्त है। अतः अर्थ संगति इस प्रकार होगी—'हे नृप गंगा और यमुना का संगम यदि माघ मास में प्राप्त हो तो वह परम दुर्लभ है और वह कल्पकालिक पापों का क्षय कर देता है। प्रतीक चित्र द्वारा प्रयागराज स्थित पश्चिमवाहिनी गंगा यमुना के संगम को दर्शाया गया है।

चित्त की सहज या स्वाभाविक अवस्था को चित्त की भूमि कहते हैं। चित्त की भूमियाँ पाँच प्रकार की हैं—१. क्षिप्त, २. मूढ, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र, ५. निरुद्ध। उपर्युक्त प्रतीक चित्र द्वारा यही दर्शाया गया है। ये स्वाभाविक या सहज चित्त भूमि है। इन चित्त भूमियों में योगाभ्यास द्वारा प्राप्तव्य मधुमती आदि अवस्था को आगे कहा जायगा। साम्प्रत इन पाँच प्रकार के सहज चित्त भूमि को जानना चाहिये—

१. क्षिप्तभूमिक—जो चित्त स्वभावत: अत्यन्त अस्थिर है, जिस चित्त में अतीन्द्रिय विषयों की विचारणा के लिए जितनी स्थिरता चाहिये उतनी नहीं है, या जिस चित्त को सम्पूर्ण तत्त्वों की सत्ता अचिन्त्य प्रतीत होती है वह क्षिप्तभूमिक है।

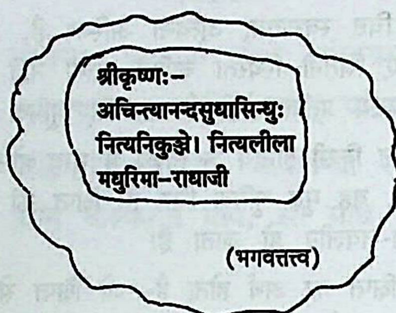
२. मूढ़ भूमिक जो चित्त किसी इन्द्रिय के विषय में मुग्ध होने के कारण तत्त्व चिन्तन करने में अयोग्य हो जाता है, वह मूढ़ भूमिक चित्त है। क्षिप्त की अपेक्षा यह चित्त मोहक विषय में सहज ही समाहित-लवलीन हो जाता है।

३. विक्षिप्तभूमिक—विक्षिप्त का अर्थ होता है—जो क्षिप्त से विशिष्ट हो। अधिकांश साधकों के चित्त विक्षिप्तभूमिक पाये जाते हैं। जिस अवस्था में चित्त कभी-कभी स्थिर हो जाता है और कभी-कभी चपल (चंचल) हो जाता है वह विक्षिप्त भूमिक कहलाता है। इसमें क्षणिक स्थिरताकाल में चित्त श्रवण-मनन आदि तत्त्वों के स्वरूप का अवधारण करने में समर्थ होता है परन्तु पुन: चाञ्चल्य की स्थिति में वह दृढ़ नहीं हो पाता। इस भूमि की प्रकृति स्थिर न रहने के कारण साधक के विघ्न के रूप में यह गृहीत होती है।

४. एकाग्रभूमिक—जिस चित्त का अग्र या अवलम्बन एक है उसे एकाग्रचित्त कहते हैं। सूत्रकार पतञ्जल ने कहा है—'शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणाम:' (पा.यो.सू. ३/१२) अर्थात् एक वृत्ति के निवृत्त होने पर यदि उसके ठीक बाद तदनुरूप वृत्ति का उदय हो और उसी तरह की अनुरूप वृत्तियों का प्रवाह चलता रहे, तो ऐसे चित्तवृत्ति को एकाग्रचित्त भूमिक कहते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता में जब चित्त का स्वभाव बन जाय तो दिन-रात में अधिकांश समय में चित्त एकाग्र रहता है, यहाँ तक कि स्वप्न (स्वप्नावस्था) में भी एकाग्र स्वप्न होता है। इसी स्थिति विशेष को एकाग्रचित्त भूमिक कहते हैं। एकाग्रभूमि वशीकृत होने पर ही संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यही समाधि ही वस्तुत: योग या कैवल्य का साधक है। श्रुति कहती है—'यो ह्येनं पाप्मा माययात्सरति न हैनं सोऽभिभवति' (शतपथ ब्रा. ११/१/६/१२) अर्थात् अज्ञात या अवश भाव से जो पाप मन में आते रहते हैं, वे ऐसे ज्ञानवान् अर्थात् सम्प्रज्ञानवान् को अभिमूत नहीं करते हैं।

५. निरूद्धभूमिक—यह चित्त की पाँचवीं भूमि है, जो शेष अवस्था है। निरोध समाधि 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्य:' के द्वारा जब चित्त का चिरस्थायी निरोध वशीकृत हो जाता है, तब चित्त की उक्त अवस्था को निरोध भूमिक कहते हैं। अभ्यास द्वारा चित्त के विलीन हो जाने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।

जिस योग के द्वारा बुद्धि से लेकर भूत पर्यन्त समस्त तत्त्वों का सर्वतोमुखी और प्रकृष्ट या सूक्ष्मतम ज्ञान होता है और जिस ज्ञान के पश्चात् उस विषय में कुछ भी अज्ञात नहीं रहता है, वही सम्प्रज्ञात (समाधि) होता है। एकाग्रभूमि में समाधि होने पर ही सम्प्रज्ञात योग होता है। एकाग्रचित्त में चित्त को सहज ही अभीष्ट वस्तु में इप्सित (इच्छित) समय तक संलग्न रखा जा सकता है। पदार्थ का जो सत्य ज्ञान है उसे चित्त में सदा रखना



बुद्धिः-प्रमदा, इन्द्रियानि-बालाः।

ही मनुष्य मात्र का अभीष्ट होता है। क्योंकि सत्यज्ञान के चित्त में स्थिर रहने पर मिथ्या ज्ञान का अभाव रहता है, जिससे साधक-मानव प्रसन्न होता है।

साधक योगी चार प्रकार के होते हैं—१. प्रथम कल्पित, २. मधुभूमिक, ३. प्रज्ञाज्योतिः, ४. अतिक्रान्तभावनीय। उनमें जिनका अतीन्द्रियज्ञान केवल प्रवर्तित हो रहा है, वह अभ्यासी योगी प्रथमकल्पिक है। ऋतम्भरप्रज्ञ द्वितीय अर्थात् मधुभूमिक है। भूतेन्द्रियजयी तृतीय अर्थात् प्रज्ञाज्योतिः है तथा जिसका चित्त विलय ही एक मात्र (अवशिष्ट) पुरुषार्थ होता है वह चतुर्थ अतिक्रान्त भावनीय है।

इसमें मधुमती भूमि के साक्षात्कारी ब्रह्मविद् की सत्त्वशुद्धि देखकर स्थानीगण अथवा देवगण उस स्थान के योग्य मनोरम भोग को उपस्थित कर उस सिद्ध साधक को लुभाते हैं। उन देवगणों या स्थानीगणों द्वारा उपमन्त्रित-उपस्थापित उन दिव्य भोग्य पदार्थों से साधक को बचना कठिनतम कार्य होता है। क्योंकि उपस्थित दिव्य भोग को पाकर इन्द्रियाग्नि का प्रज्वलित होने का भय रहता है। साधक यहाँ अपने विवेक और युक्ति के सहारे मन को समझा कर उससे (रक्षित हो) बचे। अन्यथा साधना स्थान से अधः पतन सम्भावित होता है।

चित्त का ध्येय में नितान्त एकाग्रता सम्प्रज्ञात समाधि है। यहाँ ध्याता-ध्येय-ध्यान की स्थिति सूक्ष्म रूप से बनी रहती है अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के सर्वविध प्रगाढ़ हो जाने पर भी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय संस्काररूप (सूक्ष्म रूप) से बनी रहती है और सम्प्रज्ञात समाधि के परिपाक अर्थात् सम्यग् परिलब्धि अवसर काल में मधुमती-मधुप्रतीका-विशोका और संस्कारशेषा आदि सिद्धियाँ देव प्रेरित होकर उपस्थित होती रहती हैं जिससे साधक को स्वयं को बचाना कठोर साधना से सम्भव हो पाता है। (पा.यो.)

भगवान् श्रीकृष्ण अचिन्त्य आनन्द सुधा के सिन्धु हैं अर्थात् परमात्मा कृष्ण ब्रह्म हैं और ब्रह्म का स्वरूप 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः' तथा



मुक्तिमिच्छसि चेत्तात, विषयान्विषयत् त्यज।
क्षमाऽऽर्जवदतयातोषु, सत्यंपीयूषवद् भज।। (अष्टा व.गीता)

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः' (केनोप. १/२-३) एवं 'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अथोऽन्यतर आत्मानन्दमयः'। (तैत्तरीयो. ५/१) और एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्' (श्वेताश्वरोप. १/१२), 'वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति र्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः' (श्वेताश्वरोप. १/१३), 'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः। एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपस्या योऽनुपश्यति।।'' (श्वेताश्वरोप. १/१५) बहुत गूढ़ है। वह आनन्दस्वरूप है और अचिन्त्य भी है, क्योंकि इन इन्द्रियों से वह परे है। उसका स्थान हृदय रूपी गुहास्थान है और वही निकुञ्ज है अर्थात् हृदयगुहा ही निकुञ्ज है जहाँ पर आनन्द की नित्य लीला होती है। इसे इस प्रकार क्रम में जानें कि—भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं और आत्मा आनन्द स्वरूप है और उसका स्थान हृदय स्थित गुहास्थान है जिसे यहाँ निकुञ्ज शब्द से कहा गया है। उस हृदय निकुञ्ज में परमात्मा श्रीकृष्ण आत्मा स्वरूप (आनन्द स्वरूप) से नित्य (निरन्तर) लीला करते हैं। उस लीला की जो मधुरिमा (मिठास) है वह राधाजी हैं। राधा शब्द 'राध् संसिद्धौ' धातु से निष्पन्न है और जब साधक का चिन्तन-मनन संसिद्धि को प्राप्त होता है तो आनन्द रस की निष्पत्ति होती है तथा आनन्द रस की जो मधुरिमा (मीठापन) है वह राधाजी हैं। मधुरिमा और राधा दोनों स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं।

उस परमात्मा श्रीकृष्ण की नित्यीलाल में राधा के साथ व्रज की प्रमदाएँ (वनिताएँ) भी साथ हैं और व्रज के गोप बाल-गोपाल भी हैं। यहाँ प्रमदा साधक की बुद्धि है और गोपाल बाल इन्द्रियाँ हैं। गो इन्द्रिय को भी कहते हैं। गोप और गोपी दोनों का अर्थ इन्द्रिय संरक्षक और संरक्षिता का है, जो इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त कर परमात्म चिन्तन में संयोजित करता है तथा सतत् प्रयत्नशील होता है वही उस नित्य रासलीला में प्रविष्टि का अधिकारी होता है। पातञ्जल सूत्र में 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (१/१२) उसका (इन्द्रिय का) निरोध अभ्यास और वैराग्य से प्राप्त होता है। इस तरह संगति करने से भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य रासलीला-राधा-गोप-गोपी आदि का रहस्योद्घाटन सम्भव हो सकेगा अन्यथा मन्दबुद्धिस्थ मानव के समान अज्ञान मोह सागर में डूबने के अलावा कोई अन्य गति प्राप्त नहीं हो सकती। (भगवत्तत्त्व)

हे तात! हे बुद्धिमान् मानवों! साधको! मुमुक्षो! यदि आप वास्तविक में मुक्ति (मोक्ष) की इच्छा रखते हों तो इन जगत् के विषयों को हालाहल विष जानों और उसे त्याग

राम प्रश्नाः

अनन्तस्याप्रमेयस्य, कलना कथमागता?

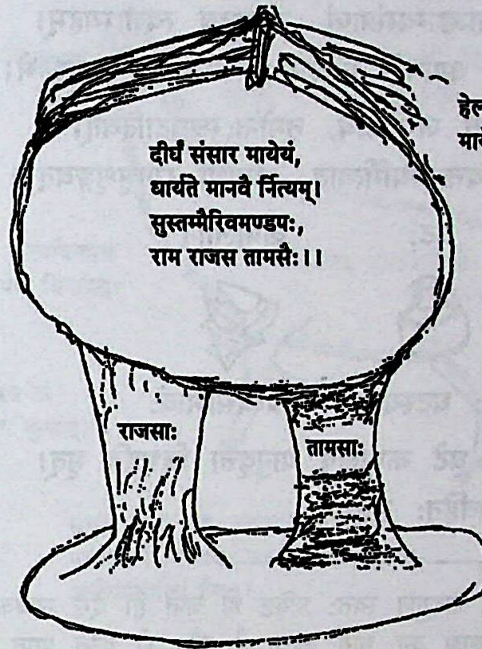
वशिष्ठोत्तरम्

स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः, स्फुरत्यच्छश्चिदर्णवः।
एकात्मकमखण्डं त, दित्यन्तर्भाव्यतां दृढम्।। (योग वा. स्थिति.)

यथाप्राप्तानुभवनात्,
सर्वत्रानभिवाञ्छनात्। त्यागादानपरित्यागात्।
विज्वरो भव राघव? (यो.वा.उ.)

दो और क्षमा-आर्जव-दया तथा तोष जो अमृत परिणामी अर्थात् परिणाम में सुखदायी है उसे पियूष (अमृत) समझ कर पान किया करो अन्यथा मोक्ष सम्भव नहीं हो सकता।
(अष्टावक्रगीता १/२)

भगवान् राम अपने कुलगुरु योगीन्द्र ब्रह्मविद् वशिष्ठ जी से विद्याध्ययन क्रम में प्रश्न करते हैं—हे गुरो! अनन्त-अप्रमेय-निरंजन-अक्रिय-सर्वविकल्प रहित इस आत्मा के स्वभाव होने पर भी इसमें कर्तृत्वादि अनन्त धर्माधान सम्भव कैसे हुआ? निर्धर्मक आत्मा सधर्मक कैसे हुआ? ब्रह्मविद्-योगीन्द्र-ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी ने राम को उत्तर में उपदेश दिये—हे राम! आत्मा अपने स्वभाव से स्वच्छ-निर्मल-निर्धर्मक-निर्लेप-निरञ्जन है, परन्तु जीवात्मा के अन्तःकरण के जगद्विषयक इच्छा (परिस्पन्द-कल्पन-चेष्टा-व्यापार) होने पर यह सधर्मक कर्त्ता-भोक्ता-आदि सांसारिक धर्मों से परिच्छिन्न हो जाता है। जिस तरह समुद्र शान्त होता है तो उसके जल में कोई क्रिया नहीं होती वह अक्रिय होता है, परन्तु मत्स्यादि अथवा वायु अथवा प्राकृतिक स्तर पर हलचल से विकार होने पर जो स्थिति होती है वैसी ही स्थिति यहाँ अध्यात्म पक्ष में चित्त विकार जनित प्रक्षोभ से परिस्पन्दन होती है जो मात्र चित्त (अन्तःकरण) का धर्म है। इसलिये हे राघव! साधक को यथा प्राप्त परिस्थिति को चिन्तन-मनन करना चाहिये कि जो भी विकार जात दृश्य है यह मूलाधिष्ठान आत्मा में परिकल्पित मात्र है। अतः वह असत् है। उसे देखकर-समझकर आदान-प्रदान व्यवहार के मौलिक सत्य का निर्धारण कर सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च का मूल आत्मा को ही सत्य और नित्य वस्तु के रूप में ग्रहण करना चाहिये और स्वस्थ (स्वेऽस्मिन् स्थितः) चित्त रहकर व्यवहार प्रवर्तन करना चाहिये। (यो.वा.उ.स्थि.)



यस्येदं जन्म पाश्चात्यं, तस्य चैव महामते।
विशन्ति विमलाविद्याः, मुक्तावेणुमिवोत्तमम्।।
आर्यता-हृद्यता मैत्री, सौम्यता मुक्तता ज्ञता। (योगवा.उ.)

हे राम! यह जो विस्तृत (विशाल) संसार है जिसे मानव नित्यरूप से धारण किया हुआ है सो यह सम्पूर्ण संसार एक मण्डपोपमित है, जो राजस तथा तामस रूपी दो दृढ़ स्तम्भ पर टिका हुआ है। ऐसे दृढ़स्तम्भी दीर्घ (विस्तृत) संसार से निवृत्ति परमात्म बोध से सम्भव है। परमात्मा के सम्यज्ज्ञान हो जाने पर यह संसार जैसे सर्प अपने पके हुए केचुए को अनायास-लीलापूर्वक-बिना श्रम का त्याग देता है, उसी प्रकार इसे त्यागने में अर्थात् इससे मुक्त होने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। प्रतीक चित्र द्वारा इसी को दर्शाया गया है। (योग वा.उ.)

हे महामते! जिस साधक की साधना परिपूर्ण हो चुकी है अर्थात् जो परमात्म तत्त्व को सम्यग् जान लिया है उसमें मुक्त वेणु (बाँस विशेष) में जिस तरह वायु आदि स्वतः प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार उस साधक के स्वच्छ आत्मा में आर्यता-हृद्यता-मैत्री-सौम्यता-

नाभिवाञ्छाम्यसंप्राप्तं, संप्राप्तन्न त्यजाभ्यहम्।
स्वच्छ आत्मनि तिष्ठामि, यन्ममास्तु तदस्तु मे।। (यो.वा.उ.)

सत्त्वपूर्वं जगत्कार्यं, तमोन्तःस्थघटादिवत्।
अभिव्यक्तत्वधर्मित्वात्, अन्यथा स्यान्नृशृङ्गवत्।। (वृ.उ. १/१)

मृत् घटः कपालानि

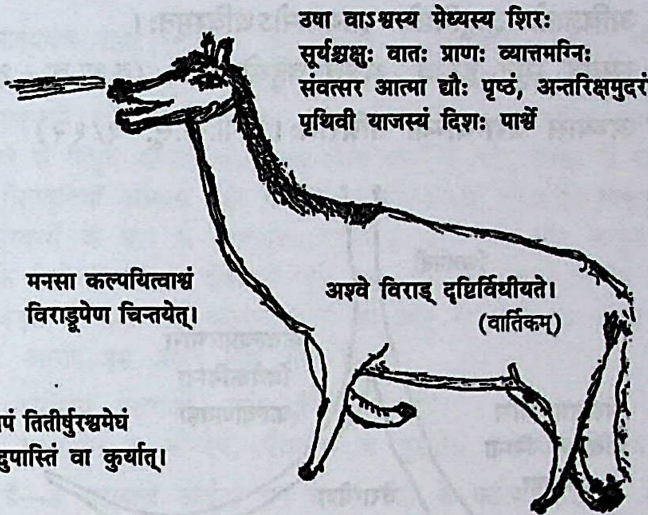
  

प्रागभावः घटस्य प्रध्वंसाभावः

पिण्डे घटे कपालेषु यानुवृत्ता विभाति मृत्।
सा सर्वहेतुः सत्।।

मुक्तता और ज्ञता आदि सद्गुण स्वतः प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे साधक प्रारब्धवश उपस्थित वस्तु को ही अपना समझ कर भोग करता है और जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसके लिये त्याग भाव रखता है। वे अपने स्वच्छ आत्मा में यही भाव रखता है कि जो मेरी वस्तु है वही मेरी है और जो वस्तु मेरी नहीं है वह मेरी नहीं है। इस प्रकार का ग्रहण-त्याग वृत्ति के द्वारा वह शरीर निर्वाह मात्र करता है। (योग वा.उ.)

सत् पदार्थ त्रैकालिक भाव वाला होता है 'त्रिकालाबाधित्त्वं सत्यत्वम्' जिसका भाव (सत्ता) तीनों कालों में अबाधित होकर रहे वह सत् पदार्थ है। यहाँ घट प्रतीक द्वारा उसी को कहा जा रहा है कि—घट का प्रागभाव मृत्तिका (मिट्टी) है। मिट्टी से घट बनता है और घटोत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका में घट का प्रागभाव (उत्पत्ति से पूर्व अभाव) रहता है, पुनः घट उत्पन्न होता तथा घट के ध्वंस (नाश) होने पर घट का पुनः अभाव हो जाता है, जिसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। इसमें तीन काल-भविष्य वर्तमान और भूत की स्थिति होती है। घट और घटध्वंस मृत्तिका का ही परिणाम है जो तीनों कालों में एक जैसा नहीं रहता अर्थात् प्रथमकाल में चित्रगत मृत्पिण्ड रूप, द्वितीय काल में चित्रगत घटरूप और तृतीय काल में प्रध्वंस (नष्ट घट) कपाल रूप है। इस तरह मृत्पिण्ड-घट और ध्वंस कपाल में केवल मृत्तिक ही अनुवृत्त (तीनों काल-तीनों अवस्था) रहता है और मृत्तिका ही यहाँ सत् पदार्थ (वस्तु) है। इसी प्रकार जगत् प्रपञ्च परमात्म तत्त्व से उत्पन्न, उसी में स्थिति प्राप्त और उसी में लय प्राप्त करता है। अतः परमात्म तत्त्व मात्र सद्वस्तु है शेष नृ (नर) शृङ्गवत् असद्वस्तु है जानना चाहिये। (वृ.उ. १/१)



उषा वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिरः
सूर्यश्चक्षुः वातः प्राणः व्यात्तमग्निः
संवत्सर आत्मा द्यौः पृष्ठं, अन्तरिक्षमुदरं
पृथिवी याजस्यं दिशः पार्श्वे

मनसा कल्पयित्वाश्वं
विराड्रूपेण चिन्तयेत्।

अश्वे विराड् दृष्टिर्विधीयते।
(वार्तिकम्)

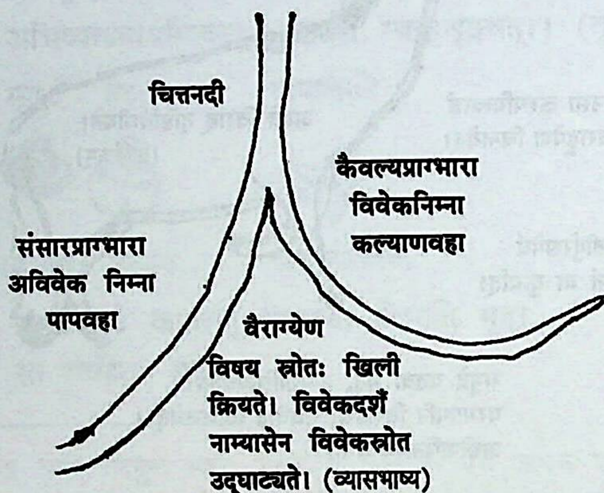
पापं तितीर्षुरश्वमेधं
तदुपास्तिं वा कुर्यात्।

समुद्रे वडवा यद्, उत्पद्याश्रित्यवर्तते।
परमात्मनि विराडश्वः तथैवेति विचिन्तयेत्।।
अश्वोपास्तिरियं ज्ञेया।।

प्रकृत प्रसंग में अश्वमेध विद्या (विज्ञान) को कहने के उद्देश्य से ही 'उषा वा अश्वस्य' यह मन्त्र उपस्थित किया गया है। अश्वमेधयज्ञ में अश्व की प्रधानता के कारण ही उपासक को अश्व सम्बन्धी दृष्टि को स्वीकार करने को कहा गया है। यह अश्वमेध यज्ञ 'अश्व' नाम से अंकित है और इसके देवता प्रजापति हैं। इसलिए इसमें अश्व की दृष्टि की प्रधानता मानी गयी है।

अश्वमेध यज्ञानुष्ठाता साधक अश्व के विग्रह (शरीर) के अङ्गों में किस-किस दृष्टि का आधान करे? सो कहते हैं—उषा (ब्राह्ममुहूर्त) अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी अश्व का शिर है, सूर्य-नेत्र, वायु-प्राण, वैश्वानर-अग्नि-अश्व के खुला हुआ मुख, संवत्सर-अश्व की आत्मा, द्युलोक-पीठ, अन्तरिक्ष-उदर, पृथिवी-पैर स्थापन स्थान, दिशाएँ-पार्श्वभाग, अवान्तर दिशाएँ-पसलियाँ, ऋतुएँ-अङ्ग, मास (महीना) और अर्धमास (१५ दिन)-पर्व अर्थात् सन्धिस्थान, दिन और रात्रि-प्रतिष्ठा (पाद), नक्षत्र-अस्थियाँ, आकाश (आकाशस्थित मेघ)-मांस, वालू-ऊवध्य (उदरस्थित अर्धपक्व अन्न), नदियाँ-नाड़ी, पर्वत-यकृत् (जिगर) और हृदयगत मांसखण्ड हैं। उस अश्व के वनस्पतियाँ और ओषधि-लोम, ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य-नाभि से ऊपर का भाग, नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य-कटि से नीचे का भाग, अश्व की जमुहाई-विजली का चमकना, शरीर का कम्पन (हिलाना)-मेघ गर्जन, अश्व का मूत्र त्याग-वर्षा और अश्व

अविज्ञातो ज्ञातुमिष्टो, ज्ञायमानोऽथविस्मृतः।
स्मर्यते स्मृत इत्येवं, सन्नेव बहुधोच्यते।। (वृ.भा.वा. १/२)
अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (पा.यो.सू. १/१२)



की वाणी ही उसकी वाणी है। जो पापों से तरण (छुटकारा) चाहता है, वह अश्वमेघ करे या उक्त दृष्टि से उपासना करे। समुद्र से अश्व की उत्पत्ति हुई, इसलिए उसी भावना से उपासना करे। (वृ.उ. १/१/वार्तिक)

जो ज्ञात नहीं है उसे जानने की इच्छा होती है। जिस वस्तु को जान जाते हैं उसे कुछ समय बाद विस्मृत भी कर जाते हैं क्योंकि जो स्मरण किया जाता है वही स्मृत होता है परन्तु सत् के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं होती क्योंकि सत् पहले प्रत्यक्ष विषय था। वह स्मरण का विषय नहीं था। स्मरण तो विस्मृत का ही होता है और जिस समय स्मरण होता है तो वह स्मर्यमान वस्तु सम्मुख नहीं होता है अर्थात् पूर्वदृष्ट का ही स्मरण होता है। सदात्मा (सत् स्वरूप आत्मा) के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता। आत्म विस्मरण यदि मान भी लिया जाय तो स्मृति काल में सम्मुख ही होगा अतः आत्म स्मरण को स्मृति नहीं कह सकते। जिस प्रकार कण्ठहार का विस्मरण हो जाने पर उसकी स्मृति को स्मरण श्रेणी में कैसे रखा जाय? वह तो कण्ठगत होने से अपरोक्ष ही है। (वृ.भा.वा. १/२)

चित्त में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निन्द्रा से जन्य विभिन्न वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। वे वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की होती हैं। जो चित्तवृत्ति योगसाधन

में श्रद्धा-उत्साहवर्धक तथा आत्मज्ञान में सहायक हो वे अक्लिष्ट और जो विषयभोग के प्रति राग-द्वेष कारक होती हैं वे क्लिष्ट हैं। विषयों के प्रति स्वभावतः प्रसृत होने वाली अर्थात् विषयानुपाती वृत्तियाँ योग साधन में बाधक होती है इसलिये साधकों को उसके निरोध (विषयों से निवृत्त करना) की आवश्यकता होती है और उसके दो उपाय यहाँ बताये गये हैं—वे चित्तवृत्तियाँ अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निरुद्ध होती है। चित्तवृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बल से स्वभावतः सांसारिक भोगों की ओर उन्मुख रहती है और उसे रोकने के लिये विषयों में दोषदर्शन वृत्ति का जनन कर उससे विरक्ति भाव का उद्भाव को वैराग्य कहते हैं तथा उसे कल्याण मार्ग की ओर ले जाने का सतत प्रयास अभ्यास है। इसी को अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है—

असंशयं महावाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।। (श्रीमद्भग.गी. ६/३५)

अर्थ है—हे महाबाहो अर्जुन! मन चञ्चल होने के कारण कठिनता से वश में होने वाला है यह निःसन्देह विषय है, परन्तु यह मन अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में होता है।

अब प्रश्न उठता है कि वह किस प्रकार होगा? भाष्यकार व्यास जी कहते हैं—'चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भारा अविवेकविषय निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोतः उद्घाट्यते-इत्युभयाधीनश्चित्त-वृत्तिनिरोधः। इसका भाषार्थ है—चित्त नामक नदी दोनों दिशाओं में बहती है। वह कल्याण की ओर भी बहती है और पाप की ओर भी बहती है,जैसा प्रतीक चित्राङ्कण द्वारा ऊपर चित्रित है। जो विवेक विषयरूप निम्नमार्ग से जाती है और कैवल्यरूप उच्चभूमि (कल्याणमूला) तक बहती है वह कल्याणवहा है, और जो अविवेक-विषयरूप निम्नमार्ग से जाती है तथा संसारप्राग्भार (पापमूल) तक बहती है वह पापवहा है। इसमें वैराग्य द्वारा विषयस्रोत मन्द या कम किया जाता है या हो जाता है और विवेक दर्शन के अभ्यास द्वारा विवेक स्रोत उद्घाटित किया जाता है या होता है। इस प्रकार साधक के वैराग्य एवं अभ्यास के सतत् प्रयत्न से चित्तवृत्ति का निरोध सम्भव होता है। ये दोनों वैराग्य और अभ्यास मोक्ष साधन के साधरणतम उपाय है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अनेक व्यक्ति साधन की कठिनाई देख कर और दुर्दम प्रकृति को अधीन न कर सकने के कारण 'ईश्वर द्वारा नियोजित होकर सब कार्य हो रहा है' ऐसा विचार अंगीकृत करते हैं और प्रवृत्ति मार्ग का ही आश्रय लेते हैं, परन्तु यह विचारणीय है कि ईश्वर द्वारा नियोजित कर्म हो या जिस किसी प्रकार से हो, पापाभ्यास करने पर उसका अशुभ फल भोगना ही पड़ेगा। पक्षान्तर विचार यह भी है कि—'ईश्वर

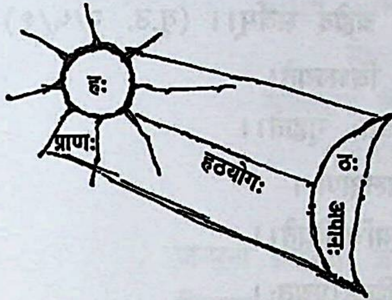
यावद्विज्ञानसामीप्यं,
तावच्छ्रैष्ठ्यं प्रवर्धते।। (पञ्चद.ध्या.)

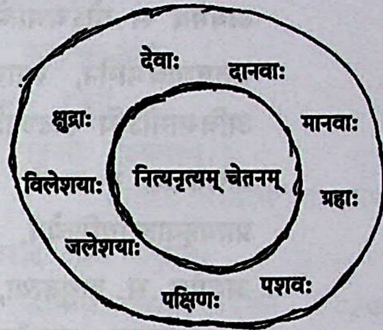


द्वारा नियोजित होकर सम्पूर्ण कार्य कर रहा हूँ' यह विचारभाव भी अभ्यसनीय ही है। प्रत्येक कर्म में इस प्रकार सोचने से यह उक्ति (विचार) यथार्थ और कल्याणकर हो सकती है/होती है, परन्तु उच्छृङ्खल प्रवृत्ति मार्ग में विचरण करने के लिए इस दृष्टि को प्रमाण मानने पर सिवाय दुःख के क्या फल होगा? प्रयत्न के बिना मोक्ष लाभ होने पर प्रत्येक जीवात्मा को मोक्ष लाभ सम्भव हो जायगा, जो कथमपि सम्भव नहीं है।

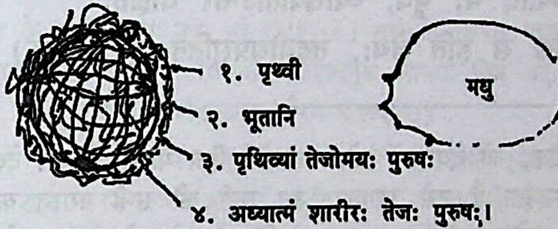
(पा.यो.सू. १/१२ व्या.भा.)

यहाँ उपासना क्रम से लभ्य लक्ष्य ब्रह्मज्ञान को प्रतीक चित्र और संकेत वाक्य द्वारा दर्शाया गया है जो उत्तम लाभकारी है। पामरव्यवहार तो अन्धव्यवहार ही है तथा जो संसृतिरूपी दुःखद गर्त को प्राप्त कराने वाला होता है, परन्तु सौभाग्यवश-प्रारब्धवश अथवा सत्प्रयत्न से यदि मुमुक्षुत्व जागृत हो जाय और तदनुकूल कर्मानुष्ठान का प्रारम्भ हो तो यह आत्मोद्धार का प्रथम सोपान है। कर्मानुष्ठान से सगुणोपासना (द्वितीय सोपान) की प्राप्ति, तदनन्तर निर्गुणोपासना (तृतीय सोपान) की प्राप्ति और उसके बाद ब्रह्मज्ञान सुलभ होता है। यहाँ ध्यान रहे कि ब्रह्मज्ञान परिलब्धि के पूर्व उपासना की सभी पद्धतियाँ (प्रयत्न) साधन कोटि में है, क्योंकि मुमुक्षु का परमलक्ष्य ब्रह्मज्ञान ही होता है। ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। श्रुति कहती है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञान पद से ब्रह्मज्ञान ही स्वीकृत मत है। ब्रह्मबोध यावत् रहता है तावत् ही जीवात्मा का श्रेष्ठत्व है। ब्रह्मविज्ञान सामीप्य (विज्ञानधारा) ही श्रेष्ठत्व का प्रवर्धन करता है। (पंचदशी ध्या.दी.प्र. १/२२)





इदं सर्वं यदयमात्मा। (वृ.उ.२/४/६)



हठयोग शब्द में दो वर्ण हैं—ह और ठ इन दोनों वर्णों के सन्धि से हठ शब्द बना है। 'हः' वर्ण सूर्यनाड़ी और ठः चन्द्र नाड़ी का प्रतीक है। इसी प्रकार 'हः' मुख्यप्राण और 'ठः' अपान वायु है। 'हः' पूरक प्राणायामगत वायु (प्राण) और 'ठः' रेचक प्राणायामगत वायु (अपान) है। दोनों को रोकना (प्राणायाम क्रिया विशेष) कुम्भक प्राणायाम होता है। इस सम्बन्ध में संक्षेपतः इतनी ही बातें यहाँ कहना उचित है। यहाँ सम्पूर्ण हठक्रिया (प्राणायाम विधि) अति विस्तृत होगा। यह प्रथम प्रतीक चित्राङ्कण कहा। अब द्वितीय प्रतीक चित्राङ्कण के द्वारा चेतन तत्त्व के सम्बन्ध में कहा जा रहा है—

देव-दानव-मानव-ग्रहादि-पशु-पक्षी-जलजीव-सर्पादि बिलाश्रयी जीव और अन्य क्षुद्र जीव जन्तुओं में जो नित्य नृत्य कर रहा है वही चेतन परमात्मा ब्रह्म है।

यहाँ वृहदारण्य उपनिषद् के अध्याय-२, ब्राह्मण-४, मन्त्र-६, अंश 'इदं सर्वं यदयमात्मा' उदधृत है। इसके सम्पूर्ण भाव को समझने के लिये सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ (भावार्थ) लिखना आवश्यक समझता हूँ—यह सर्वमान्य और सर्वस्वीकार्य अनुभव है कि आत्मा सबसे अभिन्न है, इसी अभिप्राय से श्रुति भगवती कहती है—ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न जानता है। क्षत्रिय जाति भी उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न जानता है। इसी तरह जो लोक को आत्मा से

अयमेव स योऽयभात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।। (वृ.उ. २/५/१)

चतुष्टयविभागेन, स्वार्थोऽत्यात्मा विभज्यते।
अविभागोऽपि तादर्थ्याद्, भोक्ताऽतः गृह्यते।।
प्रत्यक्तया य प्रथते, चतुष्टय विलक्षणः।
प्रात्यक्ष्यात्सोयमित्येवं, प्रत्यक्साक्ष्यभिधीयते।।
अयमेव स इत्युक्त्या, सामान्याधिकरण्यतः।
प्रत्यङ्मात्रस्य, चतुदौक्तस्य बोध्यते।।
पृथिव्यादि यः पूर्वं, व्याख्यातोऽन्तर वाह्यतः।
आत्मैव स इति ज्ञेयः, तदबोधप्रसूतितः।। (वार्तिक)

भिन्न मानता है उसे लोक, जो देवताओं को आत्मा से भिन्न मानता है उसे देव, जो भूतगण को आत्मा से भिन्न मानता है उसे भूतगण, उन सभी को सभी परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है। यह ब्राह्मण-क्षत्रिय-ये लोक-ये देवगण ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही हैं।

अब वेदान्त प्रसिद्ध मधुविद्या (मधुदृष्टि) द्वारा सभी भूतों में उनके अन्तवर्ती पुरुष के साथ शरीर, पुरुष की अभिन्नता को कहा जा रहा है—यह पृथिवी समस्त भूतों का मधु है और सभी भूत इस पृथिवी का मधु है। इस पृथिवी में जो यह तेजोमय-अमृतमय अध्यात्म शारीर पुरुष है और जो अध्यात्म शारीर तेजोमय-अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'आत्मा है' (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है।

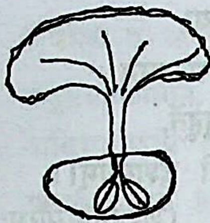
पूर्व में उधृत पृथिवी प्रतीक के पार्श्ववर्त्यङ्कित जो क्रमशः पृथिव्यादि चार विभाग है वह स्वार्थ अर्थात् स्व अर्थात् आत्मा का ही अर्थ (वाचक) है और अविभाग (समष्टि) अर्थ में भी तादर्थ्यात् भोक्ता रूप से सर्वत्र गृहीत ही है। यही आत्मा प्रत्यक्चेतन स्वरूप से सभी में प्रथन कार्य करता है और यह सभी से विलक्षण भी है। यह आत्मा प्रत्यक्षस्थूल स्थल में 'सोऽयं' यह वही है इस प्रकार से ग्रहण होता है वही सबका साक्षी रूप है। यह सभी का अधिकरण (अधिष्ठान) है और प्रत्यङ् रूप से चतुर्धा विभक्त प्रतीत होता है। यह पृथिवी आदि पंचभूतों के सृजन से पूर्व अन्दर और बाहर दोनों स्थल में था और आज भी है। अतः इसे पुराण पुरुष भी कहा गया है, सो यह स्व-स्व बोध प्रसूति अर्थात् स्वानुभवगम्य सर्वजनीन प्रतीति का विषय होने से आत्मा स्वरूप से सर्वत्र ग्राह्य है। इसलिए श्रुति भगवती कहती है—'इदं सर्वं यदयमात्मा'। (वृ.उ. २/५/१ एवं वार्तिक)

प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या,
मेकाधिकशतेन चतुःसहस्राम्।
सम्वत्सरं विभवनाम्निशुभे मुहूर्ते,
राधेसितेशिवगुरोर्गृहणी दशम्याम्।।
(शंकरन्दारसौरभः नीलकण्ठः)

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयो, संस्काराद द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं, त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।। (मनु. १०/७४)

कलियुग के चार हजार एक सौ (४१००) वर्ष के विभव नामक संवत्सर में वैशाख मास के शुक्लपक्ष की दशमी तिथि को श्रीशिवगुरू नामक विप्र की पत्नी के गर्भ से श्री आद्यशंकराचार्य उत्पन्न हुए। (शंकरमन्दारसौरभ-नीलकण्ठ)

स्मृतिकार भगवान् मनु ने कहा है—जन्म से जो जाति (उत्पत्ति) जैसी है वैसी ही होती है। जाति शब्द जनन-उत्पत्ति-प्रसवण-प्रसूति आदि वाचक ही है। जाति शब्द का अन्यत्र अर्थ में प्रयोग भ्रामक ही होगा। "जाति जातं च सामान्यं व्यक्तिस्तु पृथगात्मना।' सामान्य उत्पत्ति को जाति कहते हैं। इसलिए ब्राह्मण से उत्पन्न ब्राह्मण ही होता है और उस ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत संस्कार होने पर वह द्विज संज्ञक होता है। वेदादि शास्त्र के मर्म को जानने पर वह विप्र और तीनों गुण अर्थात् ब्राह्मणकुलोत्पति-यज्ञोपवीत संस्कार तथा वेदादि शास्त्र का सम्यक् बोध होने पर श्रोत्रिय संज्ञक होता है। यदि जन्मना न मानें तो गेहूँ-चना और आम-बबूल होगा और मानवों में अव्यवस्था दोष उत्पन्न होगा। अतः जन्मना ही जन्य का निर्धारण उत्तम पक्ष है। परन्तु संस्करादि के अभाव या अनमनस्क भाव से संस्कार को निष्पन्न कर देने मात्र से वह द्विज या विप्र अथवा श्रोत्रिय होगा सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रथम तो जन्म से ब्राह्मण समझ में आता है परन्तु वास्तविक गुणाधान के अभाव में द्विज-विप्र और श्रोत्रिय सम्भव कैसे होगा? क्योंकि—'स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकोऽतीन्द्रियोधर्मः संस्कारः।' स्वाश्रय की प्रागुद्भव अवस्था के समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही संस्कार है। जैमिनि सूत्र—'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' के शाबरभाष्य के अनुसार 'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थों भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य' अर्थात् संस्कार वह है जिसके आधान से वस्तु या व्यक्ति किसी प्रयोजन के लिए योग्य होता है। तन्त्रवार्तिककार श्रीभट्टपाद के अनुसार—'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते' अर्थात् जिसके (संस्कार के) होने पर वस्तु या व्यक्ति में प्रयोजनार्थ योग्यता की धारणा लाभ हो वह संस्कार है। संस्कार का प्रभाव जीवन पर्यन्त रहता है—



इदं रम्यमिदं नेति,
बीजं ते दुःखसन्ततेः।
तस्मिन् साम्याग्निना दग्धे
दुःखस्यावसर कुतः।।
(अन्नपूर्णा उ. ५/७०)

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।' काशिका वृत्ति में 'उत्कर्षाधानं संस्कारः' कहा है, अर्थात् उत्कर्ष के आधान (स्थापन) को संस्कार कहते हैं। संस्कार प्रकाश के अनुसार 'अतिशयविशेषः संस्कारः' कहा है अर्थात् अतिशय गुण का आधान संस्कार है। आचार्य चरक के अनुसार—'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'। अर्थात् जो गुण उसमें नहीं है उस गुण का उसमें आधान करना संस्कार है। वीरमित्रोदय के अनुसार—'आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशय-विशेषो संस्कारः।' आत्मा अथवा शरीर किसी में बीज रूप से स्थित गुण विशेष को विहित (शास्त्र निर्धारित) क्रिया द्वारा अतिशयरूपेन उत्पन्न करना संस्कार है। पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।' (पा.यो.सू. १/१८) अर्थ है—विराम-प्रत्यय का अभ्यास जिसकी पूर्वावस्था है और संस्कार शेष है जिसमें वह योग अन्य है। 'द्विविधाचित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः' (भोजवृत्ति), 'संस्काराश्चित्तधर्माः पूर्वजन्मपरम्परासंचिताः सन्ति' (योग सुधाकर), 'तज्जःसंस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (यो.सू. १/५०), संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' (अमरकोष २/१३४)। इस प्रकार यह अर्थ निश्चय होता है कि किसी वस्तु का संस्करण करना ही संस्कार है। संस्कार शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातु को 'घञ्' प्रत्यय और 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' (पा.सू. ६/१/१३७) सूत्र के द्वारा भूषण अर्थ में 'सुट्' करने पर निष्पन्न होता है। इसलिये संस्कार ही किसी वस्तु और मानव की शोभा है। परन्तु आजकल पश्चिमी अन्ध संस्कृति के प्रति भारतीयों के मति पलायन ने उन्हें आँख और विचार रहते हुए भी अन्धा और जड़वत् बना दिया है। वह स्वात्म संस्कार को भूलकर पशुवत् केवल पेट भरने और उपभोग साधन के एकत्रीकरण को ही मानव जीवन का परम लक्ष्य मान बैठा है। (मनु. १०/७४)

यह रम्य (मनोहारी) है यह नहीं है इस प्रकार जीवात्मा जगद्वस्तुओं में सदा बुद्धि रखता है। परन्तु जगद्वस्तु न तो रम्य है और न ही कुरूप है। यह दृष्टि जीवात्मा की इसलिए है कि उसके मूल में रजोगुण और तमोगुण जन्य कर्म और भोग रूप दो बीज हैं, जो इस दृष्टि का उद्भावक है। परन्तु जिसने समता रूपी अग्नि के द्वारा इन उपर्युक्त रजोगुण-तमोगुण उद्भूत कर्म और भोग रूपी बीज को भस्मसात कर दिया है, उसके लिए यह अच्छा है यह बुरा है इस प्रकार के चिन्तन से उत्पन्न दुःख का अवसर ही कहाँ है?
(अन्नपू. उ. ५/७०)

परस्परानभिव्याप्ते, नामरूपक्रियात्मनाम्।
व्यभिचारादकृत्स्नत्वं, स्यादनात्मैकरूपिणाम्।।
(वृ.उ.भा.वा. १/४/६४)

निरस्तावयवे व्योम्नि, मिथो भिन्न प्रदेशिनाम्।
न संभाव्या यथा सिद्धिः, प्रतीच्येवं तमोवताम्।।
(व.उ.वा.भा. १/४/८४)

असङ्गोदासीने, अज्ञानं तज्जानताम्। (टी.)
व्यक्तीति वाग्भवेदात्मा, ह्युच्यते वाग्भवेद्ध्वनिः।
उच्यतेऽतयेतिकरणं, त्रिधा-त्रिधा व्यवच्छिन्ना।।
(वृ.उ.वा.भा. १/८०)

चक्षुराकनायैव, संशयं कुरुते मनः।
बुद्धिरध्यवसानाय, साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते।। (वृ.उ.वा.भा.१/८२)

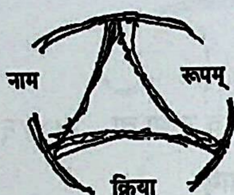
नाम-रूप और क्रिया के परस्पर अनभिव्याप्ति की स्थिति में व्यभिचार दोष के कारण यह सम्पूर्ण जगत् परिच्छिन्न और अनात्मवस्तु ही सिद्ध होते हैं। (वृ.उ.भा.वा. १/४/६४)

जब आकाश की उपाधि-घट-मठ निरस्त (नष्ट) हो जाय तो महाकाश मात्र की स्थिति रह जायगी। उक्त स्थिति में परस्पर में घटाकाश-मठाकाश उपाधि प्रदेश का व्यवहार उसी प्रकार नहीं बन सकता जैसे घोरान्धकार में दिशाबोध का सर्वथा अभाव ही होता है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/८४)

जो साधक आत्मा को असङ्ग है ऐसा जान लेता है वह यह सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च अज्ञान के कारण दृष्ट हो रहा है, इस प्रकार विनिश्चय बुद्धि वाला होता है। वह आत्मा को ब्रह्म रूप से जानने वाला जगत् के प्रत्येक-नाम और रूप अंश को मिथ्या (असत्) जानता है और प्रपञ्च के प्रति उदासीन भाव रखता है। (टी.)

व्यक्ति के बोलने पर वाणी आत्मा रूप और शब्द के व्यक्त हो जाने पर वाणी ध्वनि स्वरूप एवं उसके (वाणी) के द्वारा कहने (घटमानय = घड़ा लाओ) पर वह करणस्वरूप हो जाती है। इस तरह एक ही वाणी उपाधि से परिच्छिन्न होने पर तीन रूप प्रतीत होती है, जबकि वह एक ही है। उसी प्रकार आत्मा असंग-उदासीन अद्वितीय होने पर उपाधि भेदेन भेदवत् प्रतीति का विषय है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/८०)

चक्षु (आँख) का कार्य देखना, मन का कार्य संकल्प-विकल्प रूप संशय करना,



अन्योन्यापेक्ष संसिद्धेः, अन्योऽन्यव्यभिचारतः।
अपराधीन संसिद्धौ, भानाविव तमो भवेत्।।
(वृ.उ.वा.भा. १/८६)

समस्तव्यस्ततां तस्मा, न्मानान्तरभितत्त्वतः।
अनूद्यापूर्वमैकात्म्यं, विधेयमुपपत्तिमत्।। (वृ.उ.भा.वा. १/४/९२)
अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। (श्रुतिः)
'प्रसिद्धमनूद्याप्रसिद्धं विधीयते'। (न्यायः)

बुद्धि का कार्य अध्यवसाय (विनिश्चय) करना और क्षेत्रज्ञ आत्मा का कार्य साक्षित्व मात्र है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/८२)

नाम-रूप और क्रिया ये तीनों एक दूसरे के सापेक्ष हैं और परस्पर में तीनों स्वभाव से व्यभिचरित भी हैं इस तरह की स्थिति में इसकी स्वतन्त्र सिद्धि कैसे सम्भव हो सकती है? यदि इनकी स्वतन्त्र सिद्धि मानी जाय तो अन्धकार सूर्य के समान है कहना पड़ेगा जो सम्भव नहीं है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/८६)

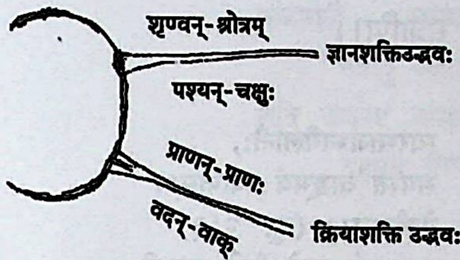
यह सम्पूर्ण जगद्वस्तु अन्य वस्तु से व्यस्त है यह मानान्तर से तत्त्वतः सिद्ध है। इसलिए इन व्यष्टि और समष्टि की एकात्मता ही श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्र द्वारा अभिमत विधेय है। अतः इसकी उपपत्ति होनी चाहिये। क्योंकि यह उपपत्ति वाली है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/९२)

आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर यहाँ सभी जगत् प्रपञ्चगत बोध अद्वितीय ब्रह्मात्मक हो जाते हैं—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।। (मु.उ. २/२/११)

अर्थात् यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही सामने, ब्रह्म ही पीछे, ब्रह्म ही दाहिनी ओर, बांयी ओर, नीचे, ऊपर फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण जगत् है वह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है। (श्रुति)

प्रसिद्ध को कहकर ही अप्रसिद्ध को कहा जाता है। यथा—प्रधानमन्त्री और उनके व्यक्तिगत सहायक (Personal Assistance) एक साथ यदि अन्य देश में जाते हैं तो वहाँ पहले प्रधानमन्त्री का परिचय कहकर तदनन्तर व्यक्तिगत सहायक का परिचय कहा जाता है यह न्याय है। (न्याय)



वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि,
व्यास सूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा एषा हि,
प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।।
(वल्लभाचार्य शु.अ.भा)



नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बि, चन्द्रचामर चारुवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भः, मूलस्तम्भाय शम्भवे।।
(पिङ्गल सू.टी.)

सुनता हुआ श्रोत्र (कान) और देखता हुआ चक्षु (आँख) में जो श्रवण और दर्शन व्यापार है वह परमात्मा के ज्ञानशक्ति से उत्पन्न है। इसी प्रकार प्राणन् क्रिया वाला प्राण और वदन् क्रिया वाली जो वाणी का व्यापार है वह परमात्मा की क्रियाशक्ति से उत्पन्न है। श्रुति कहती है—

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः।। (श्वेता.उ. ६/३)

उस परमात्मा ने ही उस जड़तत्त्व की रचना करके उसका सम्यक् निरीक्षण किया और चेतन तत्त्व से जड़तत्त्व (प्रकृति) को संयोग कराकर अथवा यों समझिये कि एक (अविद्या) को दो (पाप और पुण्यरूप कर्मों) से, तीन गुणों से और आठ प्रकृतियों से तथा काल से एवं सूक्ष्म गुणों से (इस) जीवात्मा का सम्बन्ध कराकर जगत् की रचना की।

परास्य शक्ति र्विवधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। (श्वेता.उ. ६/८)

उस परमात्मा की ज्ञान-बल और क्रियारूप स्वाभाविक दिव्यशक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है।

वेद वाक्य, श्रीकृष्ण के वाक्य, व्यास जी के पुराण-ब्रह्मसूत्र आदि वाक्य और यह समाधि की भाषा ये चारों प्रमाण हैं। (श्री वल्लभाचार्य, शु.अ.भा.)

चन्द्रमारूपी सुन्दर चामर से सुशोभित उन्नत शिरोभाग वाले त्रिलोकरूपी नगर के आरम्भ (निर्माण) में मूल स्तम्भ स्वरूप भगवान् श्रीशम्भु (शिव) को प्रणाम करता हूँ।
(पिङ्गल सू.टी.)

श्री पिङ्गल सूत्राणि।।

१. धी श्री स्त्रीम्।
२. व रा सा य्।
३. का गु हा र्।
४. व सु धा स्।
५. सा ते क त्।
६. क दा स ज्।
७. किं व द म्।
८. न ह स न्।
९. गृ ल्
१०. गन्ते

म्यरस्तजभ्नगैर्लान्तैः,
समस्तं वाङ्मयं व्याप्तम्।।
देव्यैकम्।। (सू. २/३)
एकाक्षरं छन्दो दैवी गायत्री
।।ॐ।।

लः समुद्रागणः।।—सू.
गौ गन्त मूर्धाद्विलश्च।।

(SSS, IIS, ISI, SII, III)

आर्या

स्वरा अर्धं चार्यार्द्धम्। (सू.)
द्वीपादन्यादपि, मध्यादपि जलधेर्दिशोऽप्यान्तात्।
आनीय झटिति घटयति, विधिरमिमतमभिमुखीभूतः।।

उपर्युक्त पिङ्गल सूत्र है। पिङ्गल एक ऋषि हुए हैं जो छन्द शास्त्र को अनुशासित करने के लिए सूत्रों का निर्माण किये। उनके द्वारा निर्मित सूत्र को पिङ्गल सूत्र-पिङ्गलशास्त्र आदि नाम से कहे जाते हैं। उसी सूत्र को यहाँ उद्धृत कर कहा जा रहा है—

'म्यरस्तजभ्नगैर्लान्तैः' का अर्थ है म् य् र् स् त् ज् भ् न् ल् है अन्त में जिसके ऐसे छन्दमय वाङ्मय से व्याप्त जो देवी है वह एक ही (अद्वितीय) है और वह देवी एकाक्षर छन्द मयी देवी 'ॐ' स्वरूपा है। लः सम्यग् मुद्रा समूह है और 'गौ' से मूर्धा 'गन्त' से मूर्धा से संलग्न बिल (छिन्द्र) है। (पिङ्गल सूत्राणि)

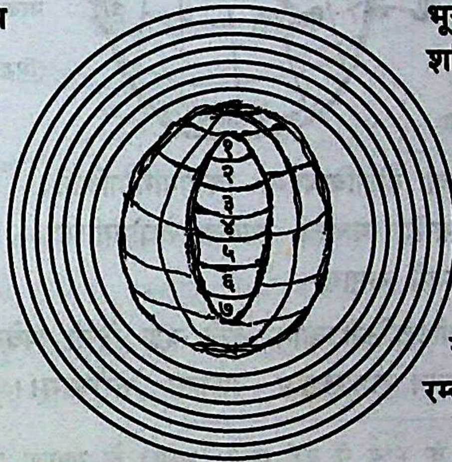
आर्या

स्वरों का आधा और व्यञ्जनों का आधा छन्द गणना में सामान्यतया मान्य नहीं होते। (पिङ्गलसूत्र)

विधि (भाग्य) द्वीपान्तर से, समुद्र के मध्य से अथवा कहीं दुरन्तस्थल से ले आकर शीघ्र ही भावी भवतव्यता को अपने अभिमतानुसार घटित घटना करा देती है।

पथ्याशी व्यायामी,
स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात्।
यदि वचसा मनसा वा,
द्रुह्यति नित्यं न भूतेभ्यः।।

मध्येसमन्तादण्डस्य भूगोलोव्योम्नितिष्ठति
विभ्राणः परमां शक्तिं, ब्रह्मणो
धारणात्मिकाम्।

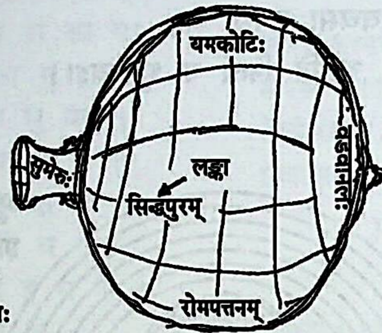


तदन्तर पुटाः सप्त, नागासुर समाश्रयाः
दिव्योषधिरसोपेता। रम्याः पातालभूमयः।।
(सूर्यसि. १२)

जो संयमित भोजन करता है अर्थात् स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन करता है, व्यायाम करता है, स्त्री के प्रति राग नहीं रखता अर्थात् जितेन्द्रिय है, मनसा वाचा-कर्मणा कभी भी किसी जीव से द्रोह नहीं करता वह मानव रोगी नहीं होता है। वह शरीर से, मन से, चित्त से अर्थात् अन्दर-बाहर सभी प्रकार से नीरोग होता है।

'भू' (पृथिवी) गोल है, इसलिये उसके सम्बन्धी विषय को भूगोल कहते हैं। वे भूगोल व्योम आकाश में स्थित है। उसके मध्य में चारों तरफ अण्ड (लोक) हैं और उसके मध्य में परमात्मा की धारणात्मिका शक्ति भ्रमण करती है। उन समस्त लोकों से समवेत को ब्रह्माण्ड कहते हैं। उन ब्रह्माण्ड के एक भाग में सात पुटें हैं जिसमें नाग-असुर आदि गण निवास करते हैं जिसे पाताल लोक कहते हैं। वह पाताल लोक दिव्य औषधियों और रसों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त रम्य (सुन्दर) है। (सूर्य.सि. १२)

लङ्का कुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमपत्तनं च।
अधस्ततः सिद्धपुरम् प्राची सुमेरु सौम्येऽथ



याम्ये वडवानलश्च
और्वे च सर्वे
नरका सदैत्याः
वसन्ति
मेरौ सुर
सिद्धसंघाः
(सिद्धान्तसि.गो.१७-१८)

अतस्त्वां दीक्षयिष्यामि, विजामार्गमाश्रितः।
तेन मार्गेण मर्त्यत्वं, त्यक्त्वा तेजोमयीभव।। (शिवगी. २/१५)
(अगस्त्यो रामाय)

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकाम, हतो यश्च द्विजो भवेत्।
तस्याप्येवं समाख्याता, आनन्दा उत्तरोत्तरम्।। (शिवगी. ११/४०)

इस लंका भूमि के मध्य में कई कोटि (प्रकार) के यमगण प्राक् (पूर्व) और पश्चिम में नियुक्त होकर निवास करते हैं। कोटि शब्द का करोड़ भी अर्थ है, इस पक्ष में करोड़ों निवास करते हैं ऐसा अर्थ की संगति होगी। उस लंका के अधोभाग में सिद्धों का नगर है और सौम्य (दक्षिण) दिशा में सुमेरू और वडवानल एवं नरक लोक है, जहाँ दैत्यों का वास है। इसी तरह पश्चिम में रोमपत्तन है। उत्तरस्थ मेरू पर्वत पर देवगणों के सिद्ध समूहों का निवास है। (सिद्धान्तशि. गो. १७-१८)

अगस्त्य का राम को उपदेश

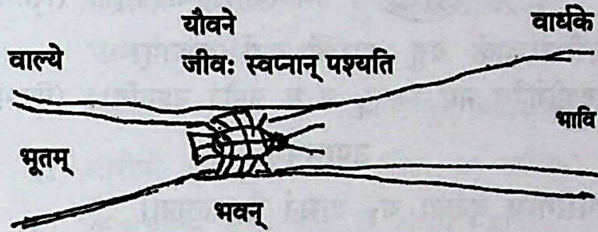
महर्षि अगस्त्य जी भगवान् श्रीराम जी से कहते हैं—हे राम! इसलिए मैं तुमको गुणातीत होकर दीक्षा दूँगा। तीनों गुणों से अतीत मार्ग का तुम आश्रय लो, जिससे तुम मृत्यु को अतिक्रमित कर जाओगे और मृत्यु को पार कर तेजोमय स्वरूप को धारण करो, जिससे अमरत्व स्वरूप को पा जाओगे। (शिवगी. २/१५)

हे राम! जो साधक अकाम और निखिल पापों से रहित तथा श्रोत्रिय द्विज (ब्राह्मण) होगा उसी के लिए यह ब्रह्मोपदेश प्रदान करने योग्य होता है जिससे उत्तरोत्तर आनन्द बढ़ता ही जाता है। क्योंकि असीम आनन्द ही ब्रह्म है। (शिवगी. ११/४०)

सर्वाकारोऽहमेवैकः सच्चिदानन्दविग्रहः। (शिवगी. १२/३)

स्वप्नः

भूत जन्मनि यद्भूतं, कर्मतद्वासनावशात्।
नेदीयस्त्वाद्वयस्याद्ये, स्वप्नं प्रायः प्रपश्यति।।



मध्ये वयसि कार्कश्यात्, करणानामिहोर्जितः।
वीक्ष्यते प्रायशः स्वप्नं, वासनाकर्मणोर्वशात्।।४८।।
यियासुः परलोकं तु, कर्मविद्यादि संस्मृतम्।
बाविनो जन्मनो रूपं, स्वप्नआत्माप्रपश्यति।।४९।।

(पद्मपुराण शिवगी. १/४७)

हे राम! उस उपर्युक्त विरजा दीक्षा के द्वारा दीक्षित साधक को 'मैं सर्वाकार सत्-चित्-आनन्द स्वरूप मैं हूँ' इस प्रकार का अपरोक्ष आत्मबोध प्राप्त हो जाता है।

(शिव गी. १२/३)

पूर्व के जन्म में जो कर्म करते हैं उस कर्म के वासना के वशीभूत अन्य जन्म (बाल्य काल) से नज़दीक होने के कारण वे स्वप्न में देखे जाते हैं अर्थात् उसे स्वप्न में बालक देखता है। इसी तरह मध्यावस्था में करणों अर्थात् इन्द्रियों के कर्कश (प्रौढ़) होने के फलस्वरूप वे बलवान् हो जाते हैं, और वासना के वशीभूत इस अवस्था में भी वे स्वप्न देखा करते हैं। इत्थं (इसी प्रकार) वार्धक्यावस्था (वृद्धावस्था) में परलोकाभिगामी इच्छा वाले पुरुष (स्त्री भी) कर्म विद्या का स्मरण कर-करके भावि जन्म (आगे के जन्म के सम्बन्ध में चिन्ता) करते रहते हैं, जिसके कारण (चिन्तन-स्मरण संस्कारवशात्) वे लोग स्वप्न देखते हैं। इस प्रकार वाल्यकाल में पूर्व जन्म का, वार्धक्य काल में भावि (आने वाले) जन्म का और यौवन काल में वर्तमान (जो हो रहा है) के स्वप्न आते हैं। इसी स्वप्न विज्ञान को समझने के लिये प्रतीक चित्र भी दिये गये हैं जिससे विषय की सुस्पष्टता हो जाती है।

(पद्मपु. शिवगी. १/४७)

सुषुप्तिः

अविद्या सूक्ष्म वृत्यानु; भवत्येव सुखं यथा।
अज्ञानमपि साक्ष्यादि; वृत्तिभिश्चानुभूयते।।



तथाहं सुखमस्वाप्सं
नैव किञ्चिदवेदिषम्।। (शि.गी. १०/५६)

शरीरारम्भकं यत्तु, प्रारब्धं कर्म तन्मतम्।
तद्भोगेनैव नष्टं स्यात्, न तु ज्ञानेन नश्यति।। (शि.गी. १३/२८)

उपासनम्

उपसंगम्य बुद्ध्या य; दासनं देवतात्मना।
तदुपासमन्तः स्याद्, द्विहिः सम्पदादयः।।

सुषुप्ति

पूर्व में स्वप्न विज्ञान को कहा जा चुका है अधुना (अब), सुषुप्ति विज्ञान के सम्बन्ध में कथन आरम्भ किया जा रहा है—सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) अवस्था में अविद्या की सूक्ष्म वृत्ति जागृत रहती है, उस अविद्या की सूक्ष्म वृत्ति से यथा सुख होता है उसी प्रकार अज्ञानाधिक्य के फलस्वरूप बुद्धि की प्रमा बोधित्व शान्त हो जाती और वह बीज मात्र रूप में रह जाती है तथा साक्षी की वृत्ति से 'मैं' सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना' ऐसा अनुभव करते हैं। (शिव.गी. १०/५६)

शरीर का आरम्भ प्रारब्ध ही है और उसके भोग किये बिना उसका नष्ट होना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह फलोन्मुख प्रारब्ध ब्रह्म विज्ञान होने पर भी नष्ट नहीं होता। यहाँ प्रारब्ध शब्द से फलोन्मुख प्रारब्ध ग्रहण किया गया है। (शिवगी. १३/२८)

उपासना

बुद्धि द्वारा या तद् बुद्धिपूर्वक देवतात्मना (देवभाव से) जो अपनी उपस्थिति होती है और वह जब अन्तःकरण (चित्त) में अनन्य रूप से होने लगता है तो वह उपासना है। इसे इस तरह भी समझना चाहिये—उपासक साधना की प्रथमावस्था में है और वह किसी देवता की मूर्ति को सामने रखकर ध्यान करता है एवं यह बोध रखता है कि मैं उपासना कर रहा हूँ। यहाँ उपासक और उपास्य दोनों बाह्य वस्तु है तथा उपासना भी तद्वत् ही है। परन्तु जब वह ध्यान द्वारा उन बाह्य साधन को अन्तः में प्राप्ति कर लेता है तो वह उपासना है और शेष बाह्य सम्पदा (साधन-उपकरण) है ऐसा जानना चाहिये। साधक के अन्तःकरण में देवता की स्थिति के साथ स्व (आत्मा) की स्थिति (सानिध्य) ही उपासना है यह फलितार्थ है।

ज्ञानान्तरान्तरितः; सजाति ज्ञान सन्ततेः।
सम्पन्नदेवतात्मत्व; मुपासनमुदाहृतम्।।

पुनश्चतुर्विधम् (शिवशी. १२)

सम्पदा[1]रोप[2]संवर्गा[3], ध्यासाः[4]।

१. अल्पस्य चाधिकत्वेन, गुणयोगाद्विचिन्तम्।
'अनन्तं वै मनः' इति।

२. विधावारोप्ययोपासा, 'ॐकारमुद्गीथोपासीत' इति।

३. आरोपो बुद्धिपूर्वेण यत्, योषा वा अग्निः' इति।

४. क्रियायोगेन यत्–'वायु वैं संवर्ग' इति।

जब उपास्य (ध्येय) ज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञान न रहे तथा सजातीय ज्ञान की सन्तति (प्रवाह) मात्र ही चित्तवृत्ति बन जाय तो समझ जाना चाहिये देवतात्मा (देवता के स्वरूप) को हम प्राप्त हो चुके हैं। उस देवता और स्वात्मा की एकात्मक चित्तवृत्ति ही उपासना शब्द वाच्य है।

पुनश्च वह उपासना चतुर्विध है—१. सम्पदा, २. आरोप, ३. संवर्ग और ४. अध्यास।

१. **सम्पदा**—स्वल्प वस्तु का भी उसमें गुणाधिक्य दर्शन से उसके अधिकत्व का चिन्तन करना सम्पदा उपासना है, इसलिये श्रुति कहती है 'अनन्तं वै मनः' अर्थात् मन अनन्त है। मन शब्द से इच्छा अर्थ ग्रहण करने से अर्थ की संगति बैठ जाती है। लौकिक उदाहरण यह है कि—किसी को एक रूपया प्राप्त है और यह स्वल्प है; परन्तु रूपये के गुणाधिक्य स्मरण (रूपये से रूपया बनता है) करने से यह सम्पदा उपासना है।

२. **आरोप**—जो वस्तु वैसा नहीं है उसमें वैसी विधि भावना का आरोपाधान चिन्तन-मनन करना आरोप उपासना है; जैसे श्रुति विधान करके कहती है—'ॐकारमुद्गीथमुपासीत' अर्थात् 'उद्गीथ ॐकार ब्रह्म' की उपासना करे। यद्यपि ॐकार शब्द परमात्मा नहीं है तथापि ॐकार में परमात्मा (ब्रह्म) का आरोपाधानपूर्वक उसकी उपासना करने से परमात्म लाभ होता है। यह आरोप उपासना है।

३. **संवर्ग**—जिसमें आरोप बुद्धि पूर्व से ही प्राप्त हो वह संवर्ग उपासना है। यथा श्रुति कहती है 'योषा वा अग्नि;' हे गौतम योषा ही अग्नि है। योषा (स्त्री) में पूर्व से अग्नि का आरोपाधान है।

निर्मोहो निरहङ्कारो,
निर्लेपः सङ्गवर्जितः।
सर्वभूतेषु चात्मानं,
सर्वभूतानि चात्मनि।।
यःपश्यन् सञ्चरत्येषु,
जीवनमुक्तोऽभिधीयते। (शिवगी. १३/२९)

पुरश्चर्याविधौ तथा काम्यफलेषु च–
ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य,
मध्याह्नं प्रजपेन्मनुम्।
नित्यनैमित्तके वापि,
तपश्चर्यासु सर्वदा।। (शिवगी. १६/५८)

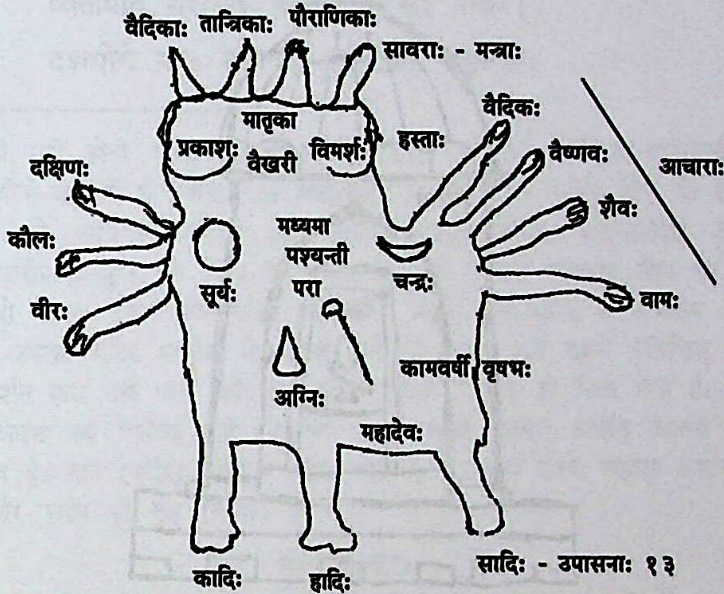
---

४. **अध्यास**—क्रिया के योग से जो संवर्ग निर्धारित होता है वह अध्यास उपासना है। श्रुति कहती है—'वायुर्वे संवर्गः' अर्थात् वायु ही संवर्ग है। वायु का दर्शन चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु स्पर्श क्रिया से उसका बोध होता है इसलिए क्रिया के द्वारा (वृक्ष कल्पनादि) वायु का कम्पनादि में अध्यास द्वारा उसके संवर्ग का निर्धारण होता है। (शिवगी. १२)

जो मोह रहित, अहंकार रहित, निर्लेप और सभी प्रकार से विषयों के सङ्ग से वर्जित (रहित) होता है तथा सभी भूतों (प्राणियों) में स्वात्मा को एवं सभी भूतों को स्वात्मा में देखता हुआ व्यवहार करता है वह जीवनमुक्त कहा जाता है। (शिवगी. १३/२९)

चाहे पुरश्चण विधि का अनुष्ठान हो अथवा काम्यफल वाला अनुष्ठान हो, दोनों विधियों में साधक को ब्राह्म मुहूर्त से कर्त्तव्य अनुष्ठान कर्म को आरम्भ करके और मध्याह्न काल पर्यन्त मन्त्र का जप करना चाहिये। यह विधि नित्यनैमित्तिक तथा तपश्चर्या आदि में भी विहित है। अतः पुरश्चरण-कार्म्यकर्म, नित्य नैमित्तिक कर्म तथा तपश्चर्यादि कर्म में साधक ब्राह्म मुहूर्त से आरम्भ कर मध्याह्न काल तक ध्येय के मन्त्र का जप करे। (शिवगी. १६/५८)

चत्वारिश्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश।। (ऋग्वेद)



जो परमात्मा महादेव मरणधर्मा जीव में प्रवेश किये हुए हैं उनके शरीर (स्वरूप) इस प्रकार हैं—उसके वैदिक-तान्त्रिक-पौराणिक और सावर मन्त्र ही चार शृङ्ग (सींग) हैं। कादि-हादि और सादि विद्या (अक्षरब्रह्म विद्या) तीन पाद (पैर) हैं। प्रकाश (ज्ञान) और विमर्श ये दो शिर हैं। दक्षिणपंथ-कौलपंथ और वीरपंथ (मार्ग) ये तीन दाहिने हाथ तथा वैदिक-आचार-वैष्णव-आचार-शैवाचार और वामाचार ये चार बायीं हाथ हैं। उन महादेव के नित्य शब्द और व्यवहारिक (अनित्य) शब्द ये दो शिर हैं। वे तीन जगह हृदय-कण्ठ और शिर स्थान में बँधे हैं। ऐसे वृषभ जगत् (मरणधर्मा जीव) में प्रविष्ट होकर शब्द कर रहा हैं। वह महादेव वाक्ब्रह्म है। अथवा वाणीरूपी वृषभ के नाम-आख्यात-उपसर्ग और निपात ये चार सींगें हैं। परा-पश्यन्ती-मध्यमा और वैश्वरी वाणियाँ क्रमशः परा-शिव, पश्यन्ती-सुषुम्ना (अग्नि), इडा-सूर्य, पिङ्गला-चन्द्र हैं। भूतकाल-वर्तमानकाल और भविष्यत् काल ये तीनों पाद (पैर) हैं। नित्य और अनित्य ये दोनों शब्द शिर हैं। इसी प्रकार प्रथमा (कर्ता), द्वितीया (कर्म), तृतीया (करण), चतुर्थी (सम्प्रदान), पञ्चमी (अपादान), षष्ठी (सम्बन्ध), सप्तमी (अधिकरण) ये सातों विभक्तियाँ (कारक) ही सातों हाथ हैं। हृदय-कण्ठ और शिरःस्थानीय



भाग में तीनों जगह से बद्ध है। शब्द ही सूर्य है जो इस वृषभ की सेवा करता है—उपासना करता है उसे यह शब्दरूपी वृषभ अमृत वर्षा कर प्लावित कर अमर कर देता है। इसीलिए कहा है कि—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः (शास्त्रान्वितः) सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।' अर्थात् एक शब्द के सम्यक् ज्ञान और सुष्ठु प्रयोग करने पर वह शब्द स्वर्ग और लोक दोनों जगह कामधेनु के समान कामनाओं की पूर्ति करने वाली कामधेनु समान हो जाती है इसमें कोई सन्देह नहीं। (ऋग्वेद)

पाँच तत्त्वों (आकाश-वायु-अग्नि-जल और पृथ्वी) से पंचीकृत शरीर में आत्मा शिव स्वरूप से वास करते हैं। इसीलिये इस शरीर को मंदिर कहा गया है। प्रतीक चित्र के चित्राङ्कन के द्वारा भी यही कहने के लिये है। इस शरीर रूपी मंदिर में पंचज्ञानेन्द्रियाँ-पञ्चकर्मेन्द्रिय-मन-बुद्धि-चित्त और अहंकारादि ये अवयव है जैसे मंदिर में ईंट-पत्थर-गार्डर-धरण-सीमेन्ट-सूर्खी जो भी हो और जिससे भी बना हो वे अवयव होते हैं। जिस तरह मंदिर में साफ-सफाई की जाती है और सावधानी बरती जाती है कि कहीं गन्दा न हो उसी प्रकार इस शरीर को भी स्वच्छ रखना चाहिये। इस शरीर की सफाई मात्र साबुन-तैल-सुगन्धित इत्र

दशहरा १० योगः

ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशमी बुधहस्तयोः।
व्यतीपाते गरानन्दे कन्याचन्द्रे वृषे रवौ।।
दशयोगे नरः स्नात्वा, सर्वपापैः प्रमुच्यते।

आदि से ही नहीं होती परन्तु सत्यभाषण-शास्त्रविहित अहिंसक कर्म-दया-दान-कर्त्तव्यपालन और सभी जीवों-जन्तुओं में समभाव के व्यवहारादि से यह मंदिर पवित्र होता है। इस लिये हम मानवों को आर्य-ऋषि-मुनियों तथा वेद-गीता-धर्मशास्त्रोदित वाक्योपदिष्ट आचारण-व्यवहार से शरीर-मन-बुद्धि को नित्य पवित्र रखना चाहिये जिससे परमात्मा शिव का सानिध्य बना रहे। जो मानव वाह्य शिव मंदिर की भाँति अपने अन्तःकरण में ज्ञानदीप को नहीं जला पाता, उसका मंदिर अन्धेरा से व्याप्त होने के कारण उसे उसमें प्रतिष्ठित परमात्मा शिव का दर्शन करा नहीं पाता और वह मानव जीवन निरर्थक ही बिता देता है। इसीलिए कहा है—'आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहम्।' अर्थात् आत्मा परमात्मा भगवान् शिव हैं, मति (बुद्धि), गिरिजा (माता पार्वती) हैं, प्राण उनके सहचर अर्थात् सङ्गी-साथी है और शरीर ही गृह (मंदिर) है।

गंगा दशहरा

दशहरा (गंगा दशहरा) के दिन दस योग में स्नान करने पर प्राणी के सभी प्रकार के पापों से मुक्ति मिल जाती है। दशहरा को दशहरा इसलिये भी कहते हैं कि इसमें दश प्रकार के योग होते हैं; और दशहरा इसलिये भी कहते हैं कि इस तिथि को गंगा स्नान करने से दश प्रकार के कर्मज पाप नष्ट हो जाते हैं। अब उस दिन के दश योग को कहते हैं—१. ज्येष्ठ मास, २. शुक्लपक्ष, ३. दशमी तिथि, ४. बुध का दिन, ५. हस्त नक्षत्र, ६. व्यतिपात योग, ७. गर नामक करण, ८. आनन्द योग, ९. कन्या का चन्द्र और १०. वृष राशि का सूर्य ये दश योग के एक साथ होने पर दशहरा स्नान का महापुण्य होता है इसलिये इसे दशहरा कहते हैं। अब दश पाप को कहते हैं—

पारुष्यमनृतञ्चैव, पैशुन्यं चापि सर्वतः।
असम्बद्धप्रलापश्च, वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।
अदत्तानामुपादानं, हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च, कायिकं त्रिविधं मतम्।।
परद्रव्येष्वभिध्यानं, मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च, मानसन्त्रिविधं स्मृतम्।। (राजमार्तण्ड)

ब्रह्मचर्यमधः शय्या, पत्रावल्यां च भोजनम्।
कथा समाप्तौ भुक्तिं, कुर्य्यान्नित्यं कथाव्रती।।

सत्यं शौचं दयां मौन; मार्जवं विनयं तथा।
औदर्यं मनसश्चैव, कुर्य्यान्नित्यं कथाव्रती।।
(स्कन्द पु., शिवपु.मा. ७/५)

हर्यश्वः-माधवी-मधुपुत्री।
आनर्तं नाम तद्राष्ट्रं सुराष्ट्रं गोधनायुतम्।।
मधुमत्यां सुतो जज्ञे, यदुर्नाममहायशाः।। (हरिवंशपु. वि.प.२७)

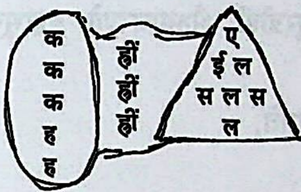
वाणी के द्वारा पारूष्यादि चार प्रकार के पाप, शरीर से तीन प्रकार के अविहित उपादानादि और मन से परद्रव्यादि का चिन्तनादि रूप तीन पाप, इन दश पापों के हरण करने के कारण ज्येष्ठ शुक्लपक्ष दशमी को दशहरा कहते हैं। (स्कन्ध पु.)

जो कथाव्रती है अर्थात् भागवत अथवा अन्य पुराणों की कथा श्रवण का व्रत लिया है वह उस व्रत के पालन के लिए उसके अङ्गभूत नियमों का पालन करें। वे नियम हैं— १. ब्रह्मचर्य का पालन, २. पत्रावली में भोजन करना, ३. कथा समाप्ति के बाद भोजन करना, ४. सत्य भाषण करना, ५. मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्ध रहना, ६. दयाभाव रखना, ७. मौनव्रत का पालन करना, ८. शालीनता और विनय भाव का पालन करना, ९. औदर्यभाव रखना आदि। इन नियमों के पालन करने पर ही कथा श्रवण का पुण्य फल प्राप्त होता है। जो इन नियमों का पालन नहीं करता वह कथा के न्यून फल का भागी होता है अथवा उसे फल नहीं भी मिलता है। (स्कन्द पु., शिव पु.मा. ७/५)

हरिवंश पुराण के अनुसार वैवस्वत मनु के कुलोद्भव इक्ष्वाकु के पुत्र हर्यश्व थे। जो महेन्द्र के तुल्य पराक्रमी और यशस्वी हुए। उनका विवाह मधु नामक दैत्य की पुत्री मधुमती (माधवी) से हुआ। उसने मधु नामक दैत्य (श्वसुर) से उनके सम्पूर्ण राज्य (मधुबन को छोड़कर) विवाह में प्राप्त किया। हर्यश्व ने खैतक नामक पर्वत पर एक नगर बसाया जिसका नाम आनर्त पड़ा। वह आनर्त नामक नगर राजधानी गोधनों से सम्पन्न होने के कारण सुराष्ट्र (सुन्दर राष्ट्र) के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उस राजा हर्यश्व को मधुमती के गर्भ से उत्पन्न यदु नामक महायशश्वी पुत्र प्राप्त हुआ। (हरिवंश पु.वि.प. २७)

।।श्रीं क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं
स क ल ह्रीम्।।

कत्रयं हद्वयं चैव, शैवो भागः प्रकीर्तितः।
शेषाणि शक्त्यक्षराणि, ह्रींकार उभयात्मकः।।





प्रकृत प्रसंग के मूल में श्लोकगत फार्मूला से एवं प्रतीक चित्र के माध्यम से उसके अर्थ को सुस्पष्ट किया जा रहा है—तीनों ककार और दोनों हकार शैव भाग है। 'क' वर्ण का वर्णाक्षर कोष के अनुसार परमात्मा ब्रह्म अर्थ होता है और 'ह' का अर्थ वर्णैकशेषी समास के अनुसार 'अहम्' अर्थात् जीवात्मा होता है। इन दोनों जीवात्मा और परमात्मा में परमार्थतः भेद नहीं है। दोनों में उपाधि ही भेद है और उपाधि को सर्वविचारतन्त्र के विवेक से मिथ्या ही सिद्ध किया जाता है। इसलिए परमार्थतः 'क' और 'ह' वर्ण वाच्य अर्थ शैव (शिव सम्बन्धी) भाग है शेष प्रतीकाङ्कन के कोष्ठगत वर्णार्थ उस शिव की शक्ति वाचक है तथा ह्रींकार शब्दार्थ उभयार्थक है।

प्रतीक चित्र के माध्यम से पूर्व में कहे गये—'कत्रयं हद्वयं चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः। शेषाणि शक्त्यक्षराणि, ह्रीकार उभयात्मकः।।' के भाव को सुस्पष्ट किया जा रहा है—'ह्रींकार' उभयात्मक का अर्थ है कि—ह्रींकार वर्णार्थ प्रकृति और पुरुष अर्थात् परमात्मा और उसकी

१. त्रिषु वर्णेष्वेकागारं भैक्ष्यमश्नीयान्माधुकरीं वा। (काठक ब्रा.)

२. भैक्षं वा सर्ववर्णेभ्य एकान्नं वा द्विजातिषु। (बौधायनः)

३. ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां, मेध्यानां भैक्ष्यमाचरेत्। (मेधातिथिः)

४. त्रिषु वर्णेषु भिक्षाचर्यं चरेत्। (संन्यासोपनिषत्?)

५. त्रिषु वर्णेषु-अभिशप्त-पतित वर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्ष्याचरणो ब्रह्मभूयाय भवति।। (परमहंस परिव्राजकोपनिषत्)

षडङ्गिनी सेना	रथ, गज, अश्व, पदाति, पण्यधान्य, वणिक्।

जरासंधः–षडङ्गेन बलेन महतावृतः।

शक्ति माया का वाचक है। उपर्युक्त प्रतीक द्वारा शैव भाग और शक्ति भाग को साथ दिखाया गया है ताकि साधक-चिन्तक 'ह्रीकार उभयात्मकः' का अर्थ सुस्पष्ट रूप से समझ सके। चित्र के दक्ष (दाहिना) भाग शिव का है अतः हाथ में त्रिशूल, शिरोभाग (आधे में) जटा-सर्प-रूद्राक्ष माला तथा ललाट पर त्रिपुण्ड से शिव भाग का प्रतीकाङ्कन है और वामभाग में ललाट पर बिन्दी-हाथ में चक्र तथा यज्ञोपवीत या स्त्री प्रसाधनोचित मोती का माला तथा हाथ और पेट के मध्य साटिका के छोड़ को दर्शा कर स्त्री प्रतीक द्वारा शक्ति को दर्शाया गया है। यज्ञोपवीत स्त्री को भी प्राक्काल में विहित था। 'पुराकल्पे नारीणां मौञ्जी बन्धन इष्यते' यह गृह्यसूत्र वचन प्रमाण है।

१. भिक्षुक यति या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में से किसी एक गृह का भोजन करे अथवा माधुकरी (भिक्षाटन) से प्राप्त अन्न का भोजन करे यह भिक्षुक यति या ब्राह्मण के लिए कहा गया है। (काठक ब्रा.)

२. सभी वर्णों से अथवा द्विजातियों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) से अन्न का ग्रहण अथवा भैक्ष (सिद्धान्न) में से किसी एक को ग्रहण कर जीवन यात्रा का निर्वाह करे। (बोधायन)

३. ब्राह्मण-क्षत्रिय एवं वैश्यों से पवित्र और विहित भैक्ष्य को ग्रहण करे। (मेधातिथि)

४. तीनों वर्णों में भिक्षाचरण करें। (संन्यासोपनिषत्)

५. तीनों वर्णों में अभिशप्त-पतित और पशुद्रोह से रहित लोगों से भिक्षाचरण कर जीवन यात्रा सम्पन्न करने वाले ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। (परमहंस परिव्राजकोपनिषत्)

षडङ्गिनी सेना में रथ-गज-अश्व तथा पैदल सेना के साथ अन्न के लिए रूपया पैसा और वणिक् का होना आवश्यक है।

जरासन्ध इस प्रकार के विशाल षडङ्ग सेना से सम्पन्न था।

करञ्जमज्जाति विषेत्मरीचं, छदैस्तुलस्यास्त्रिगुणैर्विमर्द्य।
चणप्रमाणा वटिका निहन्ति, ज्वरातिसारानलमार्दवानि।।



दुरुधरः

सुभगः ← शनिः - ⌣ - बुधः - श्रुतिशास्त्रज्ञेयकुशलः धर्मरतः
काव्यकृन्मनस्वी सर्वहितः।

गृहीतवाक्यः
सगुणः

↓

प्रियवाक्सुभगःकान्तः प्रवृत्तगो यदि सुकृतवान्नृपतिः
सौख्यं शूरो मन्त्री ज्ञमन्दयोर्मध्यगे च हिम किरणे।।

(मानसा. ४/७)

उभयचरी

बुधः  मंगलः

सर्वसहः सुसमदृक् समकायः सुस्थिरो निपुणसत्त्वः।
उभयचर्याम्।।
कर्मेशे लग्नगे वापि, राजतुल्यो नरो भवेत्।

करञ्ज की मज्जा में मरीच को प्रवेश करा कर और उसके त्रिगुणा तुलसी की पत्ती के साथ पीस कर चना के समान वटिका (गोली) बनाकर उसका सेवन करने से अतिसार और ताप आदि रोगों से मुक्ति मिल जाती है।

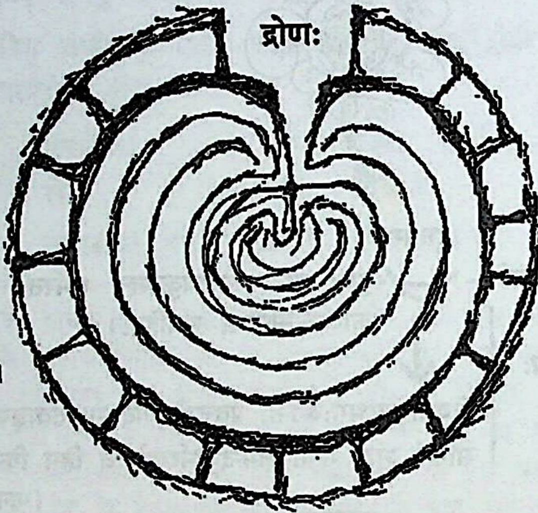
बुध तथा शनि के दुर्धर योग होने पर, जातक वेद शास्त्र के ज्ञाता, कुशल, धर्मात्मा, कवि, मनस्वी तथा सर्वजनहितकारी विचार का होता है। पुनश्च जातक प्रियवादी, सुन्दर, प्रवृत्तिमार्गी, सुकृतवान् (धर्मात्मा) नृपति होता है। वह जातक सुखी-शूरवीर-मननशील अथवा

---

१. विषे इति पाठान्तरः

चक्रव्यूहः.............आचार्येणाभिकल्पितः।

आरास्थानेषु कुमाराः दशसहस्राणि।



सिन्धुराजस्य पार्श्वतः गान्धारराजः कितवः शल्यः भूरिश्रवाः व्यवस्थिताः।

दुर्योधनः सैन्य मध्ये व्यवस्थितः कर्णदुःशासनकृपैर्वृतः। सिन्धुराजो मेरूरिव तत्पार्श्वे अक्षस्था-, मपुरोगमा स्तव पुत्राः त्रिंशत्। (द्रोणपर्व ३४)

मन्त्री-ज्ञाता होता है। कर्मेश लग्न में रहने पर वह जातक राजा के समान प्रभावी व्यक्ति होता है। उभयचरी योग की स्थिति में सहनशील-समानदृष्टिवाला समान कायवाला तथा पराक्रम में निपुण होता है। (मानसा. ४/७)

चक्रव्यूह महाभारत युद्ध में एक अद्भुद् और अद्वितीय रचना थी जिसे सर्वसाधारण योद्धाओं के लिए समझना असम्भव और दुरूह था। उस चक्रव्यूह की रचना आचार्य द्रोण ने किया था। चक्रव्यूह के आरा स्थानों (नेमि) में चारों ओर से दश हजार कुमारों (नवयुवक योद्धाओं) को उसकी सुरक्षा हेतु लगाये गये थे। चक्रव्यूह के मध्य में दुर्योधन था जो कर्ण-दु:शासन और कृपाचार्य से संरक्षित था और सिन्धुराज (सिन्ध देश के राजा) दुर्योधन के पार्श्वभाग में तथा उनके पृष्ठभाग में धृतराष्ट्र के तीस पुत्रगण पर्वत के समान चक्रव्यूह की रक्षा कर रहे थे और शत्रुओं (पाण्डव पक्ष) से लोहा ले रहे थे। सिन्धुराज के अपर पार्श्वभाग में ही गान्धार नरेश शकुनी-कितव-शल्य और भूरिश्रवा नामक योद्धागण व्यवस्थित थे। (महा.भा. द्रोणपर्व ३४)

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं, शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। प्रकरणग्रन्थः। एकप्रयोजननिबद्धार्थ जातस्याशेषार्थ प्रतिपादको ग्रन्थः—शास्त्रम्।

वियोगिनी छन्दः

विषमे ससजा गुरूः समे समरालोऽथ गुरूर्वियोगिनी।।

अधिगत्यथीश्वरादय मुक्तिं पुरुषोत्तमात्तता।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दविन्दतद्विजः।। (नैषध २/१)

अवल स्वकुलाशिनो झषान्,
निजनीडद्रुमपीडिनः खगान्।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान्,
मृगयाधाय न भूभृतां घ्नताम्।। (नैषध का. २/१०)

जब शास्त्र के एक देश से सम्बद्ध अन्य कार्य के प्रयोजनार्थ उपस्थित किया जाय तो वह प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। इसी प्रकार किसी एक प्रयोजन से निबद्ध विचार से सम्पूर्ण विचार के प्रतिपादक ग्रन्थ को शास्त्र कहते हैं।

जिस छन्द में पहले और तीसरे पाद में सगण-सगण (दो सगण), जगण और गुरू हो तथा दूसरे एवं चौथे पादों में क्रमशः सगण-मगण-रगण लघु और गुरू हो तो वह वियोगिनी छन्द कहलाता है। उदाहरण के लिये नैषध चरित प्रथम श्लोक मूल में द्रष्टव्य है।

जो मानव राजा जैसे महान् पद को प्राप्त करके भी वाणी से संयमित अर्थात् धर्मनीति के अनुकूल वाणी का आचरण नहीं करता, वह श्रेष्ठ कैसे हो सकता है? अतः जो नीतियुक्त आचरण करने वाला है वही उस मुक्ति के तुल्य आनन्द को प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो क्रोध-मोह-ईर्ष्या-द्वेष से बँधा है वे मनसा-वाचा-कर्मणा वाणी पर संयम नहीं कर पाता और मोक्ष तुल्य आनन्द से वंचित रह जाता है। (नैषध २/१)

जो मछलियाँ निर्बल होने के कारण अपने कुटुम्बियों के साथ रहती है तथा जो भूख लगने पर अपने बच्चों को खा जाती हैं एवं शीत और घाम से पीड़ित जो पक्षियाँ घास से बने घोसलों में ही निवास करती हैं; और भूख लगने पर वनस्पतियों को भक्षण करती हैं ऐसे निष्पाप (निरपराधी) को राजा लोगों को नहीं भारना चाहिये।

(नेषध का. २/१०)



उर्ध्वरेखाङ्कितः पदः,
सर्वोत्कर्षं भजेत्पुमान्। (नै.टी.)

मृगया न विगीयते नृपै; रपि धर्मागम मर्म पारगैः।
स्मरसुन्दर मां यदत्यजः, तव धर्मः स दयो दयोज्ज्वलः।।
(नैषध २/९)

परिभद्रस्य पत्राणि, कोमलानि विशेषतः।
सपुष्पाणि समानीय, चूर्णं, कृत्वा विधानतः।।
मरीचि लवणं हिङ्गु, जीरकेण संयुतम्।
अजामोदयुतं कृत्वा, भक्षयेद्रोगशान्तये।।

जिस जातक व्यक्ति के दाहिने पैर के मध्य उर्ध्व रेखा हो वह जातक व्यक्ति सभी प्रकार के उत्कर्ष को प्राप्त करता है। अर्थात् जिस क्षेत्र में कदम रखता है वहाँ उच्चता को पाता है। (नैषध टीका)

निषराज को हंस ने कहा—कामदेव के तुल्य सुन्दर हे राजन्! धर्मशास्त्र के मर्म को जानने वाले राजा मनु ने भी मृगया (शिकार खेलना) को निन्दित कर्म नहीं माना है। इस प्रकार की स्थिति में तुम्हारे द्वारा मुझ हंस को छोड़ा जाना यह तुम्हारा कर्म हृदय में उत्थित दया के उज्ज्वल उदय का ही प्रत्यक्ष और प्रशंसनीय परिणाम है। (नैषध २/९)

फरह को परिभद्र कहते हैं। परिभद्र (नीम के समान) के पुष्पसहित कोमल पत्तों को लाकर उसे छाये में सुखाकर चूर्ण करें। मरीच-सेंधानमक-हिङ्गु-जीरा को पीस कर चूर्ण करें और अजवाईन के साथ मिला कर सेवन करने से रोग की शान्ति होती है। प्रसङ्गात् इसके गुण को कहते हैं—

निम्बद्रुमो रक्तपुष्पः प्रभद्रः पारिभाद्रकः मन्दारकः कन्टकी कन्ट किंसुकः।
पारिभाद्रोऽनिलोश्लेष्मशोफभेदः कृमिन् हरेत्।।
तत्पुष्पं पीतरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम्।। (कै.नि.)

अथ भवति पारिभाद्रो मन्दारः पारिजातको निम्बतरूः।
रक्तपुष्पः कृमिघ्नः बहुपुष्पो रक्तकेशरो वसवः।।

पारिभाद्र कटूष्ण स्यात् कफवात निकृन्तनः।
अरोचकहरः पथ्यं दीपनश्चापि कीर्तितः।। (रा.नि.)

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ, हिमाद्रिशिखरोद्भवौ।
रसोन कन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ।।
ऋषभः वृषश्रृङ्गवत्।
जीवकः कूर्चशीर्षकः।। (भावप्रकाशः)

भूटानी में | सांखांडे-जीवन
लास्कंडे-वृषभ

रुद्रवन्ती

चणपत्र समं पत्रं, क्षुपं चैव तथाम्लकम्।
शिशिरे जलबिन्दूनां, स्रवन्तीति रूदन्तिका।
मृत्युनाशिनी.....देवपूजिता।
हेमकारी.....तपस्विनी।
गिरिकन्दरदुर्गेषु......पुण्यक्षेत्रेषु सर्वेषु।

जीवक नामक बूटी के शिर कूर्चाकार होता है और उसके तना वृष श्रृङ्ग के समान होते हैं और हिमालय के ऊपरी भाग में यह उत्पन्न होता है। यह लहसुन, कन्द के समान कन्दवाला निःसार तथा छोटी पत्तियों वाला होता है। रसोन के गुण यहाँ प्रसंगात् दिया जा रहा है—

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छलश्च गुरूसरः स्वादुरसश्च वल्यः।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षुर्भग्नास्थिसंधानकरो रसोनः।।
हृद्रोगजीर्णाज्वरकुक्षिशूल, विबन्धगुल्मारूचिकासशोषान्।
दुर्नामकुष्टानलसादजन्तुसमीरणस्वासकफांश्च हन्ति।।
सादः = मान्द्यम्। वृष्यः = शुक्रश्रुतिकरं किञ्चित् किञ्चित् शुक्र विवर्धनम्।
श्रुतिवृद्धिकरं किञ्चित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते।।

इसी को भूटानी भाषा में सांखांडे तथा लास्कंण्डे कहते हैं।

रूद्रवन्ती को ही रुदन्तिका और श्रवन्तिका कहते हैं। इस औषध का स्वरूप इस प्रकार होता है—चने के समान इसकी पत्तियाँ छोटी-छोटी होती हैं। इसका पौधा छोटा और आम्ल (आँवला के समानखट्टा और कसाय) स्वाद का होता है। यह शिशिर ऋतु में जलबिन्दुओं का स्राव करती है इसलिए इसका नाम रूदन्तिका पड़ा है। यह मृत्युनाशकरी-देवताओं द्वारा पूज्य तथा शीतकरी होती है। इसलिये इसे तपस्विनी भी कहते हैं। यह गिरि कन्दराओं

श्वेता-रक्ता-पीता-कृष्णा। (अभिनव बूटी दर्पण)
भक्षयेत्प्रातरूत्थाय, घृतेन मधुना सह।
विडालपत्रमात्रकम्।
सर्वव्याधि विनिर्मुक्तो, वलिपलितवर्जितः।
रसायनेषु सर्वेषु, रूदन्ती प्रवरा भवेत्।।

तीव्र दाद पर

करञ्जबीज, गन्धक। चक्रमर्द बीज, करञ्ज तैल में मिला कर लगावे। (अभिनव बूटी दर्पण)

पत्रैस्तु केसराकारैः, कलायसदृशै फलैः।
वृक्षस्तुवरको नाम, पश्चिमार्णवतीरजः।।
(सुश्रुत द्र.वा.)

(कुष्टवैरिः)

सोमलता



हस्तमात्रा वटसमान पत्रा।
(हिमालये-सन्तोपथ सूर्यकुण्ड से आगे २ मील)

में तथा पवित्र क्षेत्र में उत्पन्न होती है। यह चार वर्णों की प्रकार वाली होती है। श्वेता-रक्ता-पीता और कृष्णा वर्ण (रंग) भेद होने के कारण इसकी प्रकारता चार कही गयी है। प्रात:काल उठकर इसका सेवन करना चाहिये। रूदन्तिका को मधु के साथ विडालपत्र की मात्रा में प्रात:काल सेवन का प्रावधान है। इसके सेवन से कभी शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़ती तथा बाल सफेद नहीं होते हैं और सभी प्रकार के व्याधियों को नाश करती है। रसायन विधि के सभी प्रकार के कर्मों में इसका प्रयोग मुख्य रूप से होता है।

(अभिनव बूटी दर्पण)

तुवरक के पत्ते केसर के पत्ते के समान होते हैं और कलाय (केशव-देशी छोटा मटर) के सदृश (समान-तुल्य) इसका फल होता है। यह पश्चिमी समुद्र तट पर पाये जाते हैं। तुबरक का ही दूसरा नाम कुष्टवैर है। (सुश्रुत द्र.वा.)

सोमलता वट के समान पत्र वाली होती है। हिमालय पर्वत में सन्तोपथ एवं सूर्यकुण्ड से आगे दो मील पर यह सोमलता पायी जाती है। सोमलता के लक्षण (स्वरूप) के सम्बन्ध में आगे कहा जायगा।

सोमलता

सोममादेवो मुञ्चतु, यमाहुश्चन्द्रमा इति। (अथर्व वेद ११/६/७)

एष वै सोमो राजा देवानां अन्नं यश्च वै चन्द्रमाः। (शतपथ ब्रा.)

सोमनाथ औषधिराजा पञ्चदशपर्णः।

स सोम इव हीयते वर्धते च। (चरक चि.शा.)

सोमवल्ली द्विधा ज्ञेया, श्वेता रक्ता सकन्दका।

रसो रक्तो भवेत् यस्या, तिथि संख्या दलानि च।। (रससार)

हिमवत्यर्वुदे सह्ये, महेन्द्रे मलये तथा।
श्रीपर्वते देवगिरौ, देवसहे तथा।।
परियात्रे च विन्ध्ये देवसुन्दे ह्रदे तथा।
उत्तरे वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः।।

सिन्धु नामा महानदी,
कश्मीरेषु सरो दिव्यं
क्षुद्रकमानसम् (तत्र)

हे सोमदेव! मुझे मृत्यु से छुड़ावें। क्योंकि आप ही चन्द्रमा है। (अथर्ववेद ११/६/७)

हे सोम! आप देवताओं के राजा हैं, आप अन्न हैं और आप ही चन्द्रंमा है। (शतपथब्रा.)

सोमनाथ औषधियों के राजा हैं जो पञ्चदश पर्ण (पत्ते) वाले होते हैं और वह चन्द्रमा के समान ह्रास और वृद्धि स्वभाव का होता है। सोमलता सोम (चन्द्रमा) के समान स्वभाव वाली है। चन्द्रमा का जैसे कृष्ण पक्ष में प्रत्येक दिन एक-एक कला का ह्रास होता है और शुक्ल पक्ष में प्रत्येक दिन एक-एक कला का वर्द्धन होता है, उसी प्रकार सोमलता का कृष्णपक्ष में सारी पत्तियाँ क्रमशः झड़ जाती हैं और शुक्लपक्ष आने पर प्रतिदिन पत्ते निकलते रहते हैं। इस तरह शुक्लप्रतिपदा से पूर्णिमा तक एक-एक पत्ते निकलते रहने पर उनके पन्द्रह ही पत्ते होते हैं। अन्यत्र इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—

पञ्चाङ्गयुक् पञ्चदशच्छदा या, सर्पाकृतिः शोणितपर्णदेशा।
सा सोमवल्ली रसबन्धकर्म, प्रसाधिनी सा दिवसोपनीता।। (रस कामधेनु)

वह सोमलता पञ्चाङ्गयुक्त पन्द्रह पत्ते वाली सर्पाकार तथा रक्तपर्ण देश वाली होती है जो रसायन कर्म के प्रयोग में आती है, इत्यादि। (चरक चि.शा.)

सोमलता दो प्रकार की होती है—श्वेत तथा रक्त वर्ण वाली। परन्तु दोनों में कन्द होते हैं। जिस सोमलता में लाल (रक्त) रस होते हैं वे तिथि संख्या (पन्द्रह संख्या) के पत्ते वाली होती हैं। (रससार)

ब्राह्मी गोरखमुण्डी वचा सोंठ पीपल	समभाग चूर्ण मधु से स्वयं प्रयोग। (निघण्टु रत्नाकर)	ब्राह्मी स्वरस $\frac{1}{2}$ माशे धत्तूरे का स्वरस $\frac{1}{2}$ माशे	अपस्मार उन्माद में। (बंगसेन)

सगोत्रस्त्रीप्रसङ्गेन, जायते च भगन्दरः।
तेनापि निष्कृतिः कार्या, महिषीदानयत्नतः।।

(शतातपस्मृति ५/३३)

वह सोमवल्ली (सोमलता) हिमालय, [१]अर्बुद, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह, परियात्र, विन्ध्य, देवसुन्द तथा ह्रद् (समुद्र किनारे) तथा वितस्तानदी के उत्तर दिशा में पायी जाती है। इसके अलावा सिन्धु नामक नदी के किनारे एवं कश्मीर आदि में पायी जाने वाली क्षुद्रक मानस स्थानादि में भी पायी जाती है।

ब्राह्मी-गोरखमुण्डी-वचा-सोंठ और पीपल को समभाग में एकत्रित करके उसका चूर्ण बना लें और मधु के साथ सुबह शाम खाने से स्वास्थ्य लाभ होता है और रोग अतिक्रमित नहीं करते। यह स्वयं का अनुभूत प्रयोग है। निघण्टु रत्नाकर)

ब्राह्मी बूटी का स्वरस आधा माशा और धत्तूरे का स्वरस आधा माशा को मिलाकर सुबह शाम सेवन करने से अपस्मार और उन्माद रोग शान्त हो जाता है। रोगाधिक्य में तीन बार भी लिया जा सकता है यह यथा स्थिति पर निर्भर करता है, परन्तु इसके लिए विज्ञ वैद्य से परामर्श उचित है। (बंगसेन)

सगोत्र स्त्री के साथ संभोग करने पर भगन्दर नामक रोग उत्पन्न होता है। इस पाप के निष्कृति (निर्वारण) के लिए प्रयत्नपूर्वक अर्थात् शास्त्रानुमोदित विधान से महिषी का दान करना चाहिये। आज विज्ञान के युग होने पर भी हमारे भारतीयजन इसकी वैज्ञानिकता के रहस्य की ओर न देखकर अन्धाचरण करने पर उतारू हैं। चिन्ताजनक और दुःखद स्थिति यह है कि माननीय न्यायालय भी इस विज्ञान की परख किये वगैर निर्णय दे रहे हैं। जिससे वर्षों के सूक्ष्म वैज्ञानिक ऋषिलब्ध प्रयोग के नष्ट होने की स्थिति उत्पन्न होने जा रही है। अच्छा होता कि हमारे माननीय न्यायालय शासन-प्रशासन में बैठे बड़े-बड़े ओहदे वाले मैकाले के मानस पुत्रों को एक बार उन वैज्ञानिकों (मानवजीवशास्त्रियों) के अधुनातम शोध की ओर ध्यानाकर्षण करा पाते तो जीन विकृति से होने वाली महद् हानि से आर्यों का पवित्र देश से पारम्परिक संरक्षित पवित्र-जीन से संरक्षित हो जाता। यहाँ मानव-जीन शास्त्रीय वैज्ञानिकों के इस विषय पर शोधपरक विचार को हम यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं—

---

१. भारत के पश्चिम आबू पहाड़।

'दैनिक भास्कर' (दिनांक १५.१.१९९७) के जयपुर-संस्करण में यह समाचार प्रकाशित हुआ है कि 'पाश्चात्त्य संस्कृति और आधुनिकता के माहौल में पारम्परिक रीति-रिवाजों से विवाह करना भले ही दकियासूनी माना जाता हो; किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से स्वास्थ्य के लिये यही उचित है। वैज्ञानिकों ने अन्तरजातीय विवाह-प्रथा को मान-स्वास्थ्य के लिये हानिकारक बताया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि समुदाय से बाहर शादी करने वालों की सन्तानों के शरीर पर बाल तथा अँगुलियों में नाखून नहीं आने की शिकायत हो सकती है और मस्तिष्क-कैंसर की सम्भावना बढ़ जाती है।

इण्डियन साइंस कांग्रेस के चौरासीवें वार्षिक सम्मेलन में वैज्ञानिकों ने उक्त रहस्योद्घाटन किया। वैज्ञानिकों एवं मानवशास्त्रियों ने कहा कि—भारतकी पारम्परिक वैवाहिक व्यवस्था से छेड़छाड़ करने से जनस्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेंगे। विशेषज्ञों ने सदियों पुरानी वैवाहिक व्यवस्थाओं को विकृत करने के जैविक दुष्परिणामों के लिये आगाह किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानव-विज्ञान-विभाग में मानव-जीन विषय के प्रोफेसर डॉ. देवप्रसाद मुखर्जी ने अन्तरजातीय विवाह-प्रथा के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभावों की चर्चा करते हुए कहा कि—हमें अपने समुदाय के भीतर ही विवाह करने को प्रोत्साहित करना चाहिये, अन्यथा मानव-जीन की भयंकर क्षति के दुष्परिणाम भुगतने होंगे। उन्होंने कहा कि जीन-विकृति से शरीर में सिकल सेन एनीमिया एवं जी-सिक्स पी.डी. की कमी हो जाती है। वैसे सिकल सेल जींस दक्षिण भारतीय कबीलों में ही पाये जाते थे; किन्तु अव इनका प्रसार चुनिंदा उत्तरी एवं मध्य भारत के राज्यों तक हो गया है। डॉ. मुखर्जी ने कहा कि वैज्ञानिक निष्कर्षों को रूढ़िवादी कहकर उनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।.....

डॉ. मुखर्जी ने बताया कि वैज्ञानिकों ने अन्तरजातीय विवाह करने वाले कुछ लोगों के अध्ययन के आधार पर 'प्राइवेट जींस' की पहचान की है। उन्होंने बताया कि भारत में इस जींस से पीड़ित व्यक्तियों के शरीर पर बाल तथा अंगुलियों पर नाखून नहीं पाये जाते हैं। पश्चिम बंगाल के चौबीस परगना क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने अन्तरजातीय विवाह करने वाले कबीलों में मस्तिष्क कैंसर की शिकायत पायी।

वैज्ञानिकों का कहना है कि अध्ययन से पता चलता है कि एक समुदाय में अहानिकारक रहने वाले जींस के दूसरे समुदाय में हानिकारक प्रभाव हो सकते हैं।.....

अंग्रेजी समाचार-पत्र THE TIMES OF INDIA (7.1.1999) में यह समाचार प्रकाशित हुआ है—CHENNAI : Noble laureate James Watson considered to be the father of DNA technique, has provided a shot in the arm for traditionalists. According to him, gene pools get better in arranged marriages.

Easily the most sought after participant at the 86the Indian Science Congress currently on here, Dr. Watson told The Times of India that he supported Indian research on caste-based DNA.

"Genetics is not the root-cause of racism. Racism existed long before casteism", he said.

He was responding to recent researches in Hyderabed and West Bengal which highlighted patterns of diseases and similar DNA patterns in various caste groups in India. These researches have, however, been opposed by certain quarters who say that they reinforce the 'varna' system with genetic evidence. "I am excited about the history of India and the study of people with biotechnology", said Dr. Watson. He said while comparing genes and DNA to caste groups, "we must recognise that human beings are different. It is interesting to study how similar groups adapt to diseases, how isolated groups have greater probability of similar diseases and what is so unique about such groups".

He said, "There has been no much discrimination against the so called untouchables, but genetics shows that they have differeing genes. Let us not have opposition to human diversity in any form"

Dr. Watson said that only time will tell, by studyingthe uniqueness of each caste group, how each "tackled its particular problems". [डॉ. एन.ए. तकनीक के जनक कहलाने वाले नोबल-पुरस्कार-विजेतां जेम्स वॉटसन ने पारम्परिक विवाह-प्रथा का समर्थन करते हुए कहा है कि इससे (अपनी जाति में विवाह करने से) जीन-समूह अधिक लाभप्रद होते हैं।

'इण्डियन साइंस कांग्रेस' के ८६वें सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण रूप से भाग लेने वाले डॉ. वॉटसन 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया' को बताया कि वे जाति पर आधारित डी.एन.ए. की भारतीय खोज का समर्थन करते हैं। उन्होंने कहा कि 'जैनेटिक्स (उत्पत्ति-विषयक शास्त्र) वंश-परम्परा का मूल कारण नहीं है। वंश-परम्परा तो जातिवाद से भी बहुत पहले से विद्यमान थी।' उन्होंने हैदराबाद और पश्चिमी बंगाल में हुए उन अनुसन्धानों का समर्थन किया, जो भारत की भिन्न-भिन्न जातियों के समूह की बीमारियों तथा डी.एन.ए. के नमूनों पर प्रकाश डालते हैं। इन अनुसन्धानों का कुछ लोगों ने यह कह कर विरोध किया है कि इससे वर्ण-व्यवस्था को बल मिलेगा। डॉ. वॉटसन ने कहा कि 'मैं भारत के इतिहास एवं भारतीय लोगों के जीव-विज्ञान-तकनीक के अध्ययन से प्रभावित हूँ।' उन्होंने जीन्स और डी.एन.ए. की विभिन्न जातियों से तुलना करते हुए कहा कि 'हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि मनुष्य-जातियाँ अलग-अलग हैं। यह अध्ययन रोचक है कि एक जाति के लोगों पर बीमारी का प्रभाव नहीं पड़ता, जबकि दूसरी जाति के लोगों पर बीमारी की अधिक सम्भावना रहती है, न जाने उन जातियों में ऐसी क्या विशेषता है।

उन्होंने कहा कि 'अछूत कहे जाने वाले लोगों के प्रति बड़ा भेद-भाव रहा है; परन्तु जैनेटिक्स बताता है कि उनमें अलग जीन्स हैं। अतः हमें किसी भी प्रकार से मनुष्यों की इस भिन्नता का विरोध नहीं करना चाहिये।'

शूना निक्षेपहारकः।
शकटेन च सूचकः।
शुना हते निःक्षेपं स्थापयेन्निजशक्तितः। (शातातप स्मृति ५/३३)
लग्ने व्यये च पाताले, जामित्रे चाष्टमे कुजः। (मङ्गली)
कन्या च मृतभर्ता स्यात्, भर्ता भार्यां हनिष्यति।।
(सर्व ज्यौ.सं.)

डॉ. वॉटसन ने कहा कि प्रत्येक जाति की विशेषताओं का अध्ययन करने पर यह तो समय ही बतायेगा कि प्रत्येक जाति के लोगों ने अपनी विशिष्ट समस्याओं का समाधान कैसे किया।]

इसलिय हमारे पूर्वज तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने अपने सतत् शोध के आधार हमें शास्त्र निर्देशन के द्वारा समय-समय पर वैज्ञानिक विधि संविधान की संरचना कर लोक नियमन और उसके हित संरक्षण करते रहे हैं। कतिपय पुराणों स्मृतियों के वचन इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—'विवाहश्च विवादश्च तुल्यशीलैर्नृपेष्यते' (विष्णुपु. ३/१२/२२), 'वरयेत् कुलजां प्राज्ञो विरूपामपि कन्यकाम्। सुरूपां सुनितम्वाञ्च नाकुलीनां कदाचन।।' (गरूड़पु. ११०/५), 'न सगोत्रां न समानार्षप्रवरां भार्यां विन्देत् मातृतस्त्वापञ्चमात् पुरुषात् पितृतश्चासप्तमात।' (विष्णु स्मृ. २४), ' न पञ्चमीं मातृबन्धुभ्य: सप्तमीं पितृबन्धुभ्य:।' (बशिष्ठ स्मृ. ८/२), 'पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृत: पितृतस्तथा।' (याज्ञवल्क्य स्मृ. १/१३, गरूड़ पु., आचार. ९५/३), 'विन्देत विधिवद् भार्यामसमानार्षगोत्रजाम्। मातृतत: पञ्चमीं चापि पितृतस्त्वथ सप्तमीम्।।' (शंखस्मृति ४/१), 'पञ्चमीं मातृपक्षाच्च, पितृपक्षाच्च सप्तमीम्। गृहस्थश्चोदवाहेत्कन्यां न्यायेन विधिना नृप।।' (विष्णु पु. ३/१०/२३), 'असगोत्रान्। मातुरसपिण्डान्। (गोमिलगृह्य सू. ३/४/४-५), सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।' (मनु.स्मृ. ३/१२)।

अत: सभी धर्मशास्त्रों ने सगोत्र-सपिण्ड-सार्ष-सप्रवर विवाह का निषेध किया है जो परम वैज्ञानिक पक्ष है। समय रहते हमारे भारतीय विचारशील भाई इस पर सजगता से पहल करें और अपने मूल स्वरूप को बचाने के लिए इस विज्ञान के अन्धे विरोधियों को उचित उत्तर दें, यह मेरा व्यक्तिगत निवेदन है। (शातातप स्मृति ५/३३)

कुत्ते अगर मर जाय तो सूचक (फेकने वाला) उसे गाड़ी से लाद कर वहिः देश ले जाय, उसे अन्य लोग स्पर्श न करे और कहीं तद्योग्य उपयुक्त जगह पर फेंके।
(शातातप स्मृ. ५/३३)।

यदि लग्न-व्यय-चतुर्थ स्थान (सुख स्थान)-सप्तम स्थान (पत्नी स्थान) तथा अष्टम भाव में मंगल हो तो कन्या जातक के कुण्डली में पति का विनाशक योग और पति

जामित्रे च यदा शौरिः, लग्ने वा हिबुकेऽथवा।
नवमे द्वादशे चैत्र, भौम दोषो न विद्यते।।



जातक के कुण्डली में होने पर पत्नी का विनाशक योग होता है। इसे माङ्गली योग कहते हैं। (सर्व ज्यौ.सं.)

यदि जातक के कुण्डली में सप्तम भाव के लग्न में चतुर्थ भाव-नवम भाव तथा द्वादश भाव में शनि हो तो मंगल का दोष अर्थात् पति-पत्नी मारक योग नष्ट हो जाता है अर्थात् माङ्गली दोष नहीं होता।

यह चित्र भगवान् शिव के हैं। यहाँ भगवान् शिव शबर वेषधारी स्वरूप से सकल शबर मन्त्र के उपदेष्टा हैं। कहते हैं भविष्य (कलियुगादि) में वैदिक मन्त्रों को समझने में लोगों को कठिनाई होगी ऐसा अभिप्राय से भगवान् शंकर ने शबरभेष को धारण कर शब्दवर्ण में निहित विज्ञान के संरक्षण हेतु सर्वप्रथम माता पार्वती (शबरी) को इन मन्त्रों का उपदेश किया। शबरमन्त्र सभी मन्त्रों में अधिक बलवान् है।

नागदमन

जलेन नागदमनी,
मूलं नस्यं प्रयोजितम्।
महासर्पस्यविषमं,
विषं नश्यति तत्क्षणात्।।

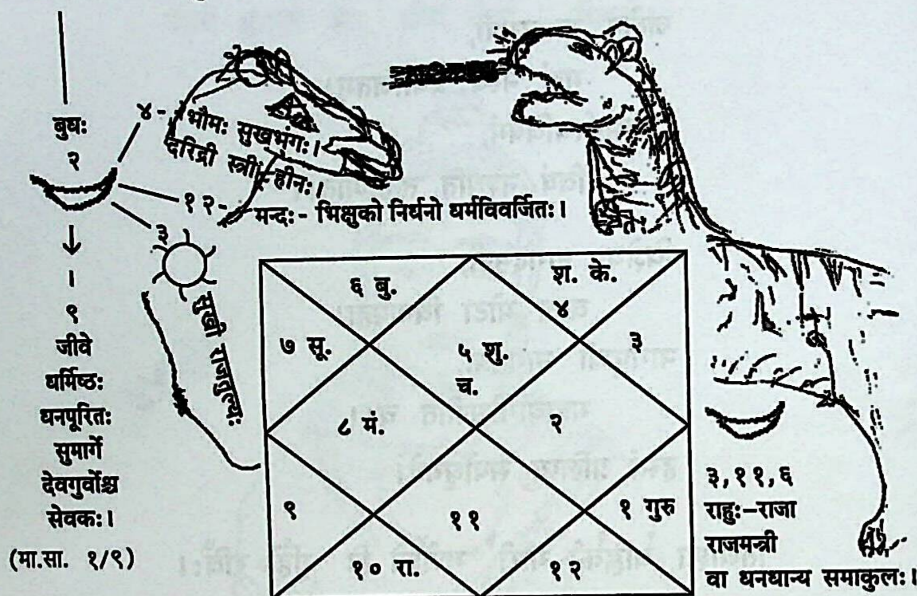
विज्ञेया नागदमनी,
वला मोटा विषापहा।
नागपुष्पी नागपत्रा,
महायोगीश्वरीति च।।
हस्तं प्रलिप्य सर्पोंधृयते।

तिथीशा [१]वह्नि[२]कौ गौरी[३] गणे[४]शो हि[५] गु[६]हो रवि[७]ः।
शिवो[८] [९]दुर्गा[१०]न्तको विश्वे[११] हरिः[१२] कामः[१३] शिवः[१४] [१५]शशी।।
(मुहूर्त चिन्तामणि ३)

नागदमनी नामक पौधा के मूल (जड़) को जल में डालकर अथवा नस्य (नस) बना कर प्रयोग करने से महासर्प के भी भयंकर विष तत्काल नष्ट हो जाता है। नागदमनी के जड़ धर-पुष्प-पत्र सभी विष को हरण करने वाली है। हे महायोगीश्वरी (शबरी) ऐसा जानो। अगर नागदमनी के पत्र-पुष्पादिकों को पीस कर लेप बना लिया जाय और हाथ-पैर आदि अंग में लगा लिया जाय तो सर्प को पकड़ना सम्भव हो जाता है।

शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा पर्यन्त पन्द्रह तिथियों की संख्या है और इसी प्रकार कृष्णपक्ष में भी पन्द्रह ही तिथियाँ हैं। अत: तिथियों की संख्या सोलह ही मानी गयी है। उन प्रत्येक तिथियों के अलग-अलग स्वामी हैं। जैसे—प्रतिपदा के अग्नि, द्वितीया के ब्रह्मा, तृतीय के गौरी, चतुर्थी के गणेश, पंचमी के नाग, षष्ठी के स्कन्द (स्वामि कार्तिकेय), सप्तमी के सूर्य, अष्टमी के शिव, नवमी के दुर्गा, दशमी के यमराज, एकादशी के विश्वदेव, द्वादशी के विष्णु, त्रयोदशी के कामदेव, चतुर्दशी के शिव, पूर्णिमा के चन्द्र और अमावस्या के पितृगण देवता होते हैं। (मुहूर्त चिन्तामणि ३)

धनधान्य समाकुलः। धनगत शशि सूनौ-सर्वकाल प्रवासी सत्यवादी। (मा.सा.)



निजोच्चगे शशिजे–अतिमतिविभवः पापविमुक्तः–क्रियालसः।

यदि जातक की कुण्डली में चन्द्रमा से द्वितीय स्थान में बुध ग्रह हो तो वह जातक धन-धान्य से परिपूर्ण, सतत प्रवासी तथा सत्यवादी होता है। यदि जातक के कुण्डली में चन्द्रमा से चतुर्थ स्थान में बुध हो तो वह पत्नी से रहित तथा सुख का भंग होता है। चन्द्रमा से द्वादश स्थान में शनि ग्रह के होने पर वह जातक भिक्षुक, निर्धन तथा धर्म से रहित होता है। जातक के कुण्डलीस्थ चन्द्रमा से तृतीय स्थान में शनि के होने पर वह जातक सुखी और राजा के तुल्य होता है। चन्द्रमा से नवम स्थान में गुरू के रहने पर वह जातक धार्मिक, धन से परिपूर्ण, सुमार्गगामी तथा देवता एवं गुरू का भक्त (सेवक) होता है। चन्द्रमा से तृतीय-षष्ठम तथा एकादश स्थान में राहु के होने पर वह जातक राजा-मन्त्री अथवा धन-धान्य से परिपूर्ण होता है। (मा.सा. १/९)

जातक की कुण्डली में बुध यदि अपने उच्च राशि में हो तो वह जातक अद्वितीय विद्वान्, पाप से रहित, लेकिन आलसी होता है।

तृतीये दशमे पञ्च-नव-पञ्चमयोर्दश।
दशपञ्चाष्टमे तुर्ये, सप्तमे विंशतिस्तथा।।

विश्वास्तु गृहदृष्टिना; मेषु स्थानेषु कथ्यते।
पञ्चविंशोपकं प्रोक्तं, पादमेकं क्रमाद् बुधैः।।

आय-व्यये धने षष्ठे, लग्ने स्वेष्टा न दृश्यते।
तृतीये दशमे मन्दो, नवमे पञ्चमे गुरूः।
विंशति वीक्ष्यते विश्वांश्चतुर्थे चाष्टमे कुजः।।

मूल Δ :–सिंह का सूर्य, वृष का बृहस्पति, तुला का शुक्र और कुम्भ का शनि मूल त्रिकोण है।

ग्रहावस्थित स्थान से तृीतय दशम में ग्रहों की पाँच विश्वा दृष्टि, नवम और पञ्चम में दश विश्वा दृष्टि, पञ्चम और अष्टम में दश विश्वा दृष्टि तथा चतुर्थ और सप्तम में ग्रहों की बीस विश्वा दृष्टि होती है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। ग्रहावस्थित स्थान से एकादश-द्वादश-द्वितीय-षष्ठम स्थान में तथा लग्न में ग्रहों की दृष्टि नहीं होती।

ग्रहावस्थित स्थान से तृतीय-दशम स्थान को शनि, नवम-पञ्चम को गुरु, चतुर्थ-अष्टम को बुध तथा प्रकारान्तर से मंगल बीस (विंशति) विंशोपक दृष्टि से देखते हैं अर्थात् इन स्थानों में इनकी पूर्ण दृष्टि होती है।

भकारश्चैव दकारः, रकारोर्ध संज्ञकः॥
ततः नारायणश्चैव, भाषाबद्धमिदं कृतम्॥१॥
अल्पज्ञोऽपि प्रयत्नेन, मतिप्रभमणिप्रभा॥
कृतस्तु यथज्ञानेन, आत्मनश्च सुखाय वै॥२॥
माहिष्मत्यां[1] नगर्याञ्च, लब्धदेहो मिथोभुवाम्[2]॥
पिता योगधरः योगी, माता इन्द्रमुखी तथा॥३॥
उग्रतारा[3] उपासके ये, धर्मकर्मरते शुभे॥
तयोर्प्रसादाल्लिखितं, मणिप्रभा प्रयत्नतः॥४॥
नौमि लक्ष्येश्वरं गुरूं, स्वयञ्च शिवं शङ्करम्॥
प्रसीदन्तु मणिप्रभया, टीकया कराञ्जलिना॥५॥
स्वस्त्यस्तु प्रकाशकस्य, स्वस्त्यस्तु पवनस्य च॥
टंककस्य श्रीपिन्टस्य, श्रीरस्त्वीति कामये॥६॥

卐 इति शुभम् 卐

---

१. अधुना महिषीति नाम्ना ख्याता ग्रामे। २. मिथिलायाम्। ३. दशमहाविद्यासु प्रसिद्धा तारा।

श्री स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती
सीतापुर जि. ग्रा. वाड़ी।



कान्यकु.ब्रा.। पिता-मंगललाल शुक्ल। १८२० ई.। पू. नाम-वंशीधर। निर्वाण १८९८ ई. वैशाख ८० वर्ष की आयु को काशी अहिल्या घाट।

पं. श्री शिवकुमार शास्त्री
वि.सं. १९०४ (ई. १८५४) फा.कृ. ११
वाराणसी जि. उन्दी ग्राम
पिता- रामसेवक मिश्र
देहावसान-वि. १९७५। भाद्र प.। २।।



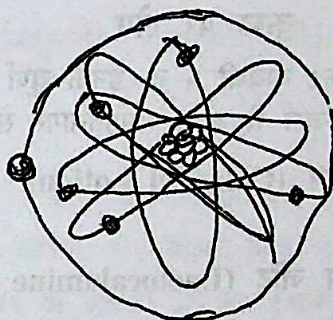
ब्रह्मलीन स्वामी श्री विशुद्धानन्द सरस्वती जी का जन्म सीतापुर जनपद के ग्राम वाडी के कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में १८२० ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम ब्रह्मलीन मङ्गललाल शुक्ल था। इनका पूर्व नाम वंशीधर शुक्ल था। इनका निर्माण (मृत्यु) १८९८ ई. में काशी के अहिल्या घाट स्थान पर हुआ।

श्री शिवकुमार शास्त्री जी का जन्म वाराणसी जनपद के उन्दी ग्राम में विक्रम सम्वत् १९०४ तदनुसार ईसवी सन् १८५४ को फाल्गुन कृष्णपक्ष के एकादशी तिथि को हुआ था। इनके पिता का नाम श्री रामसेवक मिश्र था। इनका देहावसान विक्रम सम्वत् १९७५ में भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष द्वितीया तिथि को हुआ था।

कुछ आवेश शून्य कण है। इन्हें न्यूट्रान कहते हैं, प्रोटान एवं न्यूट्रान अधिक भारी कण है। तथा परमाणु के केन्द्र में होते है।

इलेक्ट्रान प्रोटान २ हजारवां भाग है जो इस केन्द्र के चारो ओर भ्रमता है।

परमाणु, इलेक्ट्रान एवं प्रोटान संख्या समान होती है।



परमाणु में ऊर्जा का केन्द्र नाभि है नाभिक यूरेनियम के परमाणु विखण्डन से ऊर्जा उत्पन्न होती है। परमाणु ऊर्जा उत्पादन में योरियम प्लूटोनियम आदि की आवश्यकता पड़ती है। केरल में योरियम का अक्षय कोष है।

(डॉ. मुरली मनोहर जोशी)



कोताहवीं इसी की कत समझ गये।
आँखों के सामने जो है मन्दर है।।
Wysolone वाईसोलन



परमाणु ऊर्जा

परमाणु विखण्डन द्वारा ऊर्जा प्राप्त होता है। तत्त्व आक्सीजन हाइड्रोजन कार्बन-लोहा-सोना ताँवा आदि, आक्सीजन हाइड्रोजन मिलकर पानी बनता है। तत्त्व परमाणु से निर्मित है। तत्त्व का परमाणु सूक्ष्म कण है।

एक बूँद पानी में लगभग ३३०० परमाणु होते है। यदि मनुष्य का आकार परमाणु समान हो जाय तो संसार के सब मनुष्य एक आलपिन (सूई) के सिरे पर समा जाय। ऊर्जा का भण्डार परमाणु है। उसमें ॠण एवं धन विद्युत् आवेश से युक्त कण पृथक्-पृथक् विद्यमान है। इनका नाम इलेक्ट्रान तथा प्रोटान है।



कुष्ठ पर लेप

तुत्थ, सुहागा, २-२ टंक। वावची ५ टं. इनके चूर्ण में भँगरे की ७ भावना देवे, फिर लेप गोमूत्र अथवा जल से करे। (अमृतसागर से)

कैलेड्रिल लोशन (Caladryl Lotion)

or

लैक्टोकैलेमाइन जीट (Lactocalamine Zeet)

१ गोली सुबह, १ गोली साम।



दाद पर–पुवाड़ बीज, वावची, सरसों, तिल, कूट दोनों हल्दी, नागरमोथा, समभा, मट्ठे में पीसकर लेप करें। (अमृतसागर से)



अगर ये नूरे कुदरत, रंगो वू जाहिर न फरमाता।
गुलस्ताने दो आलम, किस रविश से ताज़गी पाता।।

(शंकर दयाल साहब, लखनऊ)



निम्बामृत तैल

निर्गुण्डी स्वरस ५१, अमृता स्वरस ५१, निम्ब पत्र स्वरस ५१, सार्षपतैल १ कि., प्रक्षेप हल्दी ५० ग्रा., मात्र २० बिन्दु।



हाजराईशा-१२ शिष्याः

१ जोन, २ मार्क्स, ३ लूक, ४ ——— वायविल

५ पीटर

६ जूदा

लक्ष-दर्शनाङ्कनयोः। (अष्टाध्या.पा.व्या.)



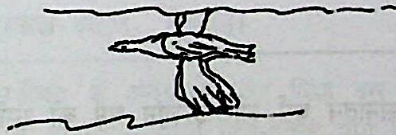
अनुपीड़ा (जोड़ो का दर्द)

नीम पत्र ५ = दो छटांक, ५० काली मिर्च, काथड़ा एक पाव, ६ सात दिन। बम्बई के ८० वर्ष के वैद्यका बताया। (ज.स्वा.)



कुरालसीतः हुसेनपुरकला प्रस्थानम्। (फाल्गुणकृ. ६, २०४६)

हुसेनपुरतः मोहम्मदपुरमागतः–फाल्गुन शु. ६/२०४६।



अमायां सौम्यायां मोहम्मदपुराद् हरद्वारे स्नात्वा कूपरगढ कुट्यां प्राप्तः।

चैत्र शु. ८ सोमे बुढानामागत्य भौमे शाकम्भरी दर्शनं सायं पुनर्बुढानाग्राम आगतः।

सम्वत् २०४६ के फाल्गुन कृष्ण छठ को कुरालसी से हुसेनपुर कला को प्रस्थान किया।

फाल्गुन शुल्क छठ २०४३ सम्वत् में हुसेनपुर से मोहम्मदपुर आ गये थे। सोमवती अमावस्या में मोहम्मदपुर से हरिद्वार स्नान करके कपूरगढ़ कुटी पर आये। चैत्र शुक्ल अष्टमी को सोमवार के दिन बुढाना आकर मंगल दिन को शाकम्भरी देवी के दर्शन कर पुनः बुढाना आ गये। यहाँ श्री लक्ष्मेश्वर महाराज ने अपनी यात्रा को डायरी में उद्धृत किया है।

वहिर्लापिका

अक्षर कौन विकल्प को, युवति वसति किहि अंग।
बलि राजा कौने छल्यो, सुरपति के परसंग।।
(केशव कवि) (वामन)

जिनते जगत अनेक रस, प्रकट होत अनयास।
तिनसो विमति विभाव कहि, वरनत केशवदास।। (केशवदास)



मुकामात–सूफीमत ७ सोपान

७. संतोष
६. ईशविश्वास
५. धैर्य
४. अकिंचन
३. वैराग्य
२. आत्मसंयम
१. अनुताप

४. वस्ल-मिलन
३. वज्द-समाधि
२. प्रेम-अहं विस्मृति
१. मारिफत-अनुभूति

प्रतीक चित्राङ्कन द्वारा सनातन धर्म और इस्लाम धर्म की समीक्षात्मक दृष्टि से समता-विषमता तथा उद्देश्य एवं साधना विधि को प्रस्थापित किया जा रहा है। सनातन धर्म में आत्मोद्धार हेतु सात सोपान कहे गये जबकि इस्लाम में चार सोपान की कल्पना है। सनातन धर्म में प्रथम अनुताप अर्थात् प्रपञ्च विषय से दुःख प्राप्त होने का मिलन काल और द्वितीय में उससे बचने के लिए आत्मसंयम करना, तृतीय में विषयों से वैराग्य होना, चतुर्थ में अंकिचन अर्थात् सर्वत्याग करना, पाँचवें में धैर्य का आलम्बन, छठे सोपान में ईश में पूर्ण विश्वास करना, सातवें में यथा लब्ध वस्तुओं से ईश्वर का प्रसाद समझकर सन्तोषपूर्वक शरीर निर्वाह करना बताया गया। इस्लाम के सूफी मत में प्रथम सोपान मारिफत है, अर्थात् अल्लाह की सर्वत्र अनुभूति करना, द्वितीय में प्रेम अथात् अहम् की विस्मृति, तृतीय में वज्द अर्थात् समाधि और चतुर्थ सोपान में वस्ल अर्थात् अल्लाह से मिलन ये चार सोपान हैं।

हाल-अवस्थायें

शरीयत

सफ़रुल अब्द– १. जीवयात्रा-प्रवृत्ति-नासूत-विधिः

└हक– २. निवृत्तिः-मलकूत-तरीक़त-उपासना

३. जवरूत-आरिफ़-ज्ञान

४. लाहूत-हकीकत-सत्य-ज्ञाननिष्ठ

१. नरलोक

२. देवलोक

३. सत्यलोक

४. माधुर्यलोक

छः कर्म–

१. नमाज-सलात,

२. तिलावत-पाठ कुरान्

३. अवराद-पाठ पद

४. मुजाद्-आत्मनिग्रह

५. जिक्र-जली-पाठ/खफ़ी-जप

६. मराकब-ध्यान, चिन्तन।

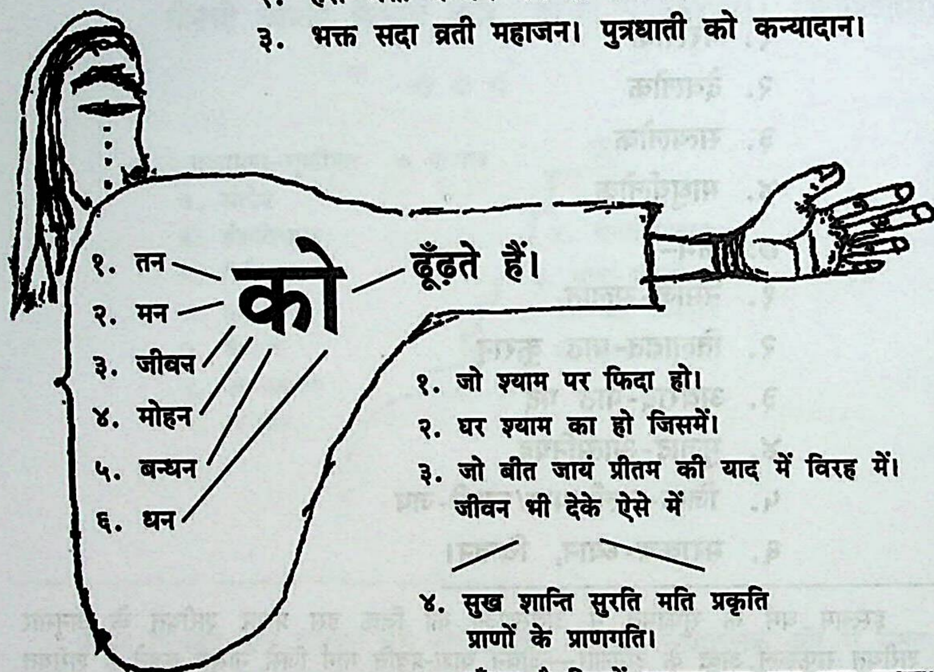
इस्लाम धर्म के सूफीमत में अवस्थाओं का जिक्र इस प्रकार शरीयत के अनुसार है। शरीयत सफरूल अब्द के अनुसार—जीवन यात्रा-प्रवृत्ति मार्ग जिसे नासूत कहते हैं शरीयत विधि के अनुसार प्रथम अवस्था कहा गया। द्वितीय निवृत्ति जिसे मलकूत-तरीक़त कहते हैं वह उपासना है। तृतीय जवरूत-आरिफ़ कहते हैं वह ज्ञान है। चौथी लाहूत हकीकत कहते हैं वह सत्यज्ञाननिष्ठ अवस्था है। ये सभी हक अर्थात् अधिकार से सम्बन्धित हैं।

इस्लाम सूफि में चार लोक हैं—१. नरलोक, २. देवलोक, ३. सत्यलोक और ४. माधुर्यलोक। इस धर्म के अनुसार इनके छः कर्म हैं—१. नवाज-सलात, २. तिलावत-पाठ-कुरान, ३. अवराद-पाठ-पद, ४. मुज़ाद-आत्मनिग्रह, ५. जिक्र-जेली-पाठ/ख़फी-जप और ६. मराक़ब-ध्यान-चिन्तन है।

सनातन धर्म में भी चार अवस्थाएँ-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और तुरीया ही है और इसी तरह छः कर्म भी षट्कर्म नाम से प्रसिद्ध ही है।

चैत्र कृष्ण-१४ मुहम्मदपुरतः हरद्वारम्। चैत्रस्यामायां कर्पूरगढ़ कुटीं प्राप्तवान् २०४६। नौमीं शाकम्भरी, १० बूढ़ाना, चैत्र शुक्ल ११ बुढ़ानातः हरद्वारमागतः।

१. भक्त मामू भानजे।
रङ्गनाथ-विभीषण अयोध्या से लाये।
काबेरी निकट-पारसनाथ की प्रतिमा।
२. हंस भक्त-वैष्णव वेष से बँधाया।
३. भक्त सदा व्रती महाजन। पुत्रघाती को कन्यादान।



पूज्य स्वामी श्री लक्ष्येश्वराश्रम महाराज सम्वत् २०४६ चैत्र मास की यात्रा का उल्लेख यहाँ कर रहे हैं—मैं चैत्र मास कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि को मुहम्मदपुर से हरद्वार (हरिद्वार) आ गया। पुनः मैं चैत्र मास की अमावस्या को कर्पूरगढ़ कुटी आ गया। चैत्र शुक्ल नौमी तिथि को शाकम्भरी देवी स्थान, दशमी को बुढ़ाना तथा बुढ़ाना से एकादशी (शुक्लपक्ष) को पुनः हरद्वार आ गया।



वर्ष १९९०

१	जनवरी	७
२	फरवरी	३
३	मार्च	३
४	अप्रैल	६
५	मई	१
६	जून	४
७	जुलाई	६
८	अगस्त	२
९	सितम्बर	५
१०	अक्टूबर	७
११	नवम्बर	३
१२	दिसम्बर	५

नोटः–मास सूत्र को तारीख से जोड़ो, सात से भाग दो, शेष संख्या को रविवार (एतवार) से ऊपर दिन संख्या से दिन जानो)

यह प्रतीक चित्र गोवर्धनपीठ पुरी के ब्रह्मलीन शंकराचार्य अनन्त श्री विभूषित श्री भारतीकृष्णतीर्थ, पुरी (जगन्नाथपुरी) उड़ीसा का है।

विधि

आस्टिन-प्रभु का आदेश।



ऊँचा भरनबनना माँ तेरा,
द्वार थे लाया भगत ने डेरा।
बार-बार माँ तुझको टेरा,
आजा माँ आजा माँ आजा माँ।
तूने बनाया तू ने बढ़ाया,
तू ने करि करुणा अपनाया
मैंने तुमको जान न पाया,
अपना जानकर आ जा माँ
आ जा माँ आ जा

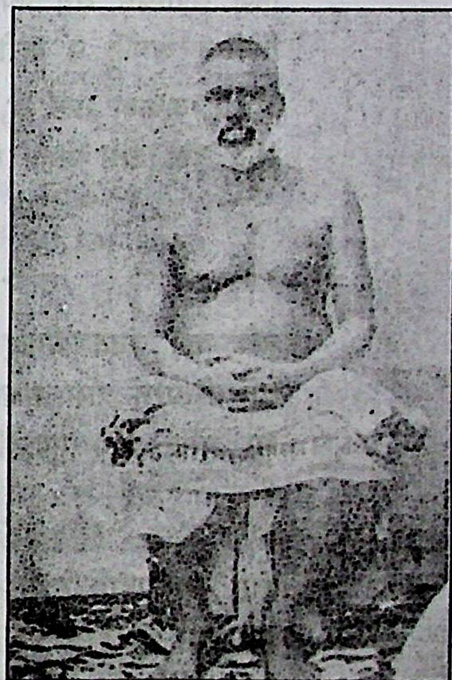
जग में जनमा माया ने घेरा
चौरासी का भारी फेरा।
अब माँ काट काल का
घेरा आ जा माँ आ जा.....।

आस्टिन का मत है कि विधि (नियम-कानून) प्रभु (भगवान्) का आदेश होता है इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसका पालन करना चाहिए।

यह भगवती जगदम्बा शबरा का मंदिर है। इसी स्थान पर भगवान् शिव शबर ने शाबर मन्त्र की प्रथम अधिकारिणी को सर्वप्रथम शबर मन्त्र का उपदेश किया था। जो भक्त माँ जगदम्बा को अनन्यभाव से भजता है उसकी जगदम्बा माँ अवश्य ही मार्गदर्शन-रक्षण करती हैं।

(लुशानातः कुरालसी पौ. शु. १३/२०४६)
(श्री सुखबोधाश्रमाः-ब्राह्मीभूताः। २०४६ पौ.शु. ८)


श्री कृष्णबोधाश्रम जी


श्री पूर्णानन्दतीर्थ जी उड़िया बाबा

स्वामी जी लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज सम्वत् २०४६ पौष शुक्ल त्रयोदशी को लुशाना से कुरालसी आये।

पूज्य श्री सुखबोधाश्रम जी महाराज सम्वत् २०४६ पौष शुक्लपक्ष अष्टमी तिथि को ब्रह्मलीन हुए।

उपर्युक्त प्रथम चित्र ब्रह्मलीन श्री कृष्णबोधाश्रम जी का और द्वितीय चित्र ब्रह्मलीन श्री पूर्णानन्दतीर्थ जी (उड़िया बाबा) का है।

भजन

श्रीकरपात्रोपदेश

शरणागति ऐसी करो, हो करुणा भरपूर।
अन्तर बाहर न रहे, दूजापन हो दूर।।१।।
निज वर्णाश्रम धर्म को, ज्ञान भक्ति के जोर।
किंचित् कमती न करो, करो लगाकर जोर।।२।।
निष्ठुर कर्कश तर्क से, कीजै ब्रह्म विचार।
जीव ईश अरु जगत् का, दीजै मूल उखार।।३।।

(श्री जज स्वामी द्वारा)



हरि गुण जपत कमलु परगासै।
हरि सिमरत त्रास सभ नासै।।
गुर मुखि जागे गुण गियान विचार।



राम रस महंगों रे मेरे भाई।
हरि रस मीठो रे मेरे भाई।।
जाके पीये से अमर होय जाई
ओठ निभ जाए, पाप धुल जाए।
राम रस महंगो रे मेरे भाई।।



हरि हरि हरि आराधिये।
सन्त संगि हरि मनि वसै भरमु मोहु साधीए।
वेदपुराण सिमिति भने।

सम ऊंच विराजित जन सुने।
सकल असथान मै मीत चीन।
राम सेवक भै रहत कीन।
लख चौरासीह जोनि फिरहि।
गोविन्द लोक नहि जनमि मरहि।
बल बुधि सियापन हउ मै रही।
हरि साध सरणि नानक गही।



सुरता प्यारी ए, रहिए राम हजूर।
सुरता प्यारी ए, रहिए मालिक हजूर।।
पहली पेड़ी पग धरयो हे, हेली लगी गुरां जी की सेन।
दूजी पेड़ी जा चढ़ी, ए हेली प्रेम शुद्ध प्रकाश।।
ए मालिक मेरे मन बसयो, हजारी हंसो चित चढ़यो।।
सुरता प्यारी ए, रहिए राम हजूर।
तीची पेंडी जा चरती, चढ़ियो जा गढ़ गिगनार।
चौथी पेड़ी जा चढ़ी, करोड़ भवन प्रकाश।।
सुरता प्यारी ए, रहिए राम हजूर।
सुरत बेलुनी उरु देश मैं, जहाँ दिन और नहीं राहो।
शब्द गुजार हो रहा, गुण गावे मालीनाथ।।
ऐ मालिक मेरे मन वसयो, हजारी हंसो चित चढ़यो।
सुरता प्यारी ए, रहिए राम हजूर।



सब दिन खो दिये मद मेर में
मुक्ति की डगर पाती ना
तु अन्धा धंधा गुरु तेरा

अन्धो के रहे सदा अन्धेरा
शून्य शिखर में आसन मेरा, जहाँ काल भी पहुँचे देर में।
रहूँ अचल मौत खाती ना
मनी हीरे और लाल दिवाकर शशि प्रकाश करे
नहि वहाँ पर हद, वेहद से आगे वो घर
प्रकाश कहूँ क्या फेर में, वहाँ तेरी मती जाती ना।
स्वयं स्वरूप का जिनको उजारा
वो क्यों माँगे तेल उधारा
मिथ्यावादी कथन तुम्हारा
नहीं कायरता हो शेर में, पर आलसता भाती ना।
चेतन आलख अखण्ड अविनाशी
जड़ चेतन घट घट की वासी
शंक़र कह कर लयी लालासी
कहूँ उदासीन हर वेर में, वहाँ मेरी मती जाती ना।।



यह गुजरान फकीर की
हर वक्त यादगारी में।
कभी वन में कभी जा बस्ती में
हर दम मस्त रहे मस्ती में
काल से निर्भय जबरदस्ती में
रहा सोच वो बात आखीर की,
न हि दृष्टी घर वारी में।
पृथिवी सेन, कभी गर्भ निहाली
कभी महल, कभी है ढूँढवाली,
कभी दुशाले, कभी कमती काली
कभी ओढे गुदरी लोर की,

कभी पैदल असवारी में।
कभी दूध मिस्त्री नहीं भावे,
कभी रूखा रहे चने चबावे।
कभी जल पी पी वक्त बितावे,
कभी है थाली खीर की, कभी गुजरे लाचारी में।
जग प्रपञ्च से दूर रहे, सत्यवाक्य भरपूर रहे।
खुद मस्ती में चूर रहे है,
शंकर नहीं चाह अमीर की, खुद इश्क की खुमारी में।

सुबेदार रामकृष्ण तौमर पुत्र, श्री छोटे सिंह भक्त
ग्राम-मितौली, पत्रालय-मउ खास, जनपद-मेरठ



श्रीराग

गुण गावा गुण वीयरा
गुण बोली मेरी माय
गुरु मुखि सजलु गुणकारी था
मिलि सा जरत हरि गुण गाय।।
हीरे हीर मिलि बोधिया
रंगि चलूँ रे भाई।।
मेरे गोविन्दा गुण गावा,
त्रिपति मनि होइ।
अन्तरि पियास हरि नाम की।
गुरु तुसि मिलावै सोई।। (गु. ग्रन्थ सा.)



असर कर जाये दिले अन्दर, उसे तासीर कहते हैं।
समा जाय जो नजरों में, उसे तस्वीर कहते हैं।

वो तस्वीर नहीं, जो पर्दे में खिंचाई जाती है
वो तस्वीर नहीं, जो दीवार में लगाई जाती है
वो तस्वीर नहीं, जो सीसे में जड़ाई जाती है।
जो दिल के आइने में हो, उसे तस्वीर कहते हैं।
बनावे बात जो बिगड़ी, उसे तकदीर कहते हैं।
निशाने पर लगे जाकर, उसी को तीर कहते हैं।।



झिलमिल वरसे नूरा
नूर जहर सदा भरपूरा।।
रूनझुन रूनझुन अनहद बाजे।
भँवर गुजेर गगन चढ़ि गाजे।।
रिमझिम वर से मोती
भयो प्रकाश निरन्तर ज्योति।।
निरमल निरमल निरमल नामा
जहयारी तहँ किया विश्रामा।।



देवीषट्कम्

अम्ब शशिबिम्ब वदने!, कम्बुग्रीवे कठोर कुच कुम्भे।
अम्बरसमानमध्ये, शम्बररिपुवैरि देवि मां पाहि।।१।।
कुन्दमुकुलाग्रदन्तां, कुंकुमपङ्केन लिप्तकुचभाराम्।
आनीलनीलदेशां, अम्बामखिलाण्डनायकीं वन्दे।।२।।
सा-रे-गा-मा-व-ध-नि-सा तान्तां, वीणासंक्रान्त चारुहस्तां ताम्।
शान्तां मृदुलस्वान्तां कुचभरतान्तां नमामि शिवकान्ताम्।।३।।
अरटतघटितः सूयीताडिततालीक पारताटण्काम्।
विणावादनवेला कम्पित शिरसं नमामि मातङ्गीम्।।४।।

शोणा रसानुषङ्गं विकचमदामोद माधुरीभृङ्गम्।
करुणापूरतरङ्गं कलये मातङ्ग कन्यकापाङ्गाम्।।५।।
दयमानदीर्घनयनां देशिकरुपेण दर्शिताभ्युदयाम्।
वामकुचनिहित वीणां वरदां सङ्गीतमातृकां वन्दे।।६।।
माणिक्यवीणामुपलालयन्तीं मदालसां मञ्जुलवाग्विलासाम्।
माहेन्द्रनीलद्युति कोमलाङ्गीं मातङ्गकन्यां मनसा स्मरमि।।७।।



वर दे!

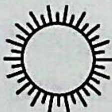
वर दे वीणा वादिनि वर दे।
प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत मन्त्र नव।
भारत में भर दे।
वरदे वीणा वादिनि वरदे।।
काट अन्ध उर के बन्धन-स्तर,
बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुष भेद तम हर प्रकाश भर,
जगमग जग कर दे।
वरदे वीणा वादिनि वर दे।।
नव गति नव लय ताल छन्द नव।
नवल कण्ठ नव जलद मन्त्र रव,
नव नभ के नव विहग-बृन्द को,
नव पर नव स्वर दे।
वरदे वीणा वादिनि वरदे।।

कवि–सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'



एक सनेही साहबा, केवल कौसल बाल।
प्रेम कनोड़ों राम सो, नहि दूसरो दयालु।
तन साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार सुजान।
आरत अधम अनाथ हित, को रघुवीर समान।
नाद निठुर समचर सिखी, सलिल सनेह न सूर।
शशि सरोग जिकर बड़े, पयद प्रेम पथ कूर।
जाको मन जासों बन्ध्यो, ताको सुखदायक सोइ।
सरल शील साहिब सदा, सीतापति सरिस न कोइ।।
सेवा सही सुनि को करै, परिहरै को दूष देखि।
केहि दिवान दिन दीन को, आदर अनुराग विशेखि।।
खग-सेवरी-पितु-मातु ज्यो, माने कपि को कियो मीत।
केवट भेंट्यो भरत ज्यों, ऐसो को कहु पतित पुनीत।।
देहि अभागहि भाग को, को राखै सरन सभीत।
वेद विदित विरुदावली, कवि कोविद गावै गीत।।
कैसेउ पाँवर पातकी, जेहि लई राम की ओर।
गाँठी बांध्यों दाम तो, परख्यो न फेरि कर खोट।
मन मलीन कलि किल विषी, होत सुनत जासु कृत काल।
सो तुलसी कियो आपुनो, रघुवीर गरीब निवाज।।





कहाँ जाऊँ, किसे छोड़ूँ, किसे ले लूँ, करूँ क्या मैं।
मैं एक लूँफा कयामत का हूँ, पर हैरत तमाशा मैं।।
मैं वातन[1] मैं [2]अयाँ [3]जेरों जवा[4] चप रास्त पेक्षो पस।
जहाँ मैं हर मकाँ मैं हर ज़मा, हूँगा सदा था मैं।

नहीं कुछ जो नहीं मैं हूँ, इधर में हूँ उधर मैं हूँ।।
मैं चाहूँ क्या, किसे ढूढूँ, सभी में ताना बाना मैं।।
वह बहरे हुस्न खूबों हूँ, हुवाव है काफ और कैलास।
उड़ा इक मौज से कतरा, बना सब मिहर आसा मैं।।
जरों नेमत मेरी किरणों में, धोखा था ख़राब ऐसा।
तजल्ली नूर है मेरा कि, राम महमद हूँ ईशा मैं।।





छूरी है यह दिल, इसको रहने दो वे खुद।
यहाँ तक कि, मिट जाय नामे जुदाई।।
पड़ा ही रहे जाते, मुतलक में वे सुध।
खबर तक न लो, है इसी में भलाई।।
तेरा मेरा का है, चीरना फाड़ना सब।
उड़े हो दुई की, मुतलक समाई।।
न गुस्सा जलाये, मुसीबत नै चोट।
मिटे सब तअल्लुक, खुदाई खुदाई।।
जिसे मान बैठाये, घर यार भाई।
वह घर से भुलाने, की थी एक फाई।।
भुला घर मझल में, घर कर लिया जब।
तो निज बादशाही, की कर दी सफाई।।
हवा के वगोलों से, जब दिल को बाँधा।
छूटी न उमीदी, की मुँह पर हवाई।।



हक के वन्दे को रहा, दुनिया में कोई काम नहीं।
कैद से छूट गया, दाना नहीं दाम नहीं।।
ख्वाहिसें सारी मिटी, रंग बे रंग चढ़ा।
बे पिये मस्त हुआ, साकी नहीं जाम नहीं।।
उस महल पर चढ़ गया, जिसका नहीं कुछ भी निशा।
दर नहीं, खिड़की नहीं, जीना नहीं, वाम नहीं।।
तब से रहकर फकत मिलता है, वो एक में ही।
सबमें रहता मगर, खास नहीं आम नहीं।।
शर पे उसके, है हुमा का साया।
है शाहंशाह मगर, मुल्क नहीं, दाम नहीं।।



संवारा है तुमने, मेरी जिन्दगी को।
मिटाया है जबसे, यहाँ से खुदी को।।
तरसता रहा जिसको, पाने की खातिर।
यहाँ पा लिया मैंने, हर इक खुशी को।।
खिली धूप रात में, करामात देखी।
अन्धेरा में पाया है, इक रोशनी को।।
मेरी ही नहीं है, है सबकी कहानी।
सुखी कर दिया, तूने दाता सभी को।।



तर्ज कौव्वाली

जिन्दगी की, उलझनों में खो गये।
दूर हम तेरी, दया से हो गये।।
आना था हमको, तेरे आँचल तले।
गोद में माया की, हम तो सो गये।।

तेरी ज्योति की, किरण जब ना मिली।
राह में अपने, अन्धेरे हो गये।।
भव की लहरों में, फँसी है जिन्दगी।
दूर हमसे सब, किनारे हो गये।।
ठोकरें ही ठोकरें, हमको मिली।
बिन तेरे हम, बेसहारे हो गये।।
दौड़ के आगे, हमें अपना ले तू।
मन वचन से, हम तुम्हारे हो गये।।





अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगहि मीठे फल को रस,
अन्तर्गत ही भावै।।
परम स्वाद सबही जु निरन्तर,
अमित तोष उपजावै।
मन वाणी कौ अगम अगोचर,
सो जाने जो पावै।।
रूप रेख गुण जाति जुगति विनु,
निरालम्ब मन चक्कृत धावै।
सब विधि अगम विचारै ताते,
सूर सगुन लीलापद गावै।।



मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिके,

चिबुक चारु चढ़ि ठठक्यो।।
सजल श्याम घन वरन लीन है,
फिरि चित तनक न भटक्यो।।
'कृष्णदास' किये प्राण निछावर,
यह तन जगसिर पटक्यों।।



समर्पण

ॐ श्री गणेशाय नमः

म्यारो नट राजा मैं, थारो रे नचाया नाचौ जाकै।
थारे घर में रहूँ निरन्तर, थारी हाट चलाऊँ।।
थारे तन से थारे जनकी, सेवा टहल बजाऊँ।।१।।
जो रंगरां कपडा पहनावे, वैसा स्लाग बनाऊँ।
जैसा मुख से बोल बुलाव, वैसी बात सुनाऊ।।२।।
सूखी सूखी जो कछु देव, थारे भोग लगाऊँ।
खीर भेज चाहे सूखे टुकड़े, बड़े प्रेम से खाऊँ।।३।।
बाँह पकड़े तो लाख कोस तक, दौड़ा-दौड़ा जाऊँ।
आसन मार बिठावे तो मैं, गोड़ी नाथ हिलाऊँ।।
जो कोई मेरा कहना न माने, तन मन खुशी मनाऊँ।
तेरे मंगल विधान में स्वामी, मैं क्यूं टांग अड़ाऊँ।।४।।
जो तू तनके रोग लगावे, सौड़ औड़ सो जाऊँ।
काल रूप वणा आवे तो मैं, लपक गोद में जाऊँ।।
उल्टी सीधी जो कुछ कहवे, मंगल सबद लखाऊँ।
थारी राजी में प्रभु जी मैं, राजी रहणा जाऊँ।।५।। (गोविन्द)



हिन्दी पद

(१)

बन्धु कि आर बलिव तोरे।
अपना खाइया पिरीत करी तु, रहिते नारिनु घरे।।
कामना करिया सागरे मारिव, ममेर साधा।
मरिया हाउब श्री नन्देर नन्दन, तोमोर करिब राधा।।
पीरिति करिया छाड़िया जाइब, रहिब कदम्ब तले।
त्रिभङ्ग हइया मुरली पूरिब, जखन जाइबे जले।।
मुरली सुनिया मुरछा हइबे, सहजे कुलेर वाला।
चन्डीदास कय तबे से जानिबे, पीरिति के मन ज्वाला।।





(२)

कै माया कै हरिगुन गाई।
दोनों से तो दोनों जाई।।
न्यास बड़ाई जगत की, कूकुर की पहिचान।
प्रीति किये मुख चाटि हैं, वैर किये तनु हान।।



(३)

भूमिका सातों रे, यूँ निरणाय कीया।
शुभ इच्छा अरू शुभ विचारणा, तनुमानसा तीन।
स्थूल शरीर अवस्था जाग्रत, लखैं सन्त परवीन।।
शुद्ध स्वरूप हराणै रे, मन को प्रतिहार कीया।।
सत्त्वापत्ति अविद्या चौथी, सुपन अवस्था जान।
आतम जग दोऊ दारया, भली विध अनुभव उदया ज्ञान।।

लहर जग जराया रे, आतम नीर थयां।।
सुखोवति अवस्था कहिये, ज्यां छूटा तन अभिमान।
असंग संगति भूमिका पँचवी, शुद्धस्वरूपी जान।।
संग चर रहित रे, निरभय पद लीयां।।
नाम-रूप-पदारथ सबकी, बुद्धि मायैं पिछाण।
छठी भूमिका तुरीये चेतन, ज्यां बुध पदारथ हाण।।
भाणा ज्यूँ चेतन रे, तिमिर नहि लेस तीयां।।
तुरीयातीत भूमिका सतवीं, चेतन शुद्ध स्वरूप।
भाव-अभाव-नहीं ज्यामांई, सोई बनानाथ अनूप।।
भूमिका कैसी रे, द्रष्टा आप जीयां।।

(४)

यह केवल सिद्धान्त हमारा, कहै वेदान्त सन्त जन सारा।।
मैं हूँ अगम अगोचर राया, आदि-अन्त-मध्य नहि काया।।
पाहन ते पुतरी क्या न्यारी, मेरी सत्ता कर सृष्टी सारी।।
पुतरी नाम कहण का होई, पाहन में पुतरी नहि कोई।
यू आतम में जग नहि पावै, आतम अचल गया नहि भावै।
हुई मिटी सोई माया निसानी, जैसे मृगतृष्णा का पानी।
कल्पित भाव अभाव कहय्या, हम द्रष्टा के ग्यान न आया।।
मेरी जाण का वार न पारा, हम जाण सदा एक सारा
बनानाथ सोई निरवाणी, द्वैता-द्वैत लगै नहीं पाणी।।



(५)

जागन मै जोयो रे, सिमरथ सत सवली।
जाणै नहि देउँला रे, जासूँ आवागमन टली।।
प्रेम पियाला सदगुरू पाया, पीवत पारख पड़ी।

अजब झरोखै आप विराजै, निरखै निरत खड़ी।।
तांती म्हारी लागी रे, तनड़ा में तार रली।
अणी अगर पर अध दलीचा, ज्यूँ झलकत चन्द्रमणी।
द्वादस ऊपर दरस्यो दिवाना, सोहं माझो सामघणी।।
वालो मोय लागे रे, जासूँ म्हारी सुरत मिली।।
गमना गाजै अनहद, बाज छतीसों साज सुरी।
वेगम वाणी विरला जाणी, जीत जित निसाता घुरी।।
धोखा नाही रे, ला दी मोय मोक्षगली।।
पूरन पाया सुन्न समाया, एकोइ एक हरी।
बनानाथ गम जाणी जुगतकर, भरमाती भीत गिरी।
झिलमिल जोत जली।।



(६)

साधो भाई सदगुरू सैन बताई।
पिण्ड ब्रह्माण्ड में खेल खेल के, अमर जगीरी पाई।।
धरता कूँ करता कर पकड्या, आप बँधा उ सामाई।
निरबन्धन निरगुन निरधारा, सन्त समझिया वांई।।
अकल कला ओ लख्यो अविनाशी, आवा गव्न न आई।
समता सहज मिल्यो सरबंगी, हंस रहा थिर थाई।।
बनानाथ अधर कियो भासन, कबहूँ चाल न खाई।



(७)

साधो भाई अविगत भेद हमारा।
सबसूँ साम निरन्तर निरख्या, नित निरगुण निरकारा।।

तीन लोक जम जाल पसारा, चौदै लोक सुं न्यारा।।
हंसा चोंच पाँख विनु देख्या, जाणो जानन हारा।।
होय चेतन चला बेहद कूँ, पिण्ड ब्रह्माण्ड कै पारा।
सुरत निरत की लगी चिरागां, दरस्या देव अपारा।।
सायब एक सकल में व्यापक, जड़ चेतन एक सारा।
कर सो जी परस्या वो पीतम, धोखा नहीं गिलारा।।
गुरू लिखा सुँ आगम सूझै, गुरु मुख लेइ विचारा।
बनानाथ अनुभव कही वाणी, प्रेम मगन मुतवारा।।



(८)

सतगुरू सत समझायिया, सत-चित आनन्द अपार।।
आसत गही तजी ना सती, लिया सतो गुण सार।
रज तम दोऊ सम किया, प्रकटा ज्ञान विचार।।
सत गुण तै निरगुण लख्या, सो निरगुण सब पार।
वाई ते सब जग चलै, शुभ-अशुभ व्यवहार।।
सब मैं साखी एक सा, ज्यूं नीर विरक्ष के साथ।
पानी में लादै नहीं, बीज वृक्ष अरू पात।।
शुभ-अशुभ लो नहीं, कोई जीतन हार।
बनानाथ निश्चै लखा, टूटा विष हंकार।।



(९)

परमानन्द प्रकाश का, आनन्द कहा न जाय।।
विसवैं भासै ब्रह्म तैं, ज्यूं वृच्छ नीर तैं होय।
उलटा देखा तोय में, जहाँ वृक्ष नहि कोय।।
तरूवर ज्यूँ माया सवै, या मैं निरगुण जान।

पानी ज्यों चेतन सदा, निरविकार निरवान।।
सोहं शुद्ध स्वरूप है, ज्जां माया की हाण।
वां सम्पद निरपद कहाँ, यूँ कहे वेद पुराण।।
चेतन मैं हूँ तूँ न वही, ज्ञेय ज्ञाता नहि जान।
बनानाथ निर्भेद है, सर्वातीत विज्ञान।।



(१०)

इन पंथ सन्त अनेक उधरिया, सत गुरू साख कहेलो।
सिमर्‌या संत पार पहुँचा, विन सिमरयाँ डूबैलो।।
हरदम तार लगी घट भीतर, नाभि सौ निगे करेलौ।
उलटा भानु पिछम जाय उगा, झिलमिल जोत जगेलो।।
त्रिवेणी जाय हंस विराजे, हीरा चूण चुगेलो।
मिट गई त्रास परम सुख पायो, जुग-जुग राज करेलो।।
उपजा आनन्द गगमन जाय गाज्या, अनहद नाद घुरेलो।
पीवत प्रेम विसर गई काया, जीव पीव मिलरेलो।।
जीया राम मिला गुरू पूरा, सुन विच वास वसेलो।
कहैं बनानाथ सुनो भाइ साधो, जग सोरै ताहूँ अकेलो।।



(११)

प्यारी सजि सोले सिंगार, शीलसुध सुन्दरी।
चली चेलन की चाल, वाणी मुख सुन्दरी।।
अजब झरोखे आय, अधर आसन किया।
धरणी गगन विन धाम, परख परसी पिया।।
सदा पीव रहे संग, रहत रंग रचईं।
गरज रही गुरू ज्ञान, मान मिल मई।।

अमर पिया उण देश, अर्थ बर लीजिये।
बनानाथ इन वाण, ब्रह्म रस पीजिये।।



साखी-१२

सब जग जलता देखिया, अपनी अपनी आग।
ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लाग।। (कबीर साखी)



उर्दू-फारसी के पद-१३

यार को हमने जांवजा देखा।
कहीं वन्दाः कहीं खुदा देखा।।
सूरते गुलमे खिल-खिल के हँसा।
सकले बुलबुल में चहचहा देखा।
कहीं है बादशाहे तख्ते नशीं।
कहीं कासा लीये गदा देखा।।
कहीं आँबद[1] बना कहीं जावेंद[2]।
कहीं रिन्दो[3] का पेशवा[4] देखा
करके दावा कहीं अनल हक का।
वर सरेदार[5] वह खिचा देखा।।
देखता आप है सुने है आप।
न कोई आपसे मासवा[6] देखा।।





---

१. पुजारी। २. शुद्ध। ३. मत्त। ४. नेता। ५. सूली। ६. भिन्न।

(१४)

दिल को जब गैर से सफा देखा।
आपको अपना दिलेरूवां[1] देखा।।
पी लिया जाम वादः ए वहदत[2]।
ख्वेशं[3] ओ वेगाना आशंना[4] देखा।।
जिसने जात अपनी को जाना।
आप हक[5] से कब जुदा देखा।।
रमजे[6] रहवर को अपने जब समझा।
न कोई गैर व मासवा देखा।।
करके बाजार गरम कसंरत[7] का।
आपको अपने में छुपा देखा।।
गैर का नाम[8] गरचि है मशहूर।
न निशां इश्म उसका न पता देखा।।



(१५)

वागे जहाँ के गुल हैं, या खार हैं तो हम हैं।
गर यार है तो हम हैं, अग्रयार है तो हम हैं।।
दरियाये मारफत[9] के देखा तो हम है साहिलं[10]।
गर वार हैं तो हम हैं, रव वार हैं तो हम हैं।।
बावंस्त[11] हैं हमी से, गर जब्र है वगर कंदर[12]।
मजबूर है तो हम हैं, मुखतार हैं तो हम हैं।।
तेरा ही हुस्न जग में, हरचन्द मौमंजन[13] हैं।
तिस पर भी तेरे तिसंनः[14], ए दीदार हैं तो हम हैं।।

---

१. प्रिय। २. एकता मद्द। ३. अपना। ४. मित्र। ५. स्वरूप। ६. गरा उपदेश। ७. नानात्व। ८. शत्रु। ९. आत्मज्ञान। १०. तट। ११. बँधा। १२. अधिकार। १३. तरंग। १४. दर्शक।

फैला के दामे उलफत,[1] घिरते घिराते हम हैं।
गर शैद हैं तो हम हैं, शैय्यांद[2] हैं तो हम हैं।।



(१६)

मुझको देखो मैं क्या हूँ, तन तनहा आया हूँ।
मतला[3] ऐ नूरे खुदा हूँ, तन तनहा आया हूँ।
मुझको आशंक कहो, माशूक कहो, इश्क कहो।
जा बजा जल्वा[4] नुमा हूँ, तन तनहा आया हूँ।।
मैं ही मसजूदो मलायक[5] हूँ, व शकले आदम।
मजहरे खास[6] खुदा हूँ, तन तनहा.....।।
ला मखां अपना मकां है सो तमाशा के लिये।
मैं तो परदे में छुपा हूँ, तन तनहा.....।।
हूँ भी हाँ भी अनहलक है, यह भी मज्जल अपनी।
शम्शे ईफाँ[7] की जिया हूँ, तन तनहा....।।
आप ही आप में छुपा हूँ, किसे ढूँढू किसे पाऊँ।
मै ही सब में हूँ सब हूँ, तन तनहा....।।



(१७)

शर्मारू[8] जल्वा[9] कु नाथा, मुझे मालूम न था।
साफ पर्दे में अयाँ[10] था, मुझे मालूम न था।।
गुल में, बुलबुले में, हर इक शाख में, हर पत्ते में।
जा बजा उसका निशां था, मुझे मालूम न था।।

---

१. मोहजाल। २. शिकारी। ३. स्थान। ४. प्रकट। ५. देवपूज्य। ६. ईश-प्रकाशक। ७. ज्ञानरवि। ८. दीपक। ९. प्रकाश। १०. पकट।

एक मुद्दत दैहरो[1] हरम[2] में ढूँढ़ा नाहक।
वह दर कबल[3] निहां था, मुझे मालूम न था।।
सच तो यह है कि सिवा यार के जो कुछ था हयात्[4]।
बहम था शक था गुमां[5] था मुझे मालूम न था।।
है गलत[6] हस्ति ये ए मौहूम को जो समझे थे।
हर वतन अपना जहाँ था, मुझे मालूम न था।।



(१८)

मैं हस्ती[7] सब अशयां[8] की हूँ,
मैं जान मलायक[9] कुल की हूँ
मुझबिन बेबद कहाते हैं, हिप हिप हुर्रे २।।



(१९)

मंजूर ना लायक को होता है इलाजे दर्दे इश्क।
जब इश्क ही माशूक हो, क्या सिहत में बिमार है।।
मंसूर से पूछी किसी ने, कूचाये जाना की राह।
खुब साफ दिल में राह, बतलाती जुबाने दार है।।
पल्ला छुटा इस जिस्म से, टली अपने बला।
वैलकम ऐलेगे खूचकां क्या, मर्ग लज्जतदार है।।

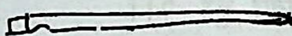


---

१. मंदिर। २. मस्जिद। ३. हृदय। ४. जीवित। ५. भ्रम। ६. कल्पित। ७. सत्ता। ८. वस्तु।
९. देव। १०. असत्।

(२०)

हर गुल्मे रंग हर का, जलवा दिखा रहा है।
तालिव को इश्क का, फन बुलबुल सिखा रहा है।।
सीमा व बेकरारी, बादल की अश्क वारी।
परवाना जां निसारी, हर को जता रहा है।।
नरगिस ने आँख बनकर, देखा उसे नजर पर।
हर वर्ग वर में जौहर, हर का समा रहा है।।
होवे जो इश्क कामिल, हरजाः वो तेरे शामिल।
आमिल से जल्द जामिल, क्यों दिल दुखा रहा है।।
हर अंजुमन में, तन में, बन-बन में, अपने मन में।
दिलवर ही हर चमन में, वंशी बजा रहा है।।

(२१)

जो तूं है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो तू है।
न कुछ आरजू है, न कुछ .जुस्तजू है।।
वसा राम मुझमें, मैं अब राम में हूँ।
न इक है न दो है, सदा तू ही तू है।।
खुली है ये ग्रन्थी, मिटी है अविद्या।
सदा राम अब, बस रहा चार सू है।।
उठा जब कि माया का, परदा यह सारा।
किया गम खुशी ने भी, हमसे किनारा।।
जबान को न ताकत, न मन को रसाई।
मिली मुझको अब, अपनी ही बादशाही।।

(२२)

अन्धा पूछे आफताब को रे,
उसे किस मिसाल बतलाइये जी।
वा नूर समान नहीं औरे,
कौने तफसील सुनाइये जी।।
सब अन्धेरे मिल दलील करे,
विन दीदा दीदार न पाइये जी।
यारी अन्दर यकीन विना,
इलम से क्या बतलाइये जी।।



(२३)

याको भेद विचारो साधो, कौन पुरुष कौन नारी है।
मूलद्वार में बसे गणेशा, मूसा की असवारी है।।
ब्रह्मा स्वादिस्थान में बैठे, हंस निजी असवारी है।
दोनों के बिच शक्ति कुंडली, सबके संगिनि नारी है।।
नाभि कमल में विष्णु विराजे, गरूड़ रहत असवारी है।
हृदय कमल में शिव कल्याणी, जिनकी वृषभ सवारी है।।
कण्ठस्थान में सदाशिव सबके, सबमें सम उपकारी है।
भौहों बीज आज्ञाचक्कर में , ज्ञानदेव गुरूभारी है।।
दसवां द्वार शिखर पर सबके, पहुँचे कोई अधिकारी है।
सब में एक अलख की माया, न कोई नर न नारी है।।

हिन्दी छन्द-२४

३-ललित

बोलनि चलनि विलोकिबो, चलनि मनोहर रूप।

२-लीला

करत जहाँ लीलानि को प्रीतम प्रिया वाइ।



हिन्दी पद-२५

हाव (रसिक प्रिया)-(कवि केशव)

हेला[१] लीला[२] ललित[३] मद[४], विभ्रम[५] विहृत[६] विलास[७]।
किलकिंचित्[८] विच्छिति[९] कहि, अरु वित्वोक[१०] प्रकाश।।
मोट्टायित[११] सुनि कुट्टमित[१२], बोधकादि[१३] बहु हाव।
पूरण प्रेम प्रताप तें, भूलत लाज समाज।
सो हेला जेहि हरत हिय, राधाश्री व्रजराज।।



श्रीराधा जी का पद-२६

अवलोकनि अंकुश ऐंचि अनूपम।
भ्रू यग पास भले गल भेली।
मृदुहास सुवास उठाइ मिली,
वह जान्ह की जामि माँझ अकेली।।
अधरामृत प्याय किये बस 'केशव;
राय' करी रस रीति नवेली।
वन में वृषभानु सुता सुख हीं,
हरि के हरि लै गई हेलहि हेली।।



श्रीकृष्ण जी का पद- २७

वेनु सुनाइ बुलाइ लई वन,
भौन बुलाइ के भाँति भली को।
फूलि गयो मन फूल्यो विलोकत,
केसव कानन रास थली को।।
अधरा रस प्याय कियो परिरम्भन,
चुम्बन कै मुख काम कली को।
हैलहि श्री वृजनागर आजु,
हर्‌यो मन श्री वृजभानु लली को।।



हिन्दी पद- २८

रगण जगण षट् वर्णमय,
सो शंकर जगबन्द।।
वात तात मानि। चित्तमाझि आनि।
एक राम सत्य। दूसरो असत्य।। (केशव कवि)



(२९)

चिन्मयी चिन्त्यपूर्णी चेतना सबमें समायी है।
मेरा उद्धार करने को मेरी नगरी में आयी है।।
पन्दरह दो सहस सम्वत् माघ सुदी आठ दिन अन्दर।
कुरालसी मुदफुरण प्रान्ते छटा सतयुग की छाई है।
मेरी नगरी में.....।
सबों में भाव शुभ जागा कटुक रस कली निकल भागा।
सहस चन्डी रची सब ने मची तेरी दुहाइ है।।
मेरी नगरी में.....।

आचार्य रामकृष्ण आये अट्ठावन रित्विजों में जो।
वेद विधि वेद मन्त्रों से प्रतिष्ठा शुभ करायी है।
मेरी नगरी.....में।

प्रबन्धक भूमानन्द तीरथ सहायक रामाश्रम स्वामी।
अन्य यति साधु वृन्दों ने तेरी महिमा बढ़ाई है।।
मेरी नगरी में.....।

जगद्गुरू कृष्णबोधाश्रम श्रीकरपात्री धरम पालक।
पधारे धरम पालन अरु तेरी भक्ति बताई है।
मेरी नगरी में.....।

किया आह्वान मा तेरा विशम्बर वैश्य ने पहले।
दिया वरदान भक्ति का जगत् से मुक्ति पाई है।
मेरी नगरी.....।

मेरा है लक्ष्य मा ईश्वर तेरा आश्रम है ये नगरी।
रहे सम्बन्ध ये मेरा दुहाई है दुहाई है।
मेरा उद्धार करने को मेरी नगरी में आई है।



सूर के पद-३०

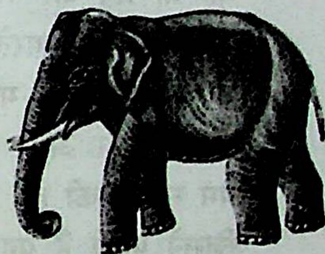
मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्याम सुन्दर के टाढ़े क्यों न जरे।
सखा स्याम अरु वन के पखेरु धिग्-धिग् सबन करे।
मोहन वेनु बजावत द्रुमतर सारंग टेक खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम मुनिजन ध्यान टरे।।
वह चितवन तू मन न धरत है फिर-फिर पुहुप धरे।
सूर श्याम प्रभु विरह दावानल नखसिख लौं पसरे।।



हिन्दी पद-३१

भक्तों की लाज रखने भगवान बन के आये।
मेरे अजान मन में ज्ञान तुम प्राण बनके आये।।
दुखियारी द्रोपदी का जब चीर खिच रहा था।
उसकी पुकार सुनके परिधान बन के आये।।
निर्वल गजराज आया जब ग्राह के पकड़ में।
उसके पुकारने पर नभयान बन के आये।।
धकाया उस पिता ने प्रहलाद भक्त को जब।
नरसिंह होके भक्तों की शान बन के आये।।
संसार सिन्धु में पड़कर वहते सदैव प्राणी।
करके कृपा दुःखियों पर जलयान बन के आये।
भक्तों की लाज रखने भगवान् बन के आये।।





(३२)

तेरे चरणों में जननी भावना के फूल लाया हूँ।
वरद कर शीश पर रख दे कलेशों का सताया हूँ।।
महावाणी महालक्ष्मी महाकाली तू ही माता।
तेरी महिमा ये जग सारा मैं अब ये जान पाया हूँ।।
चौरासी लाख में भटका न मिटता मौत का खटका।
ये नर तन बीच में अटका किनारा पाने आया हूँ।।

तेरे दरबार में आकर निराशा जन नहीं जावे।
न माता से निकट नाता सुनाने रोने आया हूँ।।
सताया काम-क्रोधों का भुलाया माया मोहों में।
तेरा ही सुख शैय्या ये आशा लेके आया हूँ।।



(३३)

श्री हरिः

कहे राधा अरी ललिता, सुना है क्या सखी तू ने
हमारी विरहा नगरी में, लुटेरा कोई आया है।
कहो उनसे वहाँ जाकर, कहीं वो खुद ही न लुट जाये।
जो पहले (खुद) लुट चुकी है, उनसे क्या लेने को आया है।
यह तो प्रेम की नगरी है ऊधो, योगियों की बस्ती नहीं है।
यहाँ ज्ञानी भी भरते हैं यह जगह इतनी सस्ती नहीं है।
जब से छलिया हो मन में समाया, इसकी मस्ती में यह मन रंगा है।
प्रेम रंग पर अगर रंग दूजा, चढ़ गया तो मस्ती नहीं है।
प्रेम मदिरा की हम हैं दीवानी, तुम सँभल करके उपदेश करना।
जिसने पीली है यह जाम भरकर, जिन्दगी भर उतरती नहीं है।
आसुओं के न धोखे में रहना, यह निशानी है उसकी दया की।
क्या तू हमको तो उससे छुड़ाले, दुनियाँ की कोई हस्ती नहीं है।
यह तो प्रेम की नगरी है ऊधो, योगियों की बस्ती नहीं है।।



(३४)

करो प्रभु से प्यार अमृत बरसेगा।
मन का करो सुधार अमृत बरसेगा।।

दया धरम से साथ कर ले, भवसागर से पार उतर ले।
हो जाये बेड़ा पार अमृत बरसेगा। करो प्रभु.....।।
सत्य ज्ञान का पहनो गहना, कड़वा बोल कभी न कहना।
कर आतम उद्धार, अमृत बरसेगा।। करो प्रभु......।।
प्रेम राम से जो नहि करता, पड़ा नरक में वो ही सड़ता।
लातन दे संसार, अमृत बरसेगा। करो प्रभु........।।
नाम प्रभु का अमृत प्याला, पी ले भर किस्मत वाला।
मिले न बारम्बार, अमृत बरसेगा। करो प्रभु......।।



चिन्ता तो हरि नाम की और न चिन्तादास
जो कहु चिन्ता राम बिन सोई काल की पास।
पीछे लगा जाये था, लोक वेद के साथि
आगे से गुरु मिल्या दीपक दिया हाथि।।



वेद की पूजा करेंगे वेद को मानेंगे हम
साथ में संसार के सद्ग्रन्थ को जानेंगे हम
जिन्दगी क्षण भर की है क्या है कहाँ से आई है
और कहाँ तक जायेगी, इसको भी पहचानेंगे हम।
वह गुरु जो हर सके तम, मिल सके तो क्या मजा
वरना इस संसार में रहकर के पानी है सजा
और मिले सद्बुद्धि सबको, व्रत यही ठानेंगे हम।
मंत्र केवल शब्द है शब्दों में है ओंकार भी
बिन गुरु के शब्द तक होता नहीं स्वीकार भी
ज्ञान की जड़ता मिटे पहचान लें शब्दों को हम
इसलिए मंत्रों को अपना देरता मानेंगे हम।

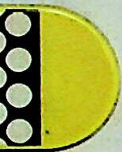
चल रहा आनन्द का उत्सव प्रकृति की गोंद में
और मानव रो रहा रहकर प्रकृति की गोंद में
बन्द दरवाजे खुलें, जागृत रहें, उन्मुख बनें
उस परम से सम्मिलन का मार्ग पहचानेंगे हम।
हर घड़ी बेचैन मानव तप्त है निज ताप से
दर्द के अम्बार में उलझा है अपने आप से
मुक्ति दाता कौन होगा खोजना हमको ही है
पथ सुलभता को जटिलता दूर कर डालेंगे हम।
धर्म तो बस एक बाकी मार्ग हैं सब धर्म के
जग के सारे ग्रन्थ तो संकते हैं बस कर्म के
यह चुनो या वह चुनो जो भी चुनो सब ठीक है
द्वेष ईर्ष्या बस सतह पर है, मिटा डालेंगे हम।
हम हैं हिन्दू वो मुसलमां और कोई कुछ और है
ये है मन्दिर वो है मस्जिद और कहीं कुछ और है
वेदना, कुण्ठा, घृणा का प्यार का क्या धर्म है?
विषवपन कर्ता को जन्म का रिपु सदा मानेंगे हम।



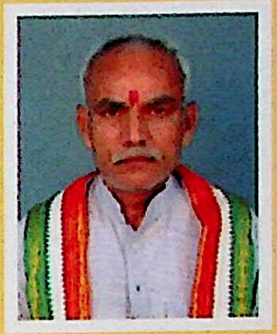


मन मोहक बाल श्रीकृष्ण

॥卐॥ ॐ ॥卐॥







।।श्री गणपतये नमः।।

यह ग्रन्थ उपनिषद्-योग-सांख्य-न्याय-वेदान्त-साहित्य-नाट्यशास्त्र-पुराण-स्मृति ग्रन्थों एवं अन्य विविध ग्रन्थों के तत्त्वों के मौलिक तात्पर्य को अभिव्यक्त करता है। वर्तमान काल में हमारे सामान्य भारतीयजन अपने पूर्वजों के आर्ष अर्जित-चिन्तित और संरक्षित उन अमूल्य ज्ञान-विज्ञान से अनभिज्ञ होते जा रहे हैं, उन्हें उन आत्म-परमात्म विज्ञान के साथ सम्मुखीकरण के उद्देश्य से ही मैंने भगवान शिव की प्रेरणास्रोत मणिप्रभा टीका लिखी है। आशा है आप श्रद्धालु भक्त-साधकजन इससे अवगत होकर और अनुसरण कर इस भारतीय आर्य सनातन संस्कृति-धर्म और ज्ञान-विज्ञान की संरक्षा में अपना अमूल्य योगदान प्रस्तुत करेंगे तथा ग्रन्थ में मानवीय स्वाभाविक भूलों से अवगत कराकर हमें उत्साहित करेंगे।

।।ॐ श्री शिवार्पणमस्तु ॐ।।

भद्र नारायण पाठकः
प्रधानाचार्यः
श्रीमहावीर पाठक संस्कृत महाविद्यालयस्य
असवारी-राजातालाब, वाराणस्याम्।
मो. ९४१५९९७२८१



सम्पर्क सूत्र

पवन कुमार

498/28 साउथ सिविल लाइन,
मुज्जफरनगर, उत्तर प्रदेश

पिनकोड - 251001

फोन नं. : 09359984709

काशी मुमुक्षु भवन सभा, विट्ठौ चौक
अस्सी, वाराणसी

फोन नं. : 09359984709